TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_178471
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H88/Ch55B. Accession No. H 282

Author चौहान, रामगोपाल सिंह

Title श्रीमद्भगवद्गीता

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारतेन्दु साहित्य

श्री रामगोपाल सिंह चौहान एम० ए०
आगरा कालिज, आगरा ।

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टैण्ड,) हैदराबाद द.

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हास्पिटल रोड, आगरा ।

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

[सर्वाधिकार सुरक्षित है]
प्रथम संस्करण मई—१९५७
मूल्य ६॥)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

वक्तव्य

भारतेन्दु साहित्य पर मेरी यह पुस्तक आपके सामने है। यह पुस्तक जनवरी सन् १९५४ में ही लिखकर तैयार होगई थी, पर अनेक कारणों से प्रकाशित अब हो सकी है।

मैंने इसमें भारतेन्दु के समस्त उपलब्ध साहित्य—नाटक, निबन्ध, गद्य-गीत, कविता आदि पर विभिन्न पहलुओं से विस्तृत अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया है।

भारतेन्दु साहित्य का अध्ययन करते समय मुझे यह अनुभव हुआ कि अभी भारतेन्दु साहित्य पर और खोज होने की आवश्यकता है। उनके नाटकों और निबन्धों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं; और निबंधों का तो अभी तक कोई ऐसा संग्रह भी नहीं प्रकाशित हुआ, जिसमें उनके समस्त निबन्धों का संकलन किया गया हो। डा० केसरीनारायण शुक्ल द्वारा संग्रहीत 'भारतेन्दु के निबन्ध' नामक भारतेन्दु के निबन्धों की पुस्तक में अभी कई निबन्धों की कमी है, जिनका अन्य विद्वानों ने उल्लेख किया है—जैसे 'नाटक' लेख जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है और बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा संग्रहीत नाटकों के संग्रह के अन्त में दिया भी गया है, तथा 'अद्भुत स्वप्न' जिसका उल्लेख डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' में किया है, आदि। तथा इसमें कई लेख ऐसे संग्रहीत हैं, जिनका अन्यत्र कुछ विद्वानों ने उल्लेख किया है, कुछ ने नहीं किया है। एक राधाचरण गोस्वामी का लेख 'स्त्री सेवा पद्धति' भारतेन्दु के नाम पर संग्रहीत कर दिया गया है। यह लेख 'हिन्दी प्रदीप' में राधाचरण गोस्वामी के नाम से प्रकाशित हुआ था।*

अस्तु भारतेन्दु के समस्त निबन्धों की खोज करके, एक प्रामाणिक संग्रह प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार उनके कई नाटकों के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है

---

* १८७९ जन० हिन्दी प्रदीप—पृ० ३–६.

और कुछ नाटक अभी तक अप्राप्य भी हैं। उनकी प्रामाणिक खोज और संग्रह की भी आवश्यकता है।

वास्तव में यह बड़े खेद का विषय है कि जिस महान विभूति ने साहित्य को युगान्तरकारी देन दी, और जिसके नाम पर आधुनिक युग के प्रथम चरण का नामकरण हुआ, उसके ही साहित्य पर अभी तक मतभेद हैं और उसका सारा साहित्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यकारों का एक मण्डल इस कार्य को सुचारु रूप से करे और उनके तथा उनके युग के साहित्य का प्रामाणिक संग्रह और अध्ययन प्रस्तुत करे। मैंने प्रस्तुत विवेचन में उनके साहित्य में कहाँ और किस प्रकार की खोज की आवश्यकता है और कहाँ कैसा मतभेद हैं, इस पर यथास्थान प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

भारतेन्दु का इस समय तक जो साहित्य उपलब्ध है, और उस पर विभिन्न विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उस सब सामग्री का सम्यक् उपयोग और विश्लेषण करते हुए मैंने उनके साहित्य के अध्ययन की एक निष्पक्ष भूमिका प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और अनेक मतों के विभेदों का तर्कयुक्त विवेचन करके एक स्पष्ट दृष्टिकोण का निर्देश किया है।

प्रस्तुत विवेचन में मैं भारतेन्दु के सारे साहित्य पर समान सन्तुलन रख सका हूँ, यह नहीं कह सकता। मेरी ओर से भरसक कोशिश यही रही है कि उनके साहित्य के सभी अङ्गों का यथासंभव संतुलित विवेचन पाठकों को प्राप्त हो जाय। फिर भी इस पुस्तक में कोई कमी नहीं रह गई होगी, ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

इस पुस्तक में मैंने भारतेन्दु साहित्य पर इस समय तक प्रकाशित प्रायः सारी पुस्तकों का सहारा लिया है और यत्र-तत्र उनका उपयोग भी किया है। मैंने यथा स्थान फुट नोट के रूप में तथा परिशिष्ट में दी गई सहायक पुस्तकों की सूची में उनका उल्लेख कर दिया है। मैं उनके विद्वान लेखकों का आभारी हूँ, तथा अपने मित्रों का भी, जिनके सहयोग से यह पुस्तक लिखी जाकर प्रकाश में आ सकी।

१ ली, मई, १९५७
आगरा।

रामगोपालसिंह चौहान

अनुक्रम

भाग—१

प्रवेश

१—जीवनी ... १
२—पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ ... १५

भाग—२

गद्य-खण्ड

नाटक

१—पूर्वकालीन हिन्दी नाट्य साहित्य ... ३७
२—अनुवादित तथा मौलिक नाटक ... ४१
३—युग-यथार्थ और उनका दृष्टिकोण ... ४५
४—वस्तुचयन और वस्तु विन्यास ... ५३
५—चरित्र-चित्रण ... ६३
६—संवाद और भाषा-प्रवाह ... ७१
७—हास्य और व्यंग ... ७७
८—नाटक में गीतों का स्थान ... ८५
९—अभिनय तत्व ... ८९
१०—नाट्यकला ... ९५
११—अनुवादित नाटकों में मौलिकता ... १०१
१२—तत्कालीन तथा परवर्ती नाट्य साहित्य में भारतेन्दु का स्थान ... १०४

नाटक परिशिष्ट :—

मौलिक नाटकों का विवेचन

१—विद्या सुन्दर ... १११
२—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ... ११५
३—प्रेम जोगिनी ... १२०

४—विषस्य विषमौषधम् १२३
५—सत्य हरिश्चन्द्र १२६
६—श्री चन्द्रावली १३३
७—भारत दुर्दशा १४३
८—भारत जननी १५१
९—नीलदेवी १५४
१०—अन्धेर नगरी १५८
११—सती प्रताप १६३

अनुवादित नाटकों का विवेचन

१—रत्नावली १६५
२—पाखंड विडम्बन १६६
३—धनंजय विजय १६८
४—मुद्रा राक्षस १७१
५—कर्पूरमंजरी १७६
६—दुर्लभ बन्धु १८२

भाग—३

निबन्ध तथा अन्य रचनाएँ एवं पत्र-पत्रिकाएँ

१—निबन्ध १९१
२—निबन्धों की भाषा शैली १९६
३—ऐतिहासिक निबन्ध २०१
४—सांस्कृतिक निबन्ध २०५
५—यात्रा सम्बन्धी निबन्ध २१२
६—हास्य और व्यंग पूर्ण निबन्ध २१७
७—जीवन चरितात्मक निबन्ध २२६
८—साहित्यिक निबन्ध २२९
९—विविध निबन्ध २३३
१०—उपन्यास २३७
११—गद्यगीत २४०
१२—पत्र-पत्रिकाएँ २४६

भाग—४

काव्य-खण्ड

१—प्रकृति चित्रण	२५३
२—गीति काव्य	२६४
३—भक्ति काव्य	२६७
४—प्रेम काव्य	२७५
५—विरह काव्य	२८१
६—राष्ट्रीय काव्य	२८९
७—हास्य और व्यंग काव्य	३०४
८—काव्य कला	३१४
९—परिशिष्ट	३३५

—::०::—

भाग-१

प्रवेश

जीवनी

—※—

प्रातः कालीन सूर्य की किरणें गंगा के निर्मल जल से मुख-प्रक्षालन कर जागरण का सन्देश लिए अपने दैनन्दिन कर्तव्य के लिए तत्पर हो रही थीं। काशी नगरी की अट्टालिकाओं में, साधारण घरों में, बीथियों और राजमार्गों में सर्वत्र जागरण का कोलाहल भर उठा था। गंगा के घाटों पर मन्त्रोच्चारण और हरिनाम की ध्वनि गूंज रही थी। प्रसिद्ध विश्वनाथ के मन्दिर में तथा नगर के अन्य मन्दिरों में कल्याणकारी शिवशम्भू की स्तुति गूँज रही थी और घन्टों की गजर मन्दिरों के गुम्बजों को पार कर अनन्त में व्याप्त हो भक्तों के हृदय की भावनाओं को अनादि, अनन्त में व्याप्त कर रही थीं। सब ओर जागरण के चिन्ह दीख रहे थे। उस जागरण की बेला में हिन्दी साहित्य के पुनर्जागरण के अग्रदूत भारतेन्दु का जन्म हुआ। जागरण की किरणें और प्रखर हो उठीं।

\+ \+ \+ \+

भारतेन्दु बाबू का जन्म शु० ५ ऋषि पंचमी सं० १९०७—९ सितम्बर १८५० ई०—को सोमवार के दिन, प्रातः बेला में काशी के शिवाला मोहल्ले में अपने नाना के घर हुआ था।

भारतेन्दु के पिता का नाम 'कविकुल कमल' श्री गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' था और माता का नाम श्रीमती पार्वतीदेवी। 'गिरधरदासजी' स्वयं अपने समय के प्रतिभाशाली कवि थे, और हिन्दी, उर्दू संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने छोटे बड़े मिलाकर चालीस ग्रन्थों की रचना की थी। भारतेन्दु को काव्यकला, नाट्यकला, सहृदयता, दानशीलता, भक्ति आदि के संस्कार उन्हीं से प्राप्त हुए थे। इस प्रकार जन्म से ही भारतेन्दु को अपने घर में ऐसा अनुकूल साहित्यिक वातावरण मिला, कि उनकी प्रतिभा को अंकुरित और विक-

सिन होने में, कहीं किसी कठिनाई या बाधा का सामना नहीं करना पड़ा। भारतेन्दु ने अपने पिता के सम्बन्ध में एक छप्पय लिखा है—

"रामायन भागवत गरग संहिता कथामृत।
भाषा करि करि रचे बहुत हरि चरित सुभाषित।
दान मान कर साधु भक्त मन मोद बढ़ायो।
सब कुल देवन मेटि एक हरि पंथ दृढ़ायो।
लक्षावधि ग्रन्थन निरमये श्रीवल्लभ विश्वास भट।
गिरिधरनदास कवि कुल कमल, वैश्य भूषन प्रगट॥"

× × ×

भारतेन्दु एक सुसंस्कृत और उच्च घराने के थे। आप के पूर्वज सेठ अमीचंद तो एक ऐतिहासिक पुरुष हो गये हैं, जो नवाब सिराजुद्दौला के समकालीन थे। उस समय की राजनैतिक उथल-पुथल में उनका महत्वपूर्ण हाथ था। वे उस समय देश के प्रसिद्ध सेठ थे, और जगत सेठ' कहलाते थे। अंग्रेजों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। नवाब सिराजुद्दौला और अंग्रेजों के बीच वे राजनीतिक और आर्थिक कड़ी थे। उन्होंने नवाब को हराने में अंग्रेजों की बड़ी सहायता की थी, पर अंग्रेजों ने उनके साथ विश्वासघात किया और उनका सारा परिवार तबाह होगया। इस आघात से ही थोड़े दिन पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई।

उनके दस पुत्रों में से, एकमात्र जीवित पुत्र, श्री फतहचन्द इस दुर्घटना के बाद काशी आकर बस गए और तब से यह वंश काशी वासी हो गया। फतहचन्द के एक मात्र पुत्र थे, श्री हर्षचन्द। वे अपने पीछे काफी सम्पत्ति छोड़ कर मरे। हर्षचन्द की तीसरी पत्नी की कोख से भारतेन्दु के पिता श्री गोपालचन्द का जन्म हुआ था।

'उत्तरार्ध भक्त माल' में भारतेन्दु ने अपने वंश का वर्णन इस प्रकार किया है—

"वैश्य अग्रकुल में प्रगट बालकृष्ण कुल पाल।
ता सुन गिरिधर-चरन-रत कर गिरधारी लाल॥
अमीचन्द तिनके तनय फतेचन्द वा नन्द।
हरखचन्द जिनके भए निज कुल सागर चन्द॥
श्री गिरिधर गुरु सेइ कै कर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब हरिपद भक्त दृढ़ाइ॥

तिनके सुत गोपाल - ससि प्रगटित गिरधर दास ।
कठिन करम गति-मेटि जिन कीनी भक्ति प्रकास ॥
मेटि देव - देवी सकल छोड़ि कठिन कुल रीति ।
थाप्यो घर में प्रेम जिन प्रगटि कृष्ण-पद प्रीति ॥
पारवती की कूख सों तिनसों प्रगट अमन्द ।
गोकुलचन्द्राग्रज भयो भक्त दास हरिचन्द ॥"

× × ×

जब भारतेन्दु पाँच वर्ष के थे, उसी समय उन्हें माता की स्नेहमयी गोद से वंचित होना पड़ा ; और विमाता के स्नेह-विहीन आश्रय में बचपन व्यतीत करना पड़ा । जब दस वर्ष के थे, तब उन्हें पिता का विछोह भी सहन करना पड़ा । उस कच्ची उमर में ही उन्हें संसार के बीच अपना मार्ग बनाने के लिए कटिबद्ध होना पड़ा, जिसके कारण थोड़ी सी आयु में ही उन्हें संसार का अपार अनुभव हो गया और एक ऐसे व्यापार कुशल तथा प्रतिभाशाली मनुष्य के रूप में उनके चरित्र का विकास हुआ, जो मार्ग के समस्त झाड़-झंखाड़ों और अवरोधों को पार करता हुआ अकेला ही अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है और एक लोक बना जाता है ।

× × ×

माता पिता के स्नेह से वंचित-बालक भारतेन्दु आरम्भ से ही स्नेह प्राप्त करने के लिए उत्कंठित और स्नेह दान करने को लालायित रहते थे । उनका स्नेह एक व्यक्ति या परिवार में सीमित न रहकर देश, जाति और धर्म के व्यापक क्षेत्र में प्रसारित हो गया । स्नेह-वंचित भारतेन्दु का प्रेम मानव-प्रेम में परिणित हो गया । इस प्रेम के व्यापक रूप को उनके परिवार वाले—विमाता, पत्नी एवं भाई—समझ नहीं पाते थे । वे नहीं समझ पाते थे, कि यह कैसा प्रेम है, जो अपने घर में अँधेरा करके, दूसरों के घर में दिया जलता है । पर यह प्रेम ऐसा ही था । दिया अपना स्नेह जलाकर अपने नीचे अँधेरा रखता है, पर सर्वत्र प्रकाश छिटकाता है । भारतेन्दु ने अपने अन्तिम दिन तक, अपने हृदय के स्नेह की अन्तिम बूँद तक का देश, जाति और साहित्य के लिए दान दिया था ।

\+ + +

उन्हें अपने पूर्वजों के विरासत में तीन प्रमुख वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं—धन जिसे उनके पूर्वजों ने जनता का शोषण करके और कम्पनी सरकार की सहा-

यता करके, कमाया था, कुल-गौरव तथा अपने पिता से साहित्यिक अभिरुचि।

आरम्भ से ही उनके जीवन की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं— धन के प्रति उपेक्षा, कुल-गौरव के स्थान पर दीन और दलित मनुष्यों के प्रति निश्छल प्रेम और सौहार्द्र तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि।

उनके पिता बा० गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरधर दास' स्वयं अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। उनके संसर्ग से भारतेन्दु में बालकपन से ही कवि-प्रतिभा के अंकुर फूटने लगे थे, 'होन हार बिरवान के होत चीकने पात।' उनके पिता बलराम कथामृत की रचना कर रहे थे। उस समय भारतेन्दु भी उनके पास जाकर बैठ जाते थे। एक बार उन्होंने अपने पिता से कविता करने की अनुमति माँगी और एक दोहा लिखा—

"लै ब्योंड़ा ठाड़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
वाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान।"

धार्मिक रूढ़ियों के बारे में भारतेन्दु की प्रवृत्ति बचपन से ही तर्क-वितर्क की रही थी, जो आगे विकसित होकर जर्जर रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के लिए कुठार सिद्ध हुई। एक बार उनके पिता तर्पण कर रहे थे। उन्होंने जिज्ञासा की "बाबू जी पानी में पानी डालने से क्या लाभ?"

\+ + ×

उन्होंने बचपन में ही हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी की शिक्षा आरम्भ कर दी थी। थोड़े दिन तक घर पर अध्ययन करने के पश्चात्, वे क्वीन्स कालेज बनारस में भरती हो गए। पर पिता की मृत्यु हो जाने तथा विमाता की उपेक्षा और अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण, शिक्षा का क्रम बीच में ही टूट गया। कालेज की शिक्षा तो बन्द हो गई, पर ज्ञान के सच्चे जिज्ञासु के लिए इससे कोई अन्तर नहीं आता। उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू बंगला गुजराती आदि देशी-विदेशी भाषाओं के साहित्यों का गहन अध्ययन किया। उन सभी भाषाओं में उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। भारतेन्दु के भाषा सम्बन्धी विचार अत्यन्त उदार और प्रगतिशील थे। वे सभी प्रादेशिक और प्रान्तीय भाषाओं की स्वतन्त्र उन्नति के समर्थक थे। किसी साम्प्रदायिक या जातीय मोह में पड़कर, वे हिन्दी को अन्य भाषाओं पर थोपने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने लिखा, कि इस समय देश को जाग्रत करने की आवश्यकता है और सभी प्रान्तों की भाषाओं में नई चेतना के गीतों तथा निबन्धों को लिख

कर जनता में उनका प्रचार करना चाहिए। वे केवल हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र तक ही नई चेतना की मशाल जलाने की संकुचित मनोवृत्ति नहीं रखते थे, बल्कि चाहते थे कि जन-जागरण के नव-सन्देश से समस्त देश अनु-प्राणित हो, अन्यथा यदि एक अंग सड़ा-गला रह गया तो वह समस्त देश-शरीर को दूषित कर देगा।

× + +

"सेवक गुनी जन के, चाकर चातुर के हैं,
कविन के मीति चित हित गुन ज्ञानी के।
सीधेन सों सीधे, महाँ बाके हम बाँकेन सों,
'हरी चन्द' नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह, नेही,
नेह के दिवाने सदा, सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के;
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।"

स्वरचित इस पद्य में भारतेन्दु ने अपनी जुबानी अपना सारा व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है। वे हिन्दी के समकालीन कवियों का ही नहीं, अन्य अन्य भाषाओं के कवियों का भी सम्मान करते थे और उन्हें नए-नए काव्य सृजन के लिए उत्प्रेरित करते रहते थे। उनके संसर्ग से प्रेरणा लेकर साहित्यकारों का एक मंडल संगठित हो गया था, जो एक-प्राण होकर अपनी विभिन्न कृतियों द्वारा देश को नवीन चेतना का सन्देश देता रहा। इस मंडल ने ही साहित्य के विभिन्न रूपों में रचना करके आधुनिक हिन्दी साहित्य की नींव डाली और उसी पर आज हमारे साहित्य-भवन के विभिन्न अंग विकसित हुए हैं। भारतेन्दु और इस मंडल के रचनाकारों ने जन-जीवन का जो चित्रण उपस्थित किया है और साहित्य में जो नई चेतना दी, उसका महत्व आज भी उतना ही है, जितना उस काल में था। भारतेन्दु जिन साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन किया करते थे; उनसे प्रेरणा लेकर ही उस काल का बहुत सा साहित्य रचा गया है।

वे कवियों और साहित्यिकों की तन-मन-धन तीनों प्रकार से सहायता करते थे। धन देकर वे उनकी कृतियों के लिए पुरस्कृत करके उनका सम्मान करते, विषय और शैली-टेकनीक आदि के बारे में सुझाव देकर नये साहित

कारों को प्रोत्साहन देते और उनके रचे साहित्य के प्रचार तथा प्रकाशन का प्रबन्ध करते।

लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह को अँग्रेजों ने कैद करके कलकत्ता भेज दिया था। उनके साथ ही उनके कुछ शायर (कवि) भी गए थे। उन्हीं में से एक शायर मिर्ज़ा आबिद ने बाईस शेर का क़सीदा भारतेन्दु की प्रशंसा में भेजा था और कुछ आर्थिक सहायता भी माँगी थी। उसमें से कुछ पंक्तियाँ यहाँ दे देना असंगत न होगा—

"बाग़े आलम में मौतदिल[1] है हवा।
नख़ले उम्मीद[2] है हरा सबका॥
कुछ ज़माने का रंग फिर बदला।
फिर नया तौर कुछ नज़र आया॥
किसकी या रब नसीमे - फ़ैज[3] चली।
खिल रहे हैं जो यह गुले राना[4]॥
था उसी फ़िक्र में कि आई निदा[5]।
जानता तू नहीं है उसको क्या॥
के हरिचन्द नाम नामी है।
मसकन[6] उसका है खास काशी का॥
+ + +
इल्मो हिल्मो[7] मुरव्वतो इख़लाक[8]।
मुझको ख़ालिक ने सब किया है अता॥
+ + +
हर इल्मो फ़नून के माहिर[9]।
क़द्रदाँ अहलेफ़न[10] के हो बख़दा॥"

भारतेन्दु न केवल साहित्यिकों का ही सम्मान और उनकी सहायता करते थे, बल्कि हर क्षेत्र के विद्वानों की सहायता और सम्मान करते थे। एक बार कुछ विद्वानों ने उन्हें एक मान-पत्र दिया—

"सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि सुभाव दिनरैन के कारन नित हरिचंद॥"

---

१. न अधिक गर्म न अधिक ठंडी। २. आशा का बाग। ३. दया की धीमी हवा। ४. रंग-बिरंगे फूल। ५. आवाज़। ६. निवास-स्थान। ७. शील ८. सुव्यवहार। ९. ज्ञाता। १० कला-कौशल का सम्मान करने वाला।

साहित्य ही उनके जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य था। साहित्य को उन्होंने जन-जन में नयी चेतना फैलाने का सशक्त साधन बनाया। हम उनके समस्त साहित्य को एक शब्द में सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण की नव चेतना का साहित्य कह सकते हैं। उसमें जीवन के प्रति दुर्दमनीय आस्था है। १६ वर्ष की आयु से लेकर मृत्यु तक उन्होंने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण नयी चेतना के निर्माण-संघर्ष में ही व्यतीत किया। उनकी दृष्टि में साहित्य का जीवन-संघर्ष से अलग कोई अस्तित्व नहीं था। तभी उनके नाटक, कविता, निबन्ध सभी, तत्कालीन परिस्थितियों को यथार्थ चित्रण उपस्थित करते हैं और जनता को चेतना का सन्देश देते हैं। उनके सभी नाटकों में विशेषकर तत्कालीन यथार्थ का चेतना-उदबोधक चित्रण हुआ है। अपने नाटकों को जनता के नज़दीक ले जाने के लिए, उन्होंने रंगमंच का निर्माण किया भाषा की उलझनों को दूर करके उन्होंने हिन्दी भाषा को तथा साहित्य की विभिन्न शैलियों को निश्चितता प्रदान की। उन्होने अनेक साहित्यिक एवं सामाजिक संगठनों की स्थापना की, जो नूतन विचारों के प्रचार-प्रसार का कार्य करते थे। इस सब कार्य में उन्होंने खुले हाथों अपनी पैतृक सम्पत्ति को पानी की तरह बहाया। वस्तुतः उन्होंने अपने को मिटाकर हिन्दी साहित्य का निर्माण किया है। वे धर्म, समाज, साहित्य या संस्कृति में जहाँ कहीं रूढ़वादिता, अप्रगतिशीलता और कूपमण्डूकता देखते, तो उस पर करारा प्रहार करते थे। उनके प्रकाशित पत्रों ने इस दिशा में बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। अपने संपादन कार्य द्वारा उन्होंने हिन्दी में पत्र-कला का भी बिकास किया। १६ वर्ष की आयु में ही उन्होंने अपना प्रथम पत्र 'कविवचन सुधा' प्रकाशित किया था, जिसमें साहित्यिक, समाजसुधार, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान आदि नाना विषयों पर लेखादि होते थे। १६ वर्ष की आयु से भी पूर्व उन्होंने सभा-समाजों के संगठन तथा शिक्षा प्रसार का कार्य आरम्भ कर दिया था। इससे स्पष्ट होता है कि उनकी चेतना कितनी व्यापक और अनेकमुखी थी। उनकी चेतना स्पष्ट और पैनी थी, उनका लक्ष्य उनके सम्मुख स्पष्ट था और जनता से उनका सम्बन्ध गहरा था; तभी उनके साहित्य में तीखापन है, चेतना की सरल स्पष्टता है, पाखंडों अन्धविश्वासों और समाज की गति को अवरुद्ध करने वाले तत्वों पर तीखे व्यंग्य प्रहार हैं। उनकी भाषा मँजी हुई सरल और सुबोध है। उनके साहित्य में विषय और शैलियों की विविधता है, उद्देश्य के प्रति एकनिष्ट लगन है।

× × ×

"चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्योहार।
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को टरै न सत्य विचार॥"

सचाई, दानशीलता तथा बात के धनी होना उनके व्यक्तित्व के विशेष गुण थे। पिता की मृत्यु के पश्चात्, जब वे अपने परिवार को लेकर जगन्नाथ-पुरी की यात्रा को गए, तो एक सज्जन ने बड़े आग्रह से उन्हें दो अशर्फियाँ उनके बारबार मना करने पर भी दे दी थीं। यह आगे चलकर सूद-दर-सूद जुड़ते-जुड़ते ऋण की एक बड़ी रकम बन गई और उसके लिए उनको एक कोठी से हाथ धोना पड़ा। उस ऋण की कहीं लिखा-पढ़ी न थी, फिर भी वे उससे मुकरे नहीं।

एक बार एक महाजन ने उन्हें एक 'कटरनाव' और कुछ रुपये देकर तीन सहस्र की हुन्डी लिखा ली थी। बाद में अपने पावने के लिए उसने भारतेन्दु पर दावा कर दिया। कैसी अजीब विडम्बना थी कि जिसने सहस्रों का दान किया और किसी पर अहसान तक प्रकट न किया, वही ऋण-ग्रस्त होकर अदालत के कटघरे में खड़ा था, पर दमड़ी के पुजारी महाजन को इससे क्या? मुकदमा सर सैयद अहमदखाँ की अदालत में था। उन्होंने भारतेन्दु को कचहरी में सम्मान दिया और पूछा कि 'आपने असल में इनसे कितने रुपये पाए?' भारतेन्दु ने सरल भाव से उत्तर दिया 'सब रुपए पाए!'...सैयद साहब चाहते थे कि भारतेन्दु बतादें कि उन्होंने असली रकम कितनी पाई थी, तो वे उतने ही रुपये महाजन को दिला दें। पर भारतेन्दु ने उनके बारबार के आग्रह पर भी यही उत्तर दिया कि 'मैं अपने धर्म और सत्य को साधारण धन के लिए नहीं बिगाड़ने का। मुझसे इस महाजन ने जबर्दस्ती हुँडी नहीं लिखाई और न मैं बच्चा ही था कि समझता न था। जब मैंने अपनी गरज से समझ-बूझकर उसका मूल्य तथा नज़राना आदि स्वीकार कर लिया, तो क्या मैं अब देने के भय से उस सत्य को भंग कर दूँ।'*

+ + +

"नाम हातिम[1] का खलक भूल गई।
सुनके शुहरत[2] तेरी सखावत[3] का॥
हुआ कोई जो शाल का ख्वाहाँ[4]।
उसको कश्मीरी आपने बख्शा[5]।"

---

* 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'—बाबू ब्रजरत्नदास।

१. एक प्रसिद्ध दानी बादशाह; २. प्रसिद्ध ३. उदारता; ४. इच्छुक; ५. दान दिया।

नवाब वाजिदअलीशाह के दरबारी शायर मिर्जा आबिद के भारतेन्दु की दानशीलता के सम्बन्ध में उपरोक्त उद्‌गार निहायत सही हैं। केवल एक कहानी ही उस सत्य की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। "एक दिन एक पण्डितजी उनके दरबार में आकर बैठे। वे कुछ कहने के लिये अवसर देख रहे थे। पर लोगों के आने जाने के कारण उन्हें मौका नहीं मिला। इसी बीच भारतेन्दु स्नान करने चले गये। पण्डितजी बेचारे चुपचाप बैठे रहे। कुछ देर के अनन्तर बाबू साहब एक छोटी सी पेटी लिए आए और उनको अलग बुलाकर उसे देते हुए प्रणाम करके बिदा कर दिया। पण्डितजी कुछ कहना चाहते थे, पर भारतेन्दु ने उन्हें रोककर कहा कि 'इसे घर ले जाकर देख लीजिए और तब यदि कुछ कहना हो तो आकर कहिएगा।' ब्राह्मण देवता अपनी पुत्री के विवाह के लिए सहायता माँगने आए थे, और जब उन्होंने घर पहुँचकर पेटी खोली तब उसमें कुछ साड़ियाँ और दो सौ रुपये मिले।"१

दान तथा साहित्यिक कार्यों में पानी की तरह धन बहाने के परिणाम स्वरूप इनके जीवन काल ही में उनकी समस्त पैतृक सम्पत्ति समाप्त हो गई और जीवन के अन्तिम दिनों में वे स्वयं दूसरों के कर्ज़दार हो गए थे। कर्ज़-दार होने पर भी उनकी दानशीलता में कोई कमी नहीं आई थी।

उनकी इस प्रवृत्ति से खिन्न होकर एक बार उनके भाई ने काशी नरेश से उनकी शिकायत की। काशी नरेश ने जब उनसे इस सम्बन्ध में बात की तो भारतेन्दु ने जो उत्तर दिया, वह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा कि 'जिस धन ने मेरे पूर्वजों को खाया है, उसे मैं खा कर छोड़ूँगा।' इस वाक्य से अपनी पैतृक सम्पति के प्रति उनके क्या विचार थे, स्पष्ट हो जाते हैं। उनके पूर्वजों ने अंग्रेज़ी कम्पनी से गठबन्धन करके, देश के साथ गद्दारी की थी तथा अपने देश-भाइयों का शोषण करके धन कमाया था। उसी धन के कारण भारतेन्दु के पूर्वज जगत सेठ श्री अमीचन्द को कैद भी होना पड़ा था और अनेक यातनाएँ भुगतनी पड़ी थीं। अतः धन के प्रति भारतेन्दु की घृणा इस बात की द्योतक है कि उनके हृदय में अपने परिवार द्वारा देश के प्रति की गई गद्दारी के प्रति कितना क्षोभ था और उन की देश-भक्ति की भावना कितनी सजग थी। वास्तव में उन्होंने उस समस्त धन को दोनों हाथों से उलीच कर देश हित के काम में ही लगा दिया।

\+ \+ \+

१. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'—बाबू ब्रजरत्नदास।

भारतेन्दु का स्वभाव सरस, सरल, और विनोद प्रिय था।

अंग्रेजों के सार्वजनिक परिहास 'अप्रैल फूल' के दिन का हमारे देश में भी प्रचलन होगया था। भारतेन्दु नियमित रूप से हर वर्ष इस परिहास-दिवस को बड़ी योजना से मनाते थे। हर वर्ष उसमें एक अनूठापन होता था।

एक वर्ष आपने सूचना निकाली कि हरिश्चन्द्र स्कूल में अमुक दिन को अमुक समय अमुक प्रसिद्ध गवैये का गाना होगा। निश्चित समय पर स्कूल में सारा आयोजन किया गया। मंच बना, हजारों की भीड़ गाना सुनने को एकत्रित हुई। जब हजारों व्यक्ति वहाँ एकत्रित होगए तो नाटकीय ढंग से मंच का पर्दा उठा और 'एक मसखरा मूर्खों की टोपी पहिने उलटा तानपूरा लिए गाता नज़र आया।'१ तब लोगों ने जाना कि आज तो पहली अप्रैल है।

एक वर्ष भारतेन्दु ने अपने एक मित्र के नाम से सूचना निकाली कि 'एक मेम रामनगर के सामने खड़ाऊँ पर चढ़कर गंगा पार करेगी' तमाशा देखने के लिए घाट पर लोगों की अपार भीड़ जमा होगई। प्रतीक्षा करते-करते सन्ध्या होगई और गंगा की निर्मलधारा पर अन्धकार की चादर बिछ गई, पर उस विचित्र मेम का कहीं पता न था। सारे लोग मूर्ख बन गए थे। तब सब के ध्यान में आया कि आज तो पहली अप्रैल है।

सरल विनोद में भी भारतेन्दु की बुद्धि उतनी ही प्रखर थी जितनी तीखे व्यंग करने में। एकबार का किस्सा है कि वे प्रातःकाल उठकर अपने ननिहाल से हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री जगन्नाथदास रत्नाकर के यहाँ गए। द्वार पर पहुँच कर वे गंगावासियों की लय में 'हर गंगा भाई हर गंगा' का गीत गाने लगे। 'अन्दर से बाबू पुरुषोत्तमदास जी ने कोई भिखारी जानकर नौकर से एक पैसा देने को भेजा।'२ नौकर ने आकर देखा कि वह भिखारी नहीं भारतेन्दु थे।

वे स्वभाव से ही दरबारी भी थे। हर समय इष्ट मित्रों, कवियों और अन्य गुणियों तथा सज्जनों का जमघट उनके चारों ओर लगा रहता था और एक दरबारी समा बना रहता था। उनको वैभव भी प्रिय था। दिन में तीन बार तो पोशाक बदलते थे और होली के अवसर पर रंग में इत्र और गुलाब-जल घोला जाता था।

---

१. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'—बाबू ब्रजरत्नदास।

२. वही।

\+ + +

भारतेन्दु के साहित्यिक, देश सेवा एवं समाज सुधार के कार्यों ने तथा उनके स्वभाव ने उनको अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया था। उनका यश समस्त भारत में तो व्याप्त हो ही चुका था, विदेशों में भी उनके "गुणों की कीर्ति फैलती जा रही थी। देशीय विदेशीय विद्वन्मण्डली में इनकी प्रतिभा तथा रचनाओं की ख्याति खूब फैल चुकी थी और वे लोग मुक्तकंठ से इनकी प्रशंसा करने लगे थे। 'उत्तरीय भारत के कवि सम्राट', 'एशिया का एकमात्र समालोचक' आदि पदवियाँ वे दे रहे थे। लार्ड रिपन के समय सहस्रों हस्ताक्षर से भारत सरकार के पास एक 'मेमोरियल' भेजा गया कि इन्हें लेजिस्लेटिव काउन्सिल का मेम्बर चुनना चाहिए। अन्ततः इन्हें भारत नक्षत्र से बढ़कर पदवी देने का विचार प्रजापक्ष में पैदा हो चुका था, उसी समय सन् १८८० ई० में बा० हरिश्चन्द्र को चिढ़ाने की उस पदवी 'भारतेन्दु' से इन्हें विभूषित करने के लिए पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने २७ सितम्बर के 'सारसुधानिधि' पत्र में एक लेख प्रस्तावित किया। सारे देश ने इसे स्वीकार कर लिया और तब से 'भारतेन्दु' उनका दूसरा नाम सा होगया।

× × ×

किन्तु भारतेन्दु का पारिवारिक जीवन सुखी न था। भाई और उनकी पत्नी इनके साहित्यिक तथा देश सेवा के कार्य में धन व्यय को अपव्यय समझते थे। इसी कारण उन्हें अपने भाई से अलग हो जाना पड़ा था। भारतेन्दु की पत्नी उनके स्नेही स्वभाव को भी गलत समझती थीं और हर समय घुटी घुटी सी रहती थीं। वे भारतेन्दु के कार्यों के साथ अपना हृदय नहीं मिला सकीं। एक भावुक हृदय अपनी भावनाओं का समर्पण चाहता है, तभी सम्भवतः भारतेन्दु एक बंगाली महिला के प्रति आकर्षित होगए थे, जो स्वयं भी साहित्यिक थीं। इसी प्रकार एक और अन्य महिला, जो पहले हिन्दू थीं, फिर मुसलमान होगई थीं, से भी उनके प्रेम की कहानी कही जाती है। कहा जाता है, इस आकर्षण के मूल में जातीय भावना थी। अन्तिम दिनों में उन पर कर्ज भी बहुत होगया था। इन सारी बाधाओं का सामना करते हुए, वे अपने पथ पर आरूढ़ रहे और अल्पायु में ही, जो महान कार्य कर गये, वह उनको हिन्दी साहित्य में अमर करने के लिए पर्याप्त है। उन्होंने जो कार्य किया उसी के कारण उनको अपने जीवन काल में ही 'भारतेन्दु' की उपाधि से विभूषित किया गया और उनके नाम पर आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रथम युग का

नामकरण भी हुआ है।

भारतेन्दु की मृत्यु माघ कृ० ६ सं० १६४१ वि० (६ जनवरी सन् १८८५ ई०) को हुई थी। उस समय उनकी आयु चौंतीस वर्ष चार महीने की थी।[1]

१. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द'—बाबू ब्रजरत्नदास, पृ० सं० १२४

पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द से हिन्दी साहित्य एक नई दिशा में मोड़ लेता है। भारतेन्दु का साहित्य, उस नई दिशा में साहित्य के प्रवेश का प्रथम चरण है। अस्तु भारतेन्दु के साहित्य और उस नवीन दिशा के साहित्य को समझने के लिए हमें जरा पीछे हट कर पूर्ववर्ती साहित्य, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थियों का पर्यवेक्षण करना आवश्यक है।

भारतेन्दु के साहित्य में उदय होने के समय तक देश-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र-राजनैतिक, एवं साँस्कृतिक, में अंग्रेजों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम के धुर तक की शासन-बागडोर उनके हाथों में आ चुकी थी। सन् १८५७ की विद्रोहाग्नि के शोले कंदरा कर राख हो चुके थे। देशी वीरों का बल टूट चुका था। विद्रोह का धुँआ आसमान में ऊँचा उठकर विलीन हो चुका था और अब आसमान साफ होगया था। अंग्रेजों का कठोर शासन-चक्र निर्बाध-गति से चलने लगा था और अंग्रेज भारतवर्ष को सुसंगठित अंग्रेजी साम्राज्य के कठोर शिकंजे में जकड़ने के कार्य में तन-मन से संलग्न हो गये थे। विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों—फ्रांसीसी, पुर्तगाली और डचों के मुकाबिले में अंग्रेजों ने विजय प्राप्त करके, न केवल भारत में ही, वरन् सुदूर पूर्व तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था; और अंग्रेज-जाति विश्व की सबसे बलवान शासक जाति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व सदियों से हमारा देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त रहा था। उनकी राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तथा एक-दूसरे पर आक्रमणों के सामान्यतः तीन कारण रहे थे—राज्य विस्तार की लिप्सा, नारी हरण, एवं धर्म। जब तब समस्त भारत को एक तन्त्र में संगठित करने के प्रयास चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्र गुप्त, अशोक, अकबर आदि अनेक शासकों ने किए भी, पर वे सब प्रयास और उनकी सफलता उन शासकों के जीवन-काल तक ही सीमित रही। पहले तो सारा भारत ही पूर्णतः कभी एक छत्र तले नहीं आया और आया भी तो दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथ में पड़कर

वह शीघ्र ही बिखर गया। वस्तुतः अंग्रेजों ने ही समस्त भारत को प्रथमतः एक सुसंगठित, सुव्यवस्थित एवं एक-छत्र राजतन्त्र में संगठित किया था। जो अंग्रेज-जाति भारत की समृद्धि, अपार धन-धान्य और वैभव से आकृष्ट होकर भारत में व्यापार से लाभ उठाने की दृष्टि से आयी थी, वह अब अपने कौशल से समस्त भारत की शासक बन गयी थी। भारतेन्दु के समय तक भारतवर्ष अंग्रेजी शासन के शिकंजे में पूरी तरह कसा जा चुका था और स्वतन्त्र भारत एक विदेशी सत्ता का गुलाम होगया था, जिसकी राजनीति, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, रहन-सहन, आचार-विचार सब कुछ विदेशी था। किन्तु चूँकि यह शासक-वर्ग की यह सभ्यता-संस्कृति थी, अतः उसका हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य और नितान्त स्वाभाविक था।

भारतवर्ष में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व अनेक आक्रामक आये और उन्होंने भारतभूमि पर शासन भी किया; किन्तु प्रायः, वे सभी एशियावासी ही थे। केवल एक सिकन्दर का आक्रमण इसका अपवाद है। वह यूनान से चलकर भारतवर्ष को विजय करने आया था, पर उसे सिन्ध से ही वापस लौट जाना पड़ा था। इसके बाद जिस आक्रमणकारी ने भी भारत-भूमि पर शासन किया वह मूलतः यहीं का वासी होगया और कालान्तर में वह पूर्णरूप से भारतीय बन गया। उसकी संस्कृति और संस्कार भी भारतीय बन गये। मुसलमानों से पूर्व के विदेशी आक्रान्ताओं की संस्कृति भारतीय संस्कृति से घुल-मिल कर अपना मूल स्वरूप खो चुकी थी। विदेशी आक्रान्ताओं ने भारतवर्ष पर शासन किया, पर उनकी संस्कृति भारतीय संस्कृति पर प्रभुत्व स्थापित न कर सकी। इसका यह अभिप्राय नहीं कि भारतीय संस्कृति विदेशी प्रभावों से अछूती रही। किन्तु यह सत्य है कि कोई भी विदेशी संस्कृति भारतीय संस्कृति को अपदस्थ कर उसका स्थान नहीं ग्रहण कर सकी। उसका जो कुछ भी रूप भारत में रहा, वह भारतीय संस्कृति की धारा में अन्तर्भुक्त होकर ही रहा। भारतीय संस्कृति में अपने अन्दर विभिन्न संस्कृतियों को समाहित करने की अपूर्व शक्ति रही है।

अस्तु भारतीय संस्कृति विभिन्न संस्कृतियों की अन्तर्भुक्ति के क्रमिक विकास का परिणाम है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति ने अपनी परम्परा में ही अन्य संस्कृतियों के प्रभावों को ग्रहण किया और अपने मूलरूप को सुरक्षित रखा।

अंग्रेजों से पूर्व मुसलमान जाति ही एक ऐसी जाति थी जो अपनी संस्कृति

और सभ्यता की प्रथकता अक्षुण्य बनाये रखने में समर्थ हुई। इसके मूल में अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक कारण थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से हर्ष वर्धन के बाद शासन सूत्र अनेक दुर्बल और अशक्त छोटे छोटे राज्यों में बिखर गया था। राजशक्ति का बिखराव न केवल उत्तरी भारत में ही आया था, वरन दक्षिणी भारत में भी राजशक्ति छोटे-छोटे अनेक राजवंशों में विभक्त हो चली थी। पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट अनेक वंश उठ खड़े हुए थे। जिनमें परस्पर राज्यविस्तार की स्पर्धा चलती रहती थी। आठवीं सदी के अन्त तक उत्तरी भारत की अवस्था अत्यन्त अराजकता पूर्ण हो चली थी। उत्तरीभारत में अनेक छोटे छोटे राज्य वंश—चौहान, परमार, सोलंकी, कलचुरी चन्देले आदि उठ खड़े हुए थे। युद्ध ही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य रह गया था।

इस अराजक पूर्ण परिस्थिति के बीच भारतीय जीवन में एक ठहराव आ गया था। विकास के अभाव में रुढ़ता बढ़ती गई। जीवन, कला, दर्शन, धर्म, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में जनता की रचनात्मक रुचि का ह्रास हो चला था और जनता की नवनिर्माण और प्रगति करने की शक्ति दुर्बल हो चली थी। परिणामतः समाज कला, दर्शन धर्म प्रायः सभी रूढ़िग्रस्त हो चले। भारतीय समाज धर्मान्धता, वाह्याचरण, कर्मकाण्ड और वर्णव्यवस्था, गतानुगत रीतियों और रूढ़िग्रस्त परम्पराओं में जकड़ गया। भारतीय संस्कृति की एकता की शक्ति क्षीण हो गई थी। देश की इस अराजक परिस्थिति के विरुद्ध सामान्य जनता में घोर असन्तोष उत्पन्न हो रहा था। वाम मार्गी, सिद्धों, नाथों और कापालिक सम्प्रदायों की वाणियों में धर्मान्धता, वाह्याचार, वर्णव्यवस्था आदि के विरुद्ध विद्रोह की भावना मुखरित हो उठी थी। जिसने आगे चलकर कबीर तथा अन्य सन्त कवियों के काव्य में सबल विद्रोही स्वर का रूप ग्रहण कर लिया। भारतीय संस्कृति और सभ्यता जो अपनी उदारता और हृदय की विशालता के कारण देश के समस्त सम्प्रदायों और जातियों को एक जुट रखने में समर्थ थी, उसकी इस शक्ति में भी अब क्षीणता आ चली थी। धर्म और वर्ण व्यवस्था में अधिक कट्टरता आ जाने से निम्न जातियों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था।

इस प्रकार मुसलमानों के भारत आगमन के समय तक भारत साँस्कृतिक और राजनीतिक दोनों ही रूपों से अत्यधिक बिखर चुका था और भारतीय

संस्कृति में जो गम्भीर और उदार विशाल हृदयता थी, जिससे वह अन्य साँस्कृतिक प्रवाहों को अपने में अन्तभु‍र्क्त और समाविष्ट करके अपने मूलरूप में बनी रहती थी, वह अब समाप्त हो चली थी।

देश की ऐसी ही अनियन्त्रित और अराजक स्थिति में देश पर मुसलमानी आक्रमण आरंभ हो गए थे। महमूद गज़नवी ने भारत पर अनेक बार आक्रमण किए और उत्तरभारत के मन्दिरों तथा नगरों को लूटा। उसने पंजाब को पदाक्रान्त कर एक स्थायी मुस्लिम साम्राज्य की नींव डाली। महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ तथा अन्य मन्दिरों की लूट के परिणाम स्वरूप हिन्दू धर्मान्ध भक्तों के अन्धविश्वासों को एक भयङ्कर आघात लगा। इसके दो परिणाम निकले—एक ओर तो कट्टर पन्थी धर्मान्ध हिन्दू और भी कट्टर हो गए और कछुए की तरह अपने में ही संकुचित होगए। उन्होंने धर्मिक बन्धनों और रूढ़ियों को और भी कठोर बना लिया। उनमें अब तक की भारतीय परम्परा से विपरीत घोर संकीर्णता उत्पन्न होगई। तो दूसरी ओर निम्नजातियों में, जो अब तक हिन्दू-धार्मिक कट्टरता, आडम्बरों और संकीर्णताओं से असन्तुष्ट थे और भी तीव्र विद्रोह की भावना का उदय हुआ।

इसके विपरीत इस्लाम के अनुयायियों में लोच भी थी और कट्टरता भी थी। वे अपने धर्म के विषय में तो कट्टर थे, किन्तु जाति-पाँति, छुआ-छूत और दूसरों को अपने धर्म में मिलाने में वे बड़े उदार थे। मुसलमानों के भारत आगमन की कहानी हिन्दुओं पर निर्दयता और उनके धर्म पर आघात से आरम्भ होती है। अस्तु जहाँ तक एक ओर मुसलमानों ने अपनी संस्कृति और सभ्यता को भारतीय सभ्यता और संस्कृति तथा धर्म से प्रथक रखा वहाँ हिन्दुओं ने भी अपने को उनसे अलग रखा और अपने धर्म की सुरक्षा के लिए उसे और भी कठोर सीमाओं में जकड़ दिया। उसी समय से हिन्दू संस्कृति तथा धर्म और मुसलिम संस्कृति तथा धर्म का पार्थक्य समान आधार पर स्थापित हुआ जो आजतक भी चला आरहा है। (हमारी इस ऐतिहासिक स्थापना में किसी को 'दो राष्ट्र' के सांप्रदायिक सिद्धांत की झलक नहीं देखनी चाहिए। इस पार्थक्य में धार्मिक पार्थक्य ही अधिक था, वैसा ही धार्मिक पार्थक्य, जैसा बौद्ध, जैन, वैष्णव सिक्ख आदि धर्म में है। भारत स्थित मुसलमानों की अपनी कोई अलग सस्कृति वैसे नहीं है, जो है वह धर्ममूलक ही है। भारतीय सस्कृति भी विशेषतः धर्म मूलक ही है। अतः हिन्दू और मुसलमानों का भेद और झगड़ा प्रमुख रूप से धार्मिक ही रहा है।) मुसलमान आक्रान्ताओं की लूट-

पाट और धार्मिक अत्याचारों की कटुता के बावजूद भी दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ है और भारतीय जनता पर मुस्लिम संस्कृति का तथा मुसलमानों पर भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा है। अधिकाँश मुसलमान भारतीय ही हैं जो मुसलमान हो जाने पर भी अपने संस्कारों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाए और अपने संस्कारों से भारतीय ही बने रहे। इस्लाम के एकेश्वरवाद और जातीय तथा धार्मिक समानता के सिद्धान्तों का भारतीय जनता पर विशेष प्रभाव पड़ा। भले ही धार्मिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान प्रथक रहे हों किन्तु यह सत्य है कि दोनों संस्कृतियों के सम्पर्क और पारस्परिक लेन-देन से देश में एक साँस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर सी दौड़ गई, जिसने उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक, समस्त भारत में एक नई जाग्रति की चेतना उत्पन्न की। जिसमें हिन्दू, मुसलमान तथा देश की सारी जातियाँ शामिल थीं। जीवन मूल्यों का नवसंस्कार हुआ। अन्यान्य प्रादेशिक भाषाओं में नवीन साहित्य का सृजन आरम्भ हुआ। सन्त काव्य, वीर काव्य, भक्तिकाव्य की परम्परा विकसित हुई। मुसलमान स्थायी रूप से भारत के निवासी हो गए थे। अधिकाँश मुसलमान भारत की ही निम्न जातियों से धर्म परिवर्तन द्वारा बने मुसलमान थे। इस प्रकार दोनों संस्कृतियों की निकटता बढ़ती जा रही थी। दोनों का सम्पर्क और पारस्परिक लेन-देन एक ऐतिहासिक अनिवार्यता बन गई थी, जो हिन्दू राजाओं और मुसलमान बादशाहों के परस्पर युद्धों और कुछ बादशाहों द्वारा धार्मिक अत्याचारों के बावजूद भी बढ़ता गया। मुसलमान फकीरों और सूफी सन्तों ने इस साँस्कृतिक मेल कराने और पुनर्जागरण की भूमिका प्रस्तुत करने में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में अपनी साहित्य रचनाओं के द्वारा भरपूर योग दिया था।

मुसलमानी शासन काल में भारतीय (हिन्दू) संस्कृति शासित संस्कृति नहीं बनी थी और न भारतीय (हिन्दू) अपनी संस्कृति को हेय ही समझते थे।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व तक प्रायः समस्त एशिया की राजव्यवस्था सामान्यतः एक ही थी। एक ही महाद्वीप एशिया के होने के नाते उनसे हमारा दूर का परिचय नहीं था। अनेक बातों में परस्पर समानता थी और एशियाई आक्रमणकारियों ने आकर भारतवर्ष की समाज एवं राजव्यवस्था को तथा हमारी सभ्यता और संस्कृति को हाथ नहीं लगाया था। अस्तु देश की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा एवं व्यवस्था में कोई आमूल

परिवर्तन नहीं आया था, सिवाय इसके कि एक शासक के स्थान पर दूसरा शासक आगया, उसी तरह जैसे एक शासक की मृत्यु के पश्चात् स्वाभाविक रूप से दूसरा शासक, उसका उत्तराधिकार ग्रहण कर लेता है। मुसलमानी शासनकाल में सॉंस्कृतिक दृष्टि से थोड़ा सा परिवर्तन अवश्य आया, जिसका थोड़ा सा निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। मुसलमानों ने सॉंस्कृतिक एवं मुख्यतः धार्मिक रूप से तो अपने को अन्तर्भुक्त नहीं होने दिया, पर उन्होंने भी देश के सामाजिक ढाँचे को और राजव्यवस्था को हाथ नहीं लगाया। उस काल में फलतः देश में दो विरोधी संस्कृतियाँ और धर्म अपना प्रभाव-प्रसरण करती रहीं और इस काल का संघर्ष मूलतः इन्हीं दो संस्कृतियों और धर्मों के परस्पर समन्वय और प्रथक विकास का संघर्ष रहा, जिसके परिणाम स्वरूप भक्ति-आन्दोलन और उसके साहित्य का सृजन हुआ। इस संघर्ष का यह भी परिणाम निकला कि समस्त भारत में एक नया सॉंस्कृतिक जागरण और उत्थान आया, जिसमें प्रादेशिक संस्कृतियों जन भाषाओं और लोक कलाओं का अभूत पूर्व विकास हुआ।

अंग्रेज जब हमारे देश के शासक बने उससे पूर्व अङ्गरेज जाति पुनर्जागरण के दौर से गुजर चुकी थी। योरप में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। जिसने उसे सामाजिक क्षेत्र में नई मान्यताओं, नए सामाजिक सम्बन्धों, नए सांस्कृतिक मूल्यों और आर्थिक क्षेत्र में नए उत्पादन के साधनों तथा राजनीतिक क्षेत्र में नई चेतना और व्यवस्था का वारिस बना दिया था।

योरप में सॉंस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर का सूत्रपात चौदहवीं शताब्दी में इटली से हुआ था। यह लहर अगली एक दो शताब्दियों में ही समस्त योरप में फैल गई थी। जिस समय योरप में सॉंस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर चल रही थी, उन्हीं दिनों हमारे देश में भी भक्ति आन्दोलन के रूप में सॉंस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर चल रही थी। किन्तु इसमें अन्तर था।

योरप का सांस्कृतिक पुनर्जागरण मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्थाओं और मान्यताओं से मुक्ति प्राप्त करने की भावना से उत्पन्न हुआ था। उसके परिणाम स्वरूप योरोपीय देशों की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुए; परिणामतः प्राचीन सामन्ती समाज व्यवस्था की मूलोच्छेदक पूँजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ, उत्पादन के नए क्षेत्र खुले, जो आगे चलकर औद्योगिक क्रांति के प्रेरक बने। आर्थिक जीवन में नई समस्याओं का उदय हुआ।

भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण में ऐसी कोई प्रेरणा काम नहीं कर रही थी। उसके मूल में अधिकांशतः प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं में सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल यत्र-तत्र सुधार की ही भावना काम कर रही थी ; आमूल-परिवर्तन की नहीं। कबीर तथा अन्य सन्तों की वाणी में सामन्ती मान्यताओं, वर्ण-व्यवस्था और परम्पराओं के विरुद्ध एक तीव्र स्वर अवश्य मुखरित हुआ था, किन्तु वह इतना सबल सिद्ध नहीं हुआ कि समाज की धारा को बिल्कुल नवीन मार्ग पर मोड़ सकता। तुलसी ने तो फिर से नवीन रूप में सामन्ती भावनाओं और मान्यताओं की पुनर्स्थापना की, यद्यपि सामयिक सुधार के साथ। इस प्रकार उस काल में हमारे देश में संस्कृति का नव संस्कार हो रहा था। अतः उस काल के भारतीय सांस्कृतिक जागरण को सांस्कृतिक पुनर्जागरण के स्थान पर सांस्कृतिक नव-संस्कार का नाम देना ही अधिक उपयुक्त और ऐतिहासिक दृष्टि से संगत प्रतीत होता है।

इस नवसंस्कार का स्वर व्यक्तिवादी था, जो समस्त भक्ति काव्य में व्यक्तिगत साधना और मोक्ष की कामना के रूप में मुखरित हुआ। यद्यपि इस व्यक्तिवादी स्वर में सामाजिक हित का व्यापक स्वर भी निहित है। कबीर के स्वर में सामाजिक तत्व सबसे अधिक थे, किन्तु वह भी व्यक्तिगत साधना और मोक्ष की कामना से मुक्त नहीं थे। कुछ आलोचक कबीर के काव्य की रहस्यवादी विशेषता और निर्गुण भक्ति का विवेचन करते हुए उनके रहस्यवाद को 'जीवन से परे' का रहस्यवाद सिद्ध करते हैं। किन्तु सत्य तो यह है कि कबीर के निर्गुण राम की तत्कालीन कल्पना में सामाजिक शक्ति का योग था। जनता में कुछ धार्मिक ठेकेदारों की धर्म और ईश्वर पर 'बपौती' और 'एकाधिपत्य' के विरुद्ध जो भावना उभड़ रही थी, उसने उस समय एक ऐसे ईश्वर के रूप की अवतारणा की आवश्यकता उत्पन्न करदी थी, जो सबका हो और किसी एक का न हो। ऐसा ही था कबीर का निर्गुण राम। यद्यपि निर्गुण रूप की उपासना कोई नई नहीं थी। भारतीय उपनिषदों के अद्वैती दर्शन में इसके तत्व विद्यमान थे और कबीर के निकट पूर्व में ही सिद्धों और नाथों मे निर्गुण भक्ति का पुनर्प्रचलन हो चला था ; किन्तु एक विशिष्ट काल मे किसी विचार या दर्शन का उदय क्यों होता है, उसकी सामाजिक आवश्यकता क्या है इसका उत्तर उस काल की स्थिति पर निर्भर करता है और तत्कालीन स्थिति ही उसके जन्म और विकास की पीठिका प्रस्तुत करती है और इस रूप में वह विचार या दर्शन सर्वथा मौलिक होता है। इसलिए कबीर

से पूर्व निर्गुण राम का स्वरूप और भक्ति विद्यमान होते हुए भी जिन परिस्थिति जन्य युगावश्यकता को लेकर उसका विकास कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने किया वह सर्वथा मौलिक था।

कबीर के रहस्यवाद के विषय में एक सत्य और भी विवेचनीय है और वह यह कि उनके 'जगत मिथ्या' है, 'माया' है कहने का अर्थ जीवन से पलायन को प्रश्रय देना नहीं है, बल्कि उन्होंने तो गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों को करते हुए भक्ति करने की बात तक कही है। उनकी भक्ति जीवन की आस्थापरक भक्ति है, उनका 'जगत मिथ्या' का सिद्धान्त जीवन की गत्यात्मकता का प्रतिपादन कर उसे मानवीय और स्वस्थ बनाने का सन्देश देता है। अस्तु कबीर की निर्गुण भक्ति और रहस्यवाद के पीछे भी सामाजिक चेतना थी, तभी जीवन के प्रति इतनी आस्था पूर्ण गति शील चेतना उनके काव्य में मिलती है, जो युगों के पार आज भी अपने में जीवनी शक्ति रखती है।

योरुप निवासी अँग्रेज, डच, पुर्तगाली, फ्रांसीसी भारत में व्यापार करने के लिए आए थे और चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी तक वे भारत का तैयार माल योरुप के बाजारों के लिए ले जाते थे, और बदले में अपना माल भारत लाते थे। व्यापार में भारत की स्थिति समानता की थी। इस व्यापार में योरुप निवासियों में भी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता होती रहती थी, साथ ही छोटे-मोटे देशी राज्यों से भी उनके संघर्ष चलते रहते थे। होते-करते इस पारस्परिक स्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता में अँग्रेज विजयी हुए। व्यापार का पासा भी पलट गया। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप नए उत्पादन के साधनों से सम्पन्न अँग्रेजों ने शीघ्र ही भारत को अपने देश के तैयार माल की खपत का बाजार बना लिया और बदले में जहाँ वे पहले भारत का तैयार माल ले जाया करते थे, अब कच्चा माल ले जाने लगे और उसी से तैयार माल भारत में लाकर बेचने लगे। भारत मैनचेस्टर और लंकाशायर की मिलों में मशीनों से बने कपड़ों तथा अन्य सामानों की खपत का बाजार बन गया और स्वयं उसका स्तर उन मिलों को कच्चा माल देने भर का रह गया। अंग्रेजों की नीति का मूल-आधार था–भेद-नीति। अंग्रेजों की यह भेदनीति धर्मों में, जातियों में, राजा-नवाबों में तथा अमीरों, गरीबों सब में परस्पर कटुतापूर्ण भेद उत्पन्न करने की रही। उसी भेदनीति द्वारा देशी राजा नवाबों को आपस में लड़ाकर और स्वयं कभी इसका कभी उसका साथ देकर अंग्रेजों ने समस्त भारत पर पहिले व्यापारिक रूप से और फिर शासक के रूप में अपना आधितत्य स्थापित कर लिया।

साथ ही सांस्कृतिक एवं धार्मिक भेद भावों को भी बढ़ावा दिया।

अस्तु जब अंग्रेजी शासन हमारे देश में आरम्भ हुआ तो भारतीय जनता को एक नये ढंग की समाज, अर्थ तथा राज्य व्यवस्था से परिचय हुआ। हमारा एक ऐसे साहित्य और संस्कृति से सम्पर्क हुआ, जिसमें समस्त प्राचीन का नये आधार पर मूल्यांकन हो रहा था और सारी प्राचीन स्थापनाएं नया रूप धारण कर रही थीं। इस सब नवीन के सम्पर्क से हमारे देश—जीवन के हर क्षेत्र—समाज, उद्योग-धन्धों, राज्य, सभ्यता और संस्कृति एवं धार्मिक मान्यताओं में, सब में—एक संक्रमण आरम्भ हो गया और देश एक संक्रांति से गुजरने लगा। हमारे ग्राम उद्योग, हस्त-कला और कला-कौशल का ह्रास आरम्भ हुआ और उसके स्थान पर अंग्रेजी मिलों के बने सामानों का चलन होगया। भारतीय ग्राम उद्योगों के नष्ट होने से मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था लड़खड़ा उठी। मिलों के बने सामानों में विविधता के कारण जीवन की आवश्यकताओं में भी वैविध्य आया ; फलतः सरलता की अपेक्षा बाह्याडन्बर तथा आवश्यकताओं की अनेकरूपता की ओर जीवन अग्रसर हो गया। हमारे देशी उद्योगों के आधार ग्राम थे। उनके नष्ट होते ही ग्राम सभ्यता को एक जोर का धक्का लगा और ग्राम-समाज विश्रृङ्खलित हो उठा। भारतीय समाज के मूलाधार गाँवों की एकता के छिन्न भिन्न होते ही हमारे समाज में जो कुछ महान और उदात्त परम्पराएं थीं, वह भी नष्ट हो चलीं। इस प्रकार अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति की रीढ़ को तोड़ देने की नीति अपनाई।

राजव्यवस्था में भी एक परिवर्तन आया। गाँव चौकीदार से लेकर थाना तहसील अदालतों आदि तक सरकारी अमलों का एक ताँता पुर गया। नये ढङ्ग के फरमान और एक नये ढङ्ग का माहौल देश की जनता को देखने को मिला।

हमारे देश की जनता की भावना मूलतः धार्मिक रही है। राज, समाज आदि सबके आधार में धर्म रहा है। धर्म की एक धारा अपने विकास क्रम में जब जब रूढ़ हो जाती रही, नई धारा जन्म लेती रही, किन्तु स्रोत वही रहा। धर्म ही वस्तुतः हमारी संस्कृति का मूलाधार रहा है। यह भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। जब अंग्रेज भारत आए, उस समय जैसे राज व्यवस्था विश्रृंखलित होरही थी, वैसे ही सांस्कृतिक तथा धार्मिक जीवन भी अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, सड़ी-गली मान्यताओं, कुप्रथाओं से जकड़ा हुआ था। फूट शासक वर्गों की सीमा से आगे बढ़कर जाति-पाँति छूआछूत, हिन्दू-

मुस्लिम तथा धार्मिक सम्प्रदायों के वैमनस्य के रूप में साधारण जनता के जीवन में भी प्रवेश कर गई थी। हमें अपनी उस समय की परिस्थित में अंग्रेज कहीं अधिक समुन्नत प्रतीत हुए और योरोपीय पुनर्जागरण तथा औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सत्य भी यही था। फलतः अंग्रेज जाति ने अपने विकास और उन्नति के प्रभाव से देश की जनता को चकाचौंध में डाल दिया और एक क्षण को हमें अपना जीवन, अपनी सभ्यता और संस्कृति हेय प्रतीत होने लगी। हमारी सभ्यता और संस्कृति का इतिहास विश्व की महान सभ्यताओं और संस्कृतियों को आत्मसात करने और उन्हें प्रभावित करने का रहा है, पर अब हमारा रुझान अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित होने की ओर तीव्र गति से उन्मुख होने लगा। इस भावना ने हमारे दृष्टिकोणों में ही आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया, और हमने उस काल में विदेशी सभ्यता और संस्कृति से, उनके साहित्य और कला से, अपने को अनेक रूपों में प्रभावित किया। अंग्रेजों ने देश में आकर रेल, तार, डांक, सड़कें आदि बनवाई। जीवन के उपयोग में आने वाली नई नई वस्तुओं का प्रचलन किया, जो हमारे लिए अन देखी थीं। अस्तु सभ्यता के इन नये पाश्चात्य उपकरणों ने भी अपना प्रभाव डाला।

अंग्रेजी शासकों की इन विशेषताओं में सबसे निराली विशेषता थी कि वे सुदूर विदेश से आए थे और सदैव विदेशी ही रहे, हर रूप में–अर्थ व्यवस्था में, पहनावे-उढ़ावे, बोलचाल, भाषा, राज व्यवस्था, धर्म और संस्कृति में। वे अपने को हमसे महान और अलग समझते थे और हमें हेय। हमने भी उन्हें इसी रूप में ग्रहण किया था। यह भावना अन्त तक उन्होंने बनाए रखी, जो हमारे संस्कारों में घुल मिल कर हमारे हृदयों में ऐसी बैठ गई कि आज भी हमारा पीछा नहीं छोड़ रही है। इसके दो परिणाम निकले—(1) देश की जनता उन्हें सदैव विदेशी समझती रही और कभी उनसे अपनत्व का नाता न जोड़ सकी, जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय चेतना के विकास में बड़ा काम किया, तथा जनता सुगमता से यह देख-समझ सकी कि देश का धन अंग्रेजों द्वारा शोषण किया जाकर, विदेश चला जारहा है, देशी उद्योग-धन्धे समाप्त हो रहे हैं और वह तेजी से गरीब होती जा रही है। (ii) कि अंग्रेज चूंकि शासक वर्ग था, अतः उसकी हर चीज उसका पहनावा, बोल-चाल, भाषा आदि सब समाज में सम्मानित समझा जाने लगा था और उसका हमारी समाज चेतना पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

यह भारतीय इतिहास में प्रथम अवसर था, जब भारत को एक ऐसे शासक से पाला पड़ा था, जो अधिक उन्नत और विकसित था। अस्तु देश वासियों में उनके ज्ञान-विज्ञान साहित्य, कला-कौशल, सभ्यता और संस्कृति, जीवन दर्शन आदि के सम्पर्क से नवीन चेतना के उन्मेष की भावना जाग्रत हुई और समस्त प्राचीन भारतीय परम्परा का नवीन दृष्टि से मूल्यांकन किया जाने लगा।

उपरोक्त विश्लेषण से निम्न सत्य स्थापित होते हैं; जो धीरे धीरे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से देश की जनता की भावनाओं को गढ़ते, रूपायित और संस्कारित करते रहे।

अंग्रेजों ने प्रथम बार राजनैतिक रूप से समस्त भारत को एक सूत्र में संगठित किया। आवगमन के नये साधनों से देश का एक भाग दूसरे के सम्पर्क में आया और अन्तर्देशीय विचारों का आदान-प्रदान अधिक विस्तृत पैमाने पर आरम्भ हुआ। देश में रेल, तार, डाँक, व्यवस्था ने देश को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में संगठित कर दिया, जो कार्य चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य, समुन्द्र गुप्त, अशोक और अकबर नहीं कर पाए वह विज्ञान के नए आविष्कारों से सहज में ही हो गया और प्रान्तीय सीमाएँ टूट गईं। सारे देश की जनता में राष्ट्रीय एकता की भावना की बुनियाद पड़ी। अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ साधन के लिए नए सुधार किए—रेल, तार, डाँक व्यवस्था स्थापित की, ताकि शासन सूत्र सुगमता से चल सके, सिंचाई के लिए नहर बनवाईं, ताकि इंग्लैन्ड की मिलों के लिए रुई इत्यादि तथा अनाज खूब पैदा हो, शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की—ताकि शासन सूत्र में काम करने के लिए क्लर्क बन सकें और शिक्षा के माध्यम से मन-प्राणों को भी अंग्रेजी सभ्यता-संस्कृति और साहित्य से वशीभूत किया जा सके; बड़े बड़े कल, कारखानों का काम भी आरम्भ किया। किन्तु अंग्रेजों द्वारा स्वार्थवश किए गए इन सब कार्यों ने इतिहास की स्वाभाविक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप उनकी इच्छा के विरुद्ध राष्ट्रीय जागरण की भूमिका प्रस्तुत कर दी। सन् १८५७ के विद्रोह के मूल में भी अंग्रेजों की स्वार्थपरता थी, जिससे उत्पन्न असन्तोष, विद्रोह के रूप में फूट पड़ा था। यद्यपि वह विद्रोह दबा दिया गया; किन्तु जनता ने संघर्ष का जो अनुभव प्राप्त किया, वह निरन्तर राष्ट्रीय जागरण की प्रेरणा देता रहा। सन् १८५७ के दमन के बाद जनता की बदहाली का इतिहास आरम्भ होता है। अकाल, मँहगी, महामारी और ऊपर से सरकारी टैक्स

जनता के जीवन के रहे सहे सुख-चैन को भी बर्बाद किए दे रहे थे। असंतुष्ट जनता ने अनेक विद्रोह किए; किन्तु संघर्ष के छुट-पुट प्रयास दबा दिए गए। किन्तु अंग्रेजों के विरुद्ध जनता के हृदय में सुलगी चिन्गारी बुझी नहीं, वह निरन्तर प्रबल से प्रबलतर होती गई, भले ही उसके उभाड़ में परिस्थितिवश कभी कमी और कभी तेजी आती रही। इन विद्रोहों से अंग्रेजी सरकार ने यहाँ की जनता की पुनः उठती शक्ति को समझ लिया और उससे भयभीत होकर देशी सामन्ती वर्ग से गठ-बन्धन कर लिया। जो सामन्ती वर्ग नई व्यवस्था के आघात से लड़खड़ा उठा था, अब पुनः अंग्रेजी आश्रय में पलने लगा। अंग्रेजों की इच्छा के विपरीत उस गठबन्धन का परिणाम भी दूसरा हुआ। जनता के संघर्ष का रूप अंग्रेज विरोधी होने के साथ-साथ सामन्तविरोधी भी हो गया। सामन्ती विश्वासों और मान्यताओं की विरोधी चेतना उभड़ने लगी। रेलों तथा अन्य कारखानों में काम करने वाला मजदूर वर्ग भी पैदा होगया था। औद्योगिक क्रान्ति से प्रभावित भारतीय धनिक भी कल कारखानों की ओर उन्मुख हो रहे थे, किन्तु अंग्रेज अपने स्वार्थ के कारण यह सुविधा नहीं देना चाहते थे। परिणामतः भारत का उदीयमान पूँजीपति वर्ग भी अंग्रेज विरोधी चेतना का एक अङ्ग बन गया। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त क्लर्कों और दफ्तर के बाबुओं का एक मध्यम वर्ग उत्पन्न होगया था, जो अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर अपने जीवन को आधुनिक सुख सुविधा के नवीनतम साधनों से सम्पन्न करना चाहता था। उसके जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ रही थीं, किन्तु उनको पूरा करने की शक्ति में बढ़ती नहीं हो रही थी। अस्तु उसमें भी असन्तोष की भावना उभड़ रही थी। यह अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से योरोपीय देशों की क्रान्तियों तथा विकास के इतिहास से परिचित था, अतः उसमें एक क्रान्तिकारी चेतना उत्पन्न हुई और वह अपनी ऐतिहाहिक विशेषता के कारण आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन का अगुआ बना। अपने से उन्नत सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आने से उसकी नकल की प्रवृत्ति भी जनता में तेजी से फैली, जिसने एक ओर भारतीय जीवन में उच्छृंखलता तथा अनेक विकृतियों को जन्म दिया, वहाँ उसने प्राचीन गति अवरोधक सड़ी गली रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करने का भी काम किया। अंग्रेज हर प्रकार से विदेशी बने रहे और देश का शासन-संचालन सुदूर विदेश से होता रहा। देश का धन शोषण होकर विदेश जाता रहा; आरम्भ से ही जनता में विदेशी शोषण के प्रति विरोध की

भावना गहरी होती गई।

अस्तु आरम्भ से ही देश की जनता में अंग्रेजों के प्रति दो विरोधी भावनाएँ परिलक्षित होती हैं— (i) अंग्रेजों द्वारा किए गए सुधारों के कारण उनके प्रति सम्मान तथा (ii) उनके आर्थिक शोषण और विदेशी ही बने रहने के कारण आन्तरिक विक्षोभ और विरोध।

मूलतः ये दोनों भावनाएँ विरोधी थीं, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास क्रम के साथ साथ स्पष्ट होती गईं, किन्तु आरम्भ में ये भावनाएँ एक दूसरे से घुली मिली थीं और एक प्रकार से एक दूसरे की पूरक थीं और दोनों ही मिलकर देश-भक्ति की कसौटी का निर्माण करती थीं। इन दोनों भावनाओं के उद्भव-विकास ने ही आरम्भिक दिनों में राष्ट्रीय उन्मेष के विकास की पीठिका प्रस्तुत की थी।

भारतीय मनीषी सदैव से उदार चेता रहे हैं और भारतीय विचारधारा भी उदार रही है, तभी तो विगत इतिहास में अनेक विचार और संस्कृतियाँ भारतीय-संस्कृति के क्रोड़ में अपना स्थान बनाती गईं और उन सब का भारतीयकरण होता गया। अपने से अलग विचारों को ग्रहण कर अपनी भारतीय परम्परा की अनुरूपता में अन्तर्भुक्त करना हमारी विशेषता रही है। हमारा प्राचीन इतना पुराना, गौरवशाली और विशाल है, कि उसकी परम्परा-धारा को छोड़कर हम आगे नहीं बढ़ सकते। अंग्रेजों के प्रथम सम्पर्क से जो भी 'भारतीय' है, उसे तुच्छ समझने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। शीघ्र ही उसमें एक नयी मोड़ आई और हमारी नयी चेतना उद्बुद्ध होने लगी, जिसके मूल में थी, हमारी राष्ट्रीय परम्परा की जाग्रत चेतना। विदेशी साहित्य और उनका विकसित जीवन, तथा संसार के अन्य देशों की स्थितियों, सभ्यताओं, संघर्षों और साहित्य से सम्पर्क और देश में अंग्रेजी शासन और उसके आर्थिक तथा राजनैतिक परिणाम—शोषण और साँस्कृतिक विशृङ्खलता, एवं उस काल की हमारी साँस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ, इन सब के दोहन-मंथन से हमारी नवीन चेतना का विकास हुआ; जो अपने दृष्टिकोण में सामाजिक थी। मध्ययुगीन एवं रीतियुगीन व्यक्तिवादी मान्यताओं में बिखराव आने लगा। उत्पादन के नए साधनों के आरम्भ से व्यक्ति की सामाजिक निर्भरता बढ़ने लगी। इस सब ने व्यक्ति के जीवन में सामाजिक चेतना उत्पन्न की, साथ ही साहित्य में भी पहली बार स्पष्ट रूप से सामाजिक चेतना का विकास आरम्भ हुआ। साहित्य और समाज के सम्बन्ध, समाज के प्रति

साहित्य के दायित्व, साहित्य की उपयोगिता आदि नवीन सामाजिक दृष्टि-कोणों का साहित्य में जन्म हुआ, जिसने साहित्य को अधिक वस्तुनिष्ठ बनाया तथा साहित्य की वस्तु और कला सभी को प्रभावित किया।

इस चेतना ने सबसे पहली चोट की धार्मिक एवं संस्कृतिक अन्धविश्वासों रूढ़ियों और आडम्बरों पर और उनसे निजात पाने के संघर्ष का सूत्रपात हुआ।

साथ ही भारतीय तथा विदेशी संस्कृति का जो असम्बद्ध उच्छृङ्खल मेल अनेक नयी विकृतियों को जन्म दे रहा था, उसके विरुद्ध भी संघर्ष का सूत्र-पात हुआ; और गोरवशाली राष्ट्रीय स्वस्थ-परम्परा को पुनः सजीव कर, उसके स्वस्थ और अस्वस्थ का अलगाव कर, स्वस्थ विदेशी संस्कृति से उसके सुमेल का प्रयास भी आरम्भ हुआ।

राजनैतिक क्षेत्र में विदेशी सत्ता से अधिक से अधिक सुधार तथा सहूलि-यतें प्राप्त करने और देश की आर्थिक कंगाली से रक्षा करने की चेतना जोर पकड़ने लगी।

मुसलमानी शासनकाल में संघर्ष का मुख्यतः एक पहलू था—सांस्कृतिक जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप देश के सांस्कृतिक नवसंस्कार के हेतु भक्ति-साहित्य का सृजन हुआ। अंग्रेजी शासन में संघर्ष के मुख्यतः तीन पहलू हो गए राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक। फलतः साहित्य में सामाजिकता का उदय हुआ, अनेक नये विषय साहित्य के विषय बने और जीवन—संघर्ष की अनेक रूपता ने गद्य के जन्म और विकास की पीठिका प्रस्तुत की।

भारतेन्दु के समय तक आते आते इस संघर्ष की अपनी एक परम्परा और अपना एक इतिहास निर्मित होगया था। इस संघर्ष का सुनिश्चित एवं सुसं-गठित प्रयास राजा राममोहन राय द्वारा बंगाल में १९ वीं सदी के आरम्भ में ही शुरू होगया था और भारतेन्दु के साहित्य-गगन में उदय होते समय तक उसकी पचास-साठ वर्ष की परम्परा बन गई थी।

राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में यह संघर्ष था—सरकारी नौकरियों में भारतीयों को स्थान दिलाने और देशी उद्योगों की रक्षा का।

सांस्कृतिक क्षेत्र में यह संघर्ष था—एक ओर तो अपनी प्राचीन धार्मिक, सामाजिक तथा संस्कृतिक रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से प्रसूत छुआछूत, बाल विवाह, जाति-पाँति की फूट, पाखंड आदि विकृतियों से जन जीवन को मुक्त करने का तथा देशी-विदेशी के असम्बद्ध उच्छृङ्खल 'शङ्कर' से देश-

जीवन की रक्षा करते हुए अपनी स्वस्थ राष्ट्रीय परम्परा के आधार पर नूतन सांस्कृतिक चेतना के विकास का। अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार, मानव समानता, भक्तिकालीन उदात्त एवं मानवतावादी परम्परा एवं प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की पुनर्स्थापना, सामाजिक कुरीतियों का विरोध, स्त्री स्वातन्त्र्य, सती प्रथा का अन्त, बाल विवाह का अन्त, मूर्तिपूजा का खण्डन, आदि आदि अनेक रूप थे इस संघर्ष के। इस राष्ट्रीय जागरण कीतीव्र भावना ही हमारे सांस्कृतिक जागरण की मूल प्रेरणा बनी है।

अस्तु उस समय की प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के प्रधान विषय यही थे। तब से ही राष्ट्रीय आन्दोलन, सांस्कृतिक जागरण और साहित्य अन्योन्याश्रित प्रभाव का आदान-प्रदान करते अटूट एक सूत्रता में आबद्ध समस्त विरोधों के बावजूद् भी विकास करते रहे हैं।

यह संघर्ष सबसे प्रथम बंगाल में आरम्भ हुआ और धीरे धीरे समस्त भारत में फैल गया। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि अनेक संस्थाएँ खुलीं और अनेक आन्दोलन चले। राजा रानमोहनराय, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परम हंस, ईश्वरचन्द विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, महादेवगोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द आदि विद्वानों ने पुनर्जागरण की नींव पर नयी भारतीय चेतना के भवन का निर्माण आरम्भ कर दिया था।

इसी प्रसङ्ग में एक और एतिहासिक तथ्य की परख कर लेना भी आवश्यक है। अंग्रेजों ने भारत की शासन सत्ता मुसलमानों के हाथ से छीनी थी अतः उनके हृदय में विक्षोभ होना स्वाभाविक ही था। अंग्रेजों ने इसी स्थिति को परख कर आरम्भ में उनकी उपेक्षा और हिन्दुओं को अपनाने की नीति अपनायी। मुसलमान भी हिन्दुओं की अपेक्षा अंग्रेजों का अधिक विरोध करते थे। वे अंग्रेजी शिक्षा को 'कुफ्र' समझते थे। पर सर सैयद अहमदखाँ ने देखा कि इससे अपना ही अहित है और उन्होंने मुसलमानों में पुनर्जागरण का सूत्रपात किया, और अंग्रेजों से विरोध की नीति का परित्याग किया। अंग्रेज कूटनीतिज्ञ पहली ही नजर में इन दोनों संस्कृतियों और धर्मों के परस्पर विरोध को ताड़ गए थे, अस्तु उन्होंने दोनों में 'फूट डालो और राजकरो' की नीति अपनायी।

भारतेन्दु जिस समय बालक ही थे, तभी १८५७ का गदर हो चुका था और शासन कम्पनी के हाथ से निकलकर पार्लियामेंट के हाथ में जा चुका था। इससे भी देश के राजनैतिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। अब शासन

में एक व्यवस्था और उदारता आई और भारत विधिवत रूप से अंग्रेजी साम्राज्य का एक अङ्ग बन गया। अंग्रेजी साम्राज्य को अपने शासन-संचालन के स्वार्थवश तथा जन-जागरण की माँग के दबाववश अनेक राजनैतिक और सांस्कृतिक सुधार करने पड़े। इस युग की परिस्थितियों में सम्राज्ञी विक्टोरिया का घोषणा पत्र, जो उन्होंने भारत सम्राज्ञी होने के अवसर पर प्रसारित किया था, अत्यधिक महत्त्व रखता है। किंतु इस सबसे राजनैतिक तथा साँस्कृतिक परिस्थितियों और संघर्षों में मूलतः कोई अन्तर नहीं पड़ा, सिवाय इसके कि जनचेतना और उद्‌बुद्ध हो चली थी। जैसा हम पीछे देख आए हैं।

भारतेन्दुकाल में भी देश का आर्थिक रूप से शोषण हो रहा था, शासन में भारतीयों के योग की अवहेलना हो रही थी, जनता पर अनेक प्रकार के अत्याचार हो रहे थे। अंग्रेजी सभ्यता के विरूप सम्पर्क से देश की जनता के आचार-विचारों में वर्ण शङ्करता आ रही थी और साथ ही अंग्रेजी सरकार अपने शासन की नींव को दृढ़ करने के उद्देश्य से नये-नये सुधार और विकास की नयी योजनाओं रेल, तार डाँक आदि को कार्यान्वित कर रही थी, जिससे जनता का हित साधन भी होता था। ऐतिहासिक विकास क्रम की स्वाभाविक पीठिका में अंग्रेजों द्वारा देश में किए गए सुधार परिवर्तनों की प्रगतिशील साथ ही प्रगतिविरोधी भूमिका का विस्तृत विश्लेषण हम पीछे कर आए हैं। भारतेन्दु ने प्रथम बार हिन्दी साहित्य को सामाजिक चेतना की ऐतिहासिक अनिवार्य अनुरूपता प्रदान की। साहित्य के आनन्दवादी दृष्टिकोण को सामाजिक उपयोगिता प्रदान की। साहित्य के वीर, भक्ति और शृङ्गार के क्षेत्र में सीमित कविता को जीवन का विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया। वीर रस के आलम्बनों एवं उद्देश्यों में भी सामाजिक चेतना की अनुरूपता में व्यापकता उत्पन्न की। राज्य विस्तार अथवा स्त्री हरण के लिए वीरता प्रदर्शन के स्थान पर देश पर, बलिदान होना वीरता की कसौटी बन गई। भक्ति काव्य की व्यक्तिगत, मोक्ष, कामना में भी सारे देश के मोक्ष की कामना की व्यापक सामाजिक चेतना का जन्म हुआ। साहित्य की वस्तु के प्रति भी एक नए दृष्टिकोण का जन्म हुआ। कला के क्षेत्र में भी अनेक नए परिवर्तन हुए, जिनमें इस नवीन सामाजिकचेतना का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। काव्य की पूर्वकाल से चली आती काव्यों की परम्परा में जो नवीन दृष्टिकोण एवं कला-विधान सम्बन्धी परिवर्तन हुए, उनके साथ ही साहित्य की एक नई धारा—गद्य का

जन्म हुआ। इस प्रकार समस्त साहित्य प्रगति की नई दिशा में नई चेतना से प्रेरित होकर बढ़ चला था। अस्तु भारत में अंग्रेजों द्वारा किए गए सुधार कार्यों के परिणाम स्वरूप, अंग्रेजों के प्रति भक्ति और उनके अत्याचारों और शोषण के परिणाम स्वरूप, उनके विरोध की भावनाएँ, परस्पर विरोधी होते हुए भी, साथ साथ तत्कालीन जनता के हृदय में विद्यमान थी।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों—'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में क्रमशः राजनैतिक तथा देश की आर्थिक दुर्दशा और साँस्कृतिक 'शंकरता' का सजीव चित्रण उपस्थित किया है। उन्होंने अपनी अनेक कविताओं और निबन्धों में देश की इस परिस्थिति का चित्रण किया है।

भारतेन्दु साहित्य में राजभक्ति और देशभक्ति दोनों ही तत्त्व एक साथ मिलते हैं। उसके मूल में जो परिस्थिति जन्य भावना थी उसका हम पीछे विवेचन कर आए हैं कि उस काल की देश भक्ति में ही राजभक्ति और देश भक्ति दोनों भावनाएं निहित थीं। एक ओर अंग्रेज शिक्षा प्रसार आदि देशोन्नति का जो कार्य कर रहे थे उससे उनके प्रति देश में सम्मान और श्रद्धा की भावना थी, जो राजभक्ति को जन्म देती थी; पर इसमें भी मूलतः देश भक्ति की ही भावना थी। इसे अप्रत्यक्ष देश भक्ति कह सकते हैं और दूसरी ओर अँग्रेजी राज्य के शोषण के प्रति विक्षोभ की भावना भी थी, जो प्रत्यक्ष देश भक्ति की जनक थी। यही रहस्य है भारतेन्दु साहित्य में एक साथ वर्णित राजभक्ति और देशभक्ति का—

'अँग्रेज राज सुख साज सजै सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।'

कुछ आलोचक भारतेन्दु की राजभक्ति और देशभक्ति की दो परस्पर विरोधी धाराएँ मानकर उन्हें अँग्रेजी राज का 'भाट' सिद्ध करते हैं और कुछ उन्हें अँग्रेजों का कट्टर विरोधी और 'क्रांतिकारी' सिद्ध करते हैं। पर वस्तुतः दोनों ही भ्रांत स्थापनाएँ हैं। न तो वे अँग्रेजों के भाट थे और न अँग्रेजी राज्य को भारत से उखाड़ने के लिए प्रयत्नशील क्रांतिकारी। अंग्रेजी राज्य को उखाड़ने की चेतना को भारतेन्दु साहित्य में ढूंढ़ना उस काल की ऐतिहासिक विकास-क्रम की परिस्थितियों में उत्पन्न चेतना के स्तर को गलत समझना है और उन्हें अंग्रेजी राज का 'भाट' सिद्ध करना, भारतेन्दु साहित्य की मूल आत्मा को ही न समझना है। भारतेन्दु देशभक्त थे और कट्टर देशभक्त

थे; पर उनकी देशभक्ति का रूप वही था, जो उस काल की परिस्थितियों में हो सकता था, जिसमें राजभक्ति और देशभक्ति दोनों एक साथ मिली हुई थीं।

भारतेन्दु एक साहित्यिक थे। साहित्यिक जन-जीवन का संस्कारक होता है और मानव संस्कार ही संस्कृति की आधार शिला होते हैं। अस्तु उनकी देशभक्ति का रूप सांस्कृतिक उत्थान और जागृति का रूप था। यह बात उनके साहित्य के अवलोकन से सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि उनका विशेष बल सांस्कृतिक उद्‌बोधन पर ही अधिक था। एक ओर जहाँ उस समय देश में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर दौड़ रही थी, वहीं दूसरी ओर पुरानी रूढ़ियाँ और देश के प्रतिक्रियावादी तत्व उनका विरोध कर रहे थे। पश्चिमी सभ्यता के 'शंकर' से उत्पन्न विकृतियाँ भी देश के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास में बाधा उपस्थित कर रही थीं। भारतेन्दु को भी अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की भाँति इन तीनों विरोधों का सामना करना पड़ा। एक ओर उन्होंने अपने नाटकों और निबन्धों में प्राचीन रूढ़ियों और प्रतिक्रियावादी तत्त्व—पाखंडी साधू, महन्त और राजा-नवाबों का पर्दा फाश किया, वहीं अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न विकृतियों के विरुद्ध भी देश को सजग किया और एक स्वस्थ सांस्कृतिक विकास का आधार प्रस्तुत किया। भारतेन्दु मुख्य रूप से सांस्कृतिक नेता थे। उन्होंने यह बात समझ ली थी कि बिना सांस्कृतिक नव-जागरण के देश का विकास नहीं हो सकता। उनके साहित्य से सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की समाज-प्रयोजनीयता की दृष्टि उनके सम्मुख सबसे पहिले थी। कला की ओर ध्यान उनका उतना नहीं था। समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों ने उनको यह समझ दी थी, कि जन-परक साहित्य ही समय का तकाजा है। उन्होंने एक साथ ही साहित्य को शैली तथा वस्तु दोनों ही दृष्टियों से जन रूप प्रदान किया था।

हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य इन्हीं सांस्कृति संघर्षों के कर्दम में विकसित कमल है। राष्ट्रीय उद्‌बोधन के उषः काल में वह विकचित और विकसित हुआ; अस्तु उसमें राष्ट्रीय भावना आरम्भ से ही रही और भारतेन्दु थे उसके प्रथम जागरूक कलाकार। उनके नाटक, कविता, निबन्ध, गद्यगीत सभी में राष्ट्रीय उन्मेष के सन्देश की गूंज व्याप्त है; जिसने उस समय हिन्दी भाषा-भाषी जनता को ही नहीं, देश को भी अनुप्राणित किया था और साहित्य तथा सांस्कृतिक चेतना को एक नई दिशा प्रदान की थी।

भारतेन्दु ऐतिहासिक-द्वन्द्वात्मक विकास की इस नवीन मोड़ पर हुए, अस्तु

उन्हें उसके एक सजग अगुआ होने का श्रेय प्राप्त हो गया। भारतेन्दु एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार की अपेक्षा 'सुधारक', 'प्रचारक' और 'आंदोलनकारी' अधिक थे। जितनी सफलता उन्हें इस दिशा में मिली उतनी उच्चकोटि के साहित्य सृजन में नहीं। वरन् यों कहना अधिक संगत होगा कि नए सुधारों एवं आंदोलनों के सशक्त साधन के रूप में उन्होंने साहित्य का सीधे-सीधे उपयोग किया। इसी कारण उनके साहित्य में एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार के साहित्य जैसा, कला का निखार और परिष्कार नहीं है। भारतेन्दु साहित्य की इस कमी को औचित्य प्रदान करने के लिए उस काल की परिस्थितियों तथा साहित्य पररम्परा की सीमाओं की दुहाई देना गलत होगा; क्योंकि सभी जानते हैं कि लगभग उसी काल में बंगला में रवीन्द्र और उर्दू में गालिब, हाली, अकबर और इकबाल जैसे प्रतिभासम्पन्न कलाकार विद्यमान थे। जरा पीछे हट कर देखें तो नितान्त अपढ़ कबीर की भाषा अटपटी होते हुए भी जीवनदायी तत्त्वों से ओतप्रोत है। तुलसी ने साहित्य परम्परा की भाषा को त्यागकर बोलचाल की अवधी में, जिसकी कोई महान साहित्यिक परम्परा नहीं थी, महान साहित्य की रचना की। हम पीछे इस तथ्य का विवेचन कर आए हैं कि भाषा और साहित्य का निर्माण एवं विकास जन-जीवन की ऐतिहासिक एवं सामाजिक विकास की आवश्यकताओं द्वारा होता है। किन्तु उसका निखार और परिमार्जन प्रतिभासम्पन्न कलाकार द्वारा ही होता है। तो भारतेन्दु के समय उनके हाथों गद्य भाषा और गद्य तथा पद्य साहित्य का निर्माण एवं विकास तो जन-जीवन को ऐतिहासिक एवं सामाजिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप नई चेतना से सम्पन्न नवीन दिशा में हुआ; पर भारतेन्दु में एक प्रतिभा सम्पन्न कलाकार के गुणों की कमी के कारण उसका समुचित निखार और परिमार्जन नहीं हो पाया। अस्तु उनके साहित्य का सही मूल्यांकन करने के लिए उनके साहित्य और उनकी इन सीमाओं को ध्यान में रखना जरूरी है। सम्भवतः वह हो पाता; किन्तु चौंतीस वर्ष चार महीने की अल्पायु में ही तो उनकी मृत्यु होगई। तथापि जो कुछ भी उन्होंने किया उसका आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रथम चरण के रूप में अपार महत्त्व है, और हिन्दी साहित्य की इस दीर्घकालीन गौरवमंडित परम्परा में आधुनिक साहित्य के प्रवर्तक के रूप में भारतेन्दु सदा अमर रहेंगे।

भाग २

गद्य-खंड

नाटक

पूर्व कालीन हिन्दी नाट्य साहित्य

भारतीय नाटय कला का इतिहास अति प्राचीन है। इसके बीज हम ईसा से लगभग दो सहस्त्र वर्ष पहले खोज सकते हैं। उस समय ही भारतीय नाट्यकला के अंगोपांग विषद् रूप से विकसित होगये थे। नाटक साहित्य के विकास-ह्रास के इतिहास का विषद् विवेचन प्रस्तुत करना, यहाँ हमारा अभीष्ट नहीं है, इस अवसर पर तो हम केवल भारतेन्दु से निकट पूर्व के हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास-ह्रास की विवेचना को ही अपना लक्ष्य बनायेंगे। मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व तक संस्कृत नाट्य साहित्य फलता-फूलता रहा और जनता में नाट्यकला के प्रति परिष्कृत रुचि भी विद्यमान थी। वैसे तो संस्कृत के उत्तर काल में नाट्य साहित्य का ह्रास आरम्भ हो गया था; किन्तु मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही नाट्य कला और रंगमंच दोनों का एक प्रकार से लोप हो गया।

भारतवर्ष पर मुसलमान आक्रमण के उस संकट काल के बीच हिन्दी का जन्म हुआ था; और वह भी पद्य रूप का ही। हिन्दी भाषा के पद्य रूप का ही क्यों जन्म हुआ, गद्य का क्यों नहीं; जब कि संस्कृत गद्य की परम्परा उसकी पृष्ठ पर थी? यह प्रश्न ही स्वयं अपने में एक चिन्तन और खोज का प्रश्न है। उस प्रश्न पर विवेचन करना इस प्रसंग में असंगत और अप्रसांगिक होगा। प्रासंगिक प्रश्न तो यह है कि नाट्य कला और रंगमंच की परम्परा हिन्दी में क्यों नहीं आरम्भ हुई? इसका पहला कारण यही है कि हिन्दी भाषा का गद्य-रूप विकसित नहीं था। गद्य ही नाटक की उपयुक्त भाषा है और उसके अभाव में नाट्यकला और उसके साहित्य का अभाव रहा। दूसरा कारण ऐतिहासिक उथल पुथल का है। मुसलमानी राज्य की स्थापना के साथ इस्लामी सभ्यता और संस्कृति का भारत में पदार्पण

हुआ। उनकी संस्कृति में नाट्य कला का स्थान न था। भारतीय जनता राजनैतिक व्यवस्था के परिवर्तन से क्षुब्ध और विपन्न थी, जिसके कारण नाट्य कला के द्वारा जन मनोरंजन की ओर उनका ध्यान न जाना स्वाभाविक ही था। संस्कृत का प्रायः समस्त नाटक साहित्य राज्याश्रय में ही फला-फूला था। भारतीय राज्य शक्ति के बिखराव के साथ वह राज्याश्रय भी समाप्त हो गया। देश छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। राजाओं का ध्यान कला-कौशल और साहित्य के विकास की ओर से हट कर राज्य विस्तार के लिए आए दिन युद्ध करने की ओर लग गया था। देश की अराजक स्थिति के कारण जनता की कला-रुचि कम हो चली थी। कलाकारों की शक्ति में भी शिथिलता आ चली थी। परिणामतः कला का ह्रास आरम्भ हुआ। मुसलमानी शासन काल में उन कलाओं का तो पुनः विकास हुआ; जिन्हें राज्याश्रय प्राप्त हो सका; किन्तु शेष का विकास अवरुद्ध ही रहा। नाट्यकला भी उन्हीं उपेक्षित कलाओं में थी। इस प्रकार भाषा के अभाव और परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण ही हम कह सकते हैं, कि भारतीय नाट्य कला का हिन्दी के आदि और मध्यकाल में लोप ही रहा।

किन्तु क्या इस कला का जनता में से सर्वथा लोप हो गया था? उत्तर है—नहीं! उसके साहित्यिक रूप का भले ही लोप हो गया था किन्तु; नाट्य कला अपने जन-रूप में जनता में जीवित रही—जिसके अनेक रूप थे। विभिन्न प्रान्तों की जनता में इसके भिन्न-भिन्न रूप पाये जाते हैं। कठपुतली के नाच, भाँड़ के तमाशे, नकल, रामलील, रासलीला आदि आदि अनेक रूप जनता में विद्यमान थे।

हिन्दी नाट्यसाहित्य का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी के गद्य-रूप के साथ हुआ। गद्य में साहित्यिक सृजन की परम्परा विकसित हुई और पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग से साहित्यकारों का ध्यान नाट्य रचना की ओर गया; तो साहित्यकारों ने संस्कृत के प्राचीन नाट्य भंडार से अनेक नाटक खोज कर उनका अनुवाद आरम्भ किया। किन्तु गद्य भाषा का स्वरूप निखार न होने के कारण और नाट्य-कला की अनभिज्ञता के कारण, वह सभी प्रयोग प्रायः असफल ही रहे।

भारतेन्दु से पूर्व के जिन नाटकों का इतिहास हमें मिलता है, वे प्रधानतः पद्यबद्ध ही हैं। उन्हें कथोपकथन की शैली में कविता कहना ही उचित होगा नाटक नहीं। मैथिल कवि विद्यापति के लिखे हुए दो नाटकक—'रुक्मिणी-

हरण' व 'पारिजात हरण'; आचार्य केशवदास द्वारा विरचित 'विज्ञान-गीता'; यशवन्तसिंह द्वारा सृजित 'प्रबोध चन्द्रोदय'; निवाज कवि कृत 'शकुन्तला नाटक'; हृदयराम द्वारा लिखित 'हनुमन्नाटक'; देव कवि द्वारा रचित 'देवमाया प्रपंच नाटक'; काशीराजकी आज्ञा पर प्रणीत 'प्रभावती नाटक'+ तथा रीवाँ के राजा विश्वनाथसिंह का लिखा 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक तथा भारतेन्दु के पिता गिरधरदास द्वारा लिखित 'नहुष' नाटक आदि का इतिहास प्राप्त होता है, किन्तु इनमें से केवल अन्तिम दो को छोड़कर शेष में 'नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपादन नहीं है और यह छन्दबद्ध ग्रन्थ ही है।'×

इनके अतिरिक्त राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनुवादित 'शकुन्तला' नाटक भी प्राप्त है। इस प्रकार जब भारतेन्दु ने नाटक प्रणयन आरम्भ किया था, उस समय हिन्दी गद्य में 'नाटकीय यावत् नियमों' के आधार पर लिखे गये नाटक प्रायः नहीं थे।

जब हिन्दी नाट्य साहित्य की यह दशा थी, तो रंगमंच की स्थिति की पतितावस्था आश्चर्य की वस्तु नहीं, किन्तु हम पीछे लिख आये हैं कि जन-साधारण के बीच रंगमंच का जन-रूप परवरिश पा रहा था। जनता के बीच रासलीला, रामलीला, कठपुतली के नाँच, नकल, स्वाँग, इन्द्रसभा आदि रंगमंचीय रूप प्रचलित थे; किन्तु इन सभी में कला का अभाव था। इनके अतिरिक्त इन्हीं दिनों पारसी नाटक कम्पनियों का भी जन्म हो गया था, जो हिन्दी में संस्कृत के अनुदित नाटक भी खेलती थीं। लेकिन उनकी रंगमंचीय कला अत्यन्त निकृष्ट कोटि की थी। भारतेन्दु ने पारसी कम्पनियों के नाटकों को 'भ्रष्ट नाटक' कहा है। उन्होंने कहा है कि 'काशी में पारसी नाटक वालों ने नाँचघर में जब 'शकुन्तला' नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटें वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो, बाबू प्रमदादास मित्र, प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, यह लोग कालीदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।'++ यह कम्पनियाँ संस्कृत से

+ 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ० ७५५ में दी गई तालिका में इस नाटक के लेखक का नाम उल्लिखित नहीं है।

× 'भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १',—नाटक लेख—पृ० सं० ७५२ (बा० ब्रजरत्नदास)

++ 'भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १', पृ० ७५३.

जिन नाटकों का अनुवाद करती थीं। वे अनुवाद भी अत्यन्त भ्रष्ट होते थे। भारतेन्दु के शब्दों में ही '……नाटकों में कहीं-कहीं आता है 'नाट्येनोपविश्य' अर्थात पात्र बैठने का नाट्य करता है। उसका अनुवाद हुआ है 'राजा नाचता हुआ बैठता है'।……'इति विष्कम्भकः' का अनुवाद हुआ है 'पीछे विष्कम्भक आया'।……'नाट्येनोलिख्य' का अनुवाद हुआ है 'ऐसे नाचते हुए लिखता है।' धन्य अनुवादकर्त्ता और धन्य गवर्नमेण्ट जिसने पढ़ने वालों की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का श्राद्ध करके इसको छापा !!!'+

यह थी भारतेन्दु के पूर्व और उनके नाटक लिखना आरम्भ करने के समय नाट्य साहित्य और भारतीय रंगमंच की स्थिति। जनता में नाटकों के प्रति रुचि नहीं रही थी। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु स्वयं लिखते हैं……"धन्य है विद्या का प्रकाश कि जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है इतना भी नहीं जानते थे।……"*

ऐसी स्थिति में भारतेन्दु को हिन्दी नाट्य कला को नये सिरे से जन्म देने और उसका रूप संवार करने का कार्य करना पड़ा। एक ओर जहाँ उनको 'नाटकीय यावत् नियमों' के यथासम्भव और परिस्थिति के अनुकूल आधार पर नाटक रचना का कार्य करना पड़ा, वहाँ साथ ही उनके प्रदर्शन के लिए रंगमंच की नींव डालकर उसका भी शिल्प विन्यास करना पड़ा। इस कार्य में उन्हें कहाँ तक सफलता मिली यह हम आगामी अध्यायों में उनके नाटकों के आधार पर देखेंगे। यहाँ तो इतनी बात निर्विवाद कही जा सकती है कि भारतेन्दु को ही 'यावत् रूप' से नाट्य साहित्य और भारतीय रंगमंच को जन्म देने का श्रेय है।

+ वही, पृ० ७५४.

* वही, पृ० २५६.

अनुवादित तथा मौलिक नाटक

—****—

भारतेन्दु द्वारा लिखित 'नाटक' लेख में अनुवादित तथा मौलिक नाटकों की सूची इस प्रकार है—'मुद्राराक्षस', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'विद्यासुन्दर,' 'अन्धेर नगरी', 'विषस्यविषमौषधम', 'सती प्रताप,' 'चन्द्रावली,' 'माधुरी', 'पाखंड विडम्बन', 'नवमल्लिका', 'दुर्लभ बन्धु', 'प्रेम जोगिनी' 'जैसा काम वैसा परिणाम, 'कर्पूर मंजरी', 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी,' 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति,' 'धनंजय विजय' ।+

इन १६ नाटकों में से बा० श्यामसुन्दरदास द्वारा संकलित—सम्पादित तथा इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वारा सन् १६२७ में प्रकाशित 'भारतेन्दु नाटिकावलि' में केवल १४ नाटकों का ही संकलन है। उसमें 'भारत जननी', 'दुर्लभ बन्धु', 'माधुरी', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'नवमल्लिका' नामक ५ नाटक संकलित नहीं हैं। किन्तु बाबू ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १ में जो नाटक संग्रहीत किये हैं, उनमें श्यामसुन्दरदास द्वारा संग्रहीत नाटकों के अतिरिक्त 'रत्नावली', 'भारतजननी' और 'दुर्लभबन्धु' नाटक भी संकलित हैं। इस प्रकार भारतेन्दु द्वारा अपने लेख में परिगणित सूची में से तीन नाटकों का उल्लेख इस संग्रह में भी नहीं है। इन नाटकों के अतिरिक्त बाबू राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु-विरचित प्रथम नाटक 'प्रवास' तथा एक अन्य नाटक 'मृच्छकटिक' (अपूर्ण) का भी उल्लेख किया है। किन्तु इन दोनों नाटकों का तथा बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा संग्रहीत 'रत्नावली' का उल्लेख भारतेन्दु ने अपने लेख में नहीं किया है। सम्भवतः अपूर्ण होने के कारण उन्होंने इनका उल्लेख न किया हो; किंतु उल्लिखित नाटकों में भी तो कई अपूर्ण हैं ! अस्तु इनके सम्बन्ध में एक उलझन होती है। बा० राधाकृष्णदास ने लिखा है—'सब से प्रथम भारतेन्दु ने सन् १८६८ में 'प्रवास' नाटक ही लिखना आरम्भ किया था, जो अपूर्ण है उसके बाद उन्होंने 'रत्नावली' का अनुवाद

+ वही पृष्ठ ७५५

आरम्भ किया, जो अपूर्ण रहा। और अब केवल उसका प्रस्तावना और विष्कंभक अँश ही प्राप्त है।' बा० ब्रजरत्नदास का अनुमान है 'यह नाटक पूरा होगया था।'* बा० राधाकृष्णदास ने 'मृच्छकटिक' के सम्बन्ध में भी लिखा है कि वह अपूर्ण था, व अब अप्राप्य है। "नवमल्लिका" को भारतेन्दु बाबू राधाकृष्णदास के कथनानुसार 'महानाटक' बनाना चाहते थे, और उन्होंने उसके पात्रों तथा अङ्कों की सूची भी बना ली थी। परन्तु मूल नाटक थोड़ासा ही बना था कि रह गया। इस कथन से यह प्रगट होता है कि यह भारतेन्दु का मौलिक नाटक था।

अब प्रश्न रह जाता है 'माधुरी' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' का। इनमें से 'माधुरी' के सम्बन्ध में बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है—'माधुरी' रूपक रावकृष्णदेवसिंह की कृति है, जो भरतपुर नरेश राजा दुर्जनसाल के पुत्र थे तथा भारतेन्दु के अन्तरङ्ग मित्र थे। यह कविता में अपना 'गोप' उपनाम रखते थे। इस रूपक के एक पद का 'गोपराज' शब्द उन्हीं का द्योतक है।ऽ बा० राधाकृष्णदास ने भी उसे सम्पादित, संग्रहीत व उत्साह देकर बनवाये नाटकों की सूची में रक्खा है, किन्तु भारतेन्दु ने स्वयं इसे स्वरचित नाटकों की सूची में रक्खा है और खंग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित 'माधुरी रूपक' के तृतीय-संस्करण के मुख पृष्ठ पर भी लेखक का नाम बाबू हरिश्चन्द्र ही छपा हुआ है। इस रूपक के एक पद में 'गोपराज' शब्द आ जाने से इसे रावकृष्णदेव शरणसिंह 'गोप' की कृति कह देना युक्ति सङ्गत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि भारतेन्दु ने अनुवादित 'कर्पूर मंजरी' नाटक में भी पद्माकर और देव के, तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' में अपने पिता श्री 'गिरिधरदास' कृत पद्य दिये हैं। इसी तरह हो सकता हैं भारतेन्दु ने 'माधुरी' रूपक में भी कवि 'गोपराज' का पद्य दे दिया हो। 'जैसा काम वैसा परिणाम' नाटक के सम्बन्ध में न तो बाबू राधाकृष्णदास ने और न बा० ब्रजरत्नदास ने और न किसी अन्य आलोचक ही ने कहीं कोई प्रकाश डाला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ आलोचक 'प्रवास' 'मृच्छकटिक' और 'रत्नावली' को भारतेंदु रचित बताते हैं, जब कि भारतेन्दु ने अपने लेख में उनका उल्लेख नहीं किया है। और 'माधुरी' तथा 'जैसा काम वैसा परिणाम' में से पहले को तो उनका लिखा हुआ ही नहीं बताते और दूसरे के सम्बन्ध

* 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृष्ठ १६०—बाबू ब्रजरत्नदास।

ऽ वही, पृष्ट १७३

में कोई जिक्र नहीं करते, जब कि भारतेन्दु ने स्वयं इन दोनों नाटकों का स्वरचित नाटकों की सूची में उल्लेख किया है।

अस्तु यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु के अप्राप्य तथा अपूर्ण नाटकों के सम्बन्ध में पर्याप्त उलझन है और उनके सम्बन्ध में व्यापक और गम्भीर खोज की आवश्यकता है।

जो नाटक प्राप्य हैं, उनके अनुवादित तथा मौलिक होने के प्रश्न पर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। बा० श्यामसुन्दरदास ने अपने संग्रह में 'विद्या सुन्दर', 'पाखंड विडम्बन', 'धनञ्जय विजय', 'कर्पूर मञ्जरी', 'मुद्राराक्षस' को अनुवादित और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावली', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी', 'प्रेमजोगिनी' और 'सतीप्रताप' को मौलिक माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'सत्य हरिश्चन्द्र' की गणना मौलिक नाटकों में नहीं करते। × वे इसे एक बंगला नाटक का अनुवाद मानते हैं। बा० ब्रजरत्नदास 'सत्य हरिश्चन्द्र' के साथ ही 'विद्या सुन्दर' को भी मौलिक नाटक ही मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'.........इसका मूल, संस्कृत का 'विद्यासुन्दर' तथा 'चौरपंचाशिका' है, जिसका रचयिता स्यात् यही सुन्दर है......इसी के आधार पर बङ्गला भाषा में "रामप्रसाद सेन" तथा 'भारत चन्द्रराय गुणाकर',ने दो काव्य तथा महाराज जोगेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नाटक निर्मित किया था। गुणाकार के काव्य के आधार पर हिन्दी में भारतेन्दु ने इस नाटक को लिखा था।'* भारतेंदु ने 'विद्यासुन्दर' की भूमिका में लिखा है—'...महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलम्बन करके जो 'विद्यासुन्दर' नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह वर्ष हुए, यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ है।'+

भारतेन्दु के इस उद्धरण में और बा० ब्रजरत्नदास के उद्धरण में ही मतभेद है। बा० ब्रजरत्नदास ने इसे गुणाकार के काव्य पर आधारित लिखा है और बंगला नाटककार का नाम जोगेन्द्र नाथ ठाकुर लिखा है; जबकि भारतेन्दु ने बंगला नाटककार का नाम यतीन्द्र मोहन ठाकुर लिखा है और इन्ही के नाटक की छाया पर आधारित अपने नाटक को बताया है। भारतेन्दु का उद्धरण ही प्रामाणिक मानना चाहिये। इस उद्धरण से यही प्रतीत होता

× 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ५४८ पं० रामचन्द्र शुक्ल।

* 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' पृ० १६० बा० ब्रजरत्नदास

+ 'भारतेन्दु ग्रंथावली' पृ० १

है कि भारतेन्दु ने बंगला नाटक की छाया पर इस नाटक को मौलिक रूप से लिखा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के मौलिक तथा अनुवादित नाटकों के सम्बन्ध भी विद्वानों में प्रचुर मतभेद है और इस सम्बन्ध में भी विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है। हम भारतेन्दु के नाटकों पर अपना यह अनुशीलन बा० ब्रजरत्नदास द्वारा वर्गीकृत मौलिक तथा अनुवादित नाटकों को आधार बनाकर करेंगे। क्योंकि इस समय तक उपलब्ध सामिग्री के आधार पर यह वर्गीकरण ही उचित प्रतीत होता है।

अनुवादित—(१) 'रत्नावली' (सन् १८६८ अपूर्ण); (२) 'पाखंड विडंवन' (१८७२); (३) 'धनंजय विजय (१८७३); (४) 'मुद्राराक्षस' (१८७५) ; (५) 'कर्पूर मंजरी' (१८७६) ; (६) 'दुर्लभ बन्धु' (१८८०)।

मौलिकः—(७) 'विद्यासुन्दर' (१८६८); (८) 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' (१८७३); (६) प्रेम जोगिनी' (१८७५ अपूर्ण); (१०) 'विषस्य विषमोषधम् (१८७५) ; (११) 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५); (१२) 'श्री चन्द्रावली' (१८७६) ; (१३) 'भारत दुर्दशा' (१८७६); (१४) 'भारत जननी' (१८७७); (१५) 'नीलदेवी' (१८८०); 'अन्धेर नगरी' (१८८१); (१७) 'सती प्रताप' (१८८४ अपूर्ण)।

आगे हम मौलिक नाटकों का विस्तार से विवेचन करेंगे और अनुवादित नाटकों पर संक्षिप्त टिप्पणी मात्र देंगे।

युग-यथार्थ और उनका दृष्टिकोण

—*!!!*—

युग-विधायक साहित्य की संज्ञा वही साहित्य प्राप्त करता है, जिसमें एक युग की वास्तव प्रतिकृति का यथार्थ चित्रण हुआ हो, जिस प्रतिकृति को देखकर वर्तमान मानव अपने जीवन को गति देने और उसे संवारने की प्रेरणा पा सके, और आगत मानव उस युग का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक, समग्र जीवन का, दर्शन कर सके; और समझ सके कि वह किस धरातल से आगे बढ़कर वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुआ है। यह प्रतिकृति ऐसी होती है, जो तत्कालीन मानव को युग-वास्तव का यथार्थ दर्शन कराने के साथ-साथ, उसके जीवन को स्वस्थ गति भी प्रदान करती है। युग यथार्थ का जो चित्र जीवन की विरूपताओं मात्र का चित्रांकन उपस्थि करता है, जिससे युग मानव में सजगता के स्थान पर अपने जीवन के प्रति जुगुप्सा जाग्रत होती है और उससे जीवन में स्वस्थ गति के स्थान पर विरक्ति और निराशा का भाव उदय होता है, वह चित्रांकन कभी जीवित और महान नहीं होता। इसी को हम दूसरे शब्दों में प्रकृत चित्रण कह सकते हैं। उसके विपरीत, यथार्थ चित्रण जीवन की महान यथार्थ तस्वीर के साथ जीवन की महान स्वस्थ सम्भावनाओं की ओर मानव को गति देता है।

आगत पीढ़ियाँ भूत के उसी साहित्य को अपनी श्रद्धा और सम्मान अर्पित करती हैं, जो उनके गत जीवन-वास्तव के दर्शन के साथ उन्हें उनके जीवन की स्वस्थ गति और विकासक्रम का दर्शन करा सके, और जिससे वह आज भी जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा और बल प्राप्त कर सकें; जीवन को स्वस्थ और उदात्त बनाने का आत्मबल प्राप्त कर सकें। ऐसा ही साहित्य गौरवशाली परम्परा और विरासत का स्थान पाता है, जिसके अनुशीलन से आगत मानव अपने जीवन की समस्याओं पर तथा जीवन संघर्ष पर विजय प्राप्त करने को चेतना प्राप्त करता है। इसी कारण ऐसा साहित्य युग-विधायक के साथ-साथ अमर प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा प्राप्त करता है।

बाल्मीक, कालिदास, कबीर, तुलसी, टाल्सटाय और गोर्की आदि ऐसे

ही युग-विधायक साहित्य के प्रणेता थे। जिन्होंने जीवन वास्तव को एक स्वस्थ गति प्रदान कर भविष्य के नये इंसान को जन्म दिया। इसीलिये ये कलाकार हमारी श्रद्धा के पात्र हैं और इनका साहित्य आज भी हमें अपनी अनेक निराशाओं में नई प्रेरणा देता है। भारतेन्दु चेतना की दृष्टि से ऐसे ही युग-विधायक कलाकार थे, भले ही कला की दृष्टि से वे इन महान कलाकारों की पंक्ति में नहीं आते।

भारतेन्दु युग-विधायक कलाकार हो सके, क्योंकि वे हिन्दी साहित्य के युग-मोड़ के एक चेतन कलाकार थे। जब इतिहास एक मोड़ लेता है, तो वह उसके जीवन का एक सबसे नाजुक अवसर होता है। इतिहास अपना पुराना दौर समाप्त कर अपने नये मोड़ पर आगे बढ़ चलता है, और उसका प्राचीन एक परम्परा की चीज हो जाता है। नई मोड़ पर इतिहास में अनेक नई धारायें आ मिलती हैं। ऐसे नाजुक समय का कलाकार प्राचीन परम्परा का, युग की नई धाराओं के साथ उचित सामंजस्य बैठाता हुआ, उसके ठोस धरातल पर युग-निर्माण की चेतना देता है। इतिहास की गत परम्पराओं से वह उन तत्वों को खोज निकालता है, जो इतिहास के नये दौर के साथ चल सकें; जिनके आधार पर नया युग अपना भवन निर्मित कर सके।

साहित्य ही वह साधन है, जिसमें मानव की प्राचीन परम्परा अक्षुण्ण और सुरक्षित रहती है और साहित्य ही वह सशक्त साधन है, जो उस परम्परा पर युग प्रत्यावर्त्तन से जमी कर्दम में नये कमल का बीजारोपण करता है। इतिहास के प्रत्येक ऐसे संक्रान्तिकाल में उसकी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और संस्कार विकृत होने लगते हैं। नये और पुराने का असम्बद्ध और उच्छृङ्खल मेल मानव जीवन में ऐसे ही विकार उत्पन्न कर देता है। प्राचीन परम्परा अन्धविश्वास और रूढ़िगत रूप में जीवित रह जाती है; जिसे नये दौर की सन्धि का मानव अपनाता भी है और नहीं भी; अपनाना चाहता भी है और नहीं भी। छोड़ता भी नहीं; क्योंकि वह उसके संस्कार में पैवस्त है। छोड़ना चाहता है; क्योंकि वह अपने को नये रंग में रंगना चाहता है। इसीलिये वह प्राचीन परम्परा की मनमानी व्याख्या गढ़ लेता है। परिणाम होता है—कि नया भी विकृत होता है और प्राचीन भी। ऐसे अवसर पर एक जागरूक कलाकार का दायित्व सबसे महत्वपूर्ण होता है। उसे प्राचीन को नये दृष्टिकोण से परखना होता है, और देखना होता है कि प्राचीन विरासत से कौन कौन से रत्न आज हमारे काम के हैं और नये को प्राचीन की कसौटी

पर कसना होता है और देखना होता है कि हमारी स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा का इससे कहाँ तक मेल बैठता है। जो कलाकार ऐसी परख को लेकर युग-निर्माण की चेतना का साहित्य सृजन करता है, वही युग नियंता कलाकार होता है, और उसका साहित्य ही युग-विधायक साहित्य होता है। ऐसा कलाकार मानव-जीवन-यथार्थ के निकट जाकर खोजता है, कि किन किन प्राचीन रूढ़िगत परम्पराओं ने, और किन नवीन भावनाओं ने मानव जीवन को विकृत कर रखा है। विकृति की इस सत्यता को परख कर वह उन पर प्रहार करता है और स्वस्थ प्राचीन और स्वस्थ नवीन की समन्वित भूमि पर मानव को नये जीवन-निर्माण की नयी चेतना देता है। भारतेन्दु ऐसे ही जागरूक कलाकार थे।

संक्रान्तिकाल के कलाकार का सबसे प्रथम दायित्व होता है—मानव को उसके विकृत जीवन की यथार्थ तस्वीर दिखाना और उसे उस जीवन से निकल भागने के मार्ग की तलाश के लिये बेचैन कर देना। भारतेन्दु के नाटकों में यही शक्ति है।

भारतेन्दु ने प्राचीन श्रेष्ठ और प्राचीन ध्वस्त और विकृत एवं आर्वाचीन श्रेष्ठ और आर्वाचीन विकृत के बीच अलगाव कर प्राचीन तथा नवीन के स्वस्थ सामंजस्य से नये जीवन, नये साहित्य, नई संस्कृति के निर्माण की नींव डाली। जिसमें उनके नाटक उनके सशक्त साधन थे।

हम आज के अपने जीवन की यथार्थ तस्वीर को यदि और धुँधलाकर देखें, तो हमें भारतेन्दु-युग के जीवन की एक झलक मिल सकती है।—

जनता धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से नाना जातिगत रूढ़ियों मिथ्या विश्वास-जन्य पाखंडों, धर्माडम्बरों, अन्धविश्वास जन्य विकारों में ग्रस्त थी। नाना मत प्राचीन धर्म की धज्जियाँ फाड़-फाड़ कर अपने अपने मनोनुकूल उसका झंडा बुलन्द कर रहे थे। समस्त प्राचीन संस्कार और संस्कृति अपने विकृत रूप में जनता के मन-प्राण को जकड़े हुए थी। यह तो थी उस काल में जनता की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था।

विदेशी, शासन देश पर विदेशी संस्कृति का प्रभाव डाल रहा था। विदेशी राज्य के बल-वैभव ने देशवासियों को निश्चेष्ट और किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया था। विदेशी सभ्यता की तड़क-भड़क ने उसको चकाचौंध में डाल दिया था, जिससे हमारी संस्कृति और सभ्यता के असम्बद्ध उच्छृङ्खल मेल ने जनता के जीवन को विकृत कर दिया था। विदेशी शासन के शोषण के

कारण देश की आर्थिक दशा भी गिरती जा रही थी। सारा धन विदेश चला जा रहा था। देशी कारोबार चौपट हो रहा था। मंहगी, अकाल, रोग, महामारी का दौरदौरा था। विदेशी शासन में देश-सुधार की बात सोचना भी गुनाह हो रहा था। देश के राजा नवाब विदेशी सरकार के हाथ की 'शतरंज की मोहरें' हो रहे थे। धनी और प्रतिष्ठित वर्ग अपना धन और प्रतिष्ठा बढ़ाने के दाँव-पेंच में लगे थे। धार्मिक लोग अपने पाखण्ड में मस्त थे। शिक्षित वर्ग विदेशी सभ्यता और सरकार की हाँ में हाँ मिला रहे थे। साधारण जनता तो बिल्कुल चेतनाहीन और निष्प्राण थी। देश-सुधार की बात कोई न सोचता था। ऐसी थी उस युग में मानव-जीवन-नाटक की यथार्थ तस्वीर, जिसकी सजीव यथार्थ अनुकृति को भारतेन्दु ने नाट्य कला के साधन से रंगमंच पर प्रस्तुत किया और उसका प्रत्यक्ष दर्शन इस काल की जनता को कराया, ताकि जनता अपने जीवन—वास्तव की विकृत यथार्थता को देखकर सचेत हो सके। 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', 'अन्धेर नगरी', 'विषस्य-विषमौषधम', 'प्रेम जोगिनी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', आदि नाटकों की कथा वस्तु को यदि हम एक साथ मिलाकर देखें, तो ऊपर का चित्र साकार हो उठेगा। इनमें देश की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सभी स्थितियों का चित्रण हुआ है।

भारतेन्दु के नाटकों में युग-यथार्थ का ऐसा सजीव सांगोपांग चित्र उपस्थित हुआ है कि हम आज भी उनके नाटकों का अध्ययन कर, उनके युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति के वास्तविक चित्र के दर्शन कर सकते हैं।

भारतेन्दु के समस्त नाटकों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। उनके यथार्थवादी नाटकों में चित्रित युगचित्र के सामान्य रूप से चार पहलू हैं—सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व आर्थिक और सांस्कृतिक।

आदर्शवादी नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी', 'चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' आते हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक व पौराणिक है। इन आदर्शवादी नाटकों में भी हम भारतेन्दु की सामाजिक यथार्थवादी प्रगतिशील दृष्टि का ही अवलोकन करते हैं। इन नाटकों के कथानकों द्वारा वे जनता के सामने प्राचीन संस्कृति के उन गौरवशाली तत्वों को रखना चाहते थे, जिनकी वर्तमान में जीवन-संस्कार और परिष्कार के लिये नितान्त आवश्यकता थी।

उन्होंने प्राचीन संस्कृति के इन तत्वों को युग यथार्थ की वाँछा की दृष्टि से ही चुना था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के द्वारा सत्यनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, बातनिष्ठा का आदर्श वह जनता के सामने रखना चाहते थे। 'नीलदेवी' नाटक के द्वारा भारतेन्दु ने भारतीय नारियों के सम्मुख देश के लिए वीराङ्गना बनने का आदर्श रखा है। 'सती प्रताप' नाटक के द्वारा चरित्र निष्ठा का आदर्श प्रस्तुत किया है। 'चन्द्रावली' में प्रेम का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

शेष नाटकों में तो युग यथार्थ सीधे सरल रूप में चित्रित हुआ है। उसमें यथार्थ का वास्तविक चित्र उपस्थित करने की उनकी दृष्टि रही है। हम उनके नाटकों में चित्रित युग-यथार्थ के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप से विवेचन पीछे कर आये हैं। अब हमें इस जीवन वास्तव के प्रति उनके नाटकों में चित्रित दृष्टिकोण का विवेचन करना है।

भारतेन्दु विदेशी शासन को चाहे वह यवनों का रहा हो और चाहे अब अंगरेजों का हो, ही 'भारत दुर्दशा' का मूल कारण मानते थे। यवन शासन के कारण हुई देश की अधोगति का इतिहास तो उनके सामने था। और अब अंगरेजी शासन के शोषण का रूप भी उनके ही सामने स्पष्ट होता जा रहा था। विदेशी शासन के प्रति उनकी यह दृष्टि सभी यथार्थवादी नाटकों में परिलक्षित होती है। अंगरेजों के सम्पर्क से देशवासियों ने उनके अनेक विकार सीखे थे। परन्तु भारतेन्दु की सजग दृष्टि से अङ्गरेज जाति के गुण भी न छिप सके और वे उन गुणों का देश की प्रगति के लिये सजग, सचेत रूप से उपयोग करने के पक्षपाती थे। किन्तु अङ्गरेजी सरकार के शोषक रूप पर से उनकी जागरूक दृष्टि कभी नहीं हटी। प्रायः सभी नाटकों में अंग्रेजी सरकार की नीति, उसके लगाये टैक्सों, और उसके आर्थिक शोषण पर उन्होंने तीखे व्यंग प्रहार किये हैं। 'भारत दुर्दशा' में तो अंग्रेजी सरकार के प्रति उनके प्रहार अत्यन्त ही स्पष्ट और प्रखर हो उठे हैं। 'भारत दुर्दशा' में 'भारत दुर्दैव' पात्र को पहले मुसलमान और क्रिस्तानी के मिले जुले वेश तथा बाद में सीधे क्रिस्तानी रूप में चित्रित किया गया है। जिससे उनका यह विचार स्पष्ट हो जाता है कि भारत विनाश मुसलमानों के आगमन से प्रारम्भ हुआ और अब अंग्रेजी राज्य में सम्पूर्णता को प्राप्त होता जा रहा है। वे देश की वर्त्तमान राजनीतिक, आर्थिक और साँस्कृतिक अधोगति का कारण अंग्रेजी सरकार को मानते थे। तभी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी

सरकार पर प्रहार उन्होंने अपने सभी तात्कालिक जीवन सम्बन्धी नाटकों में किये है।

१८५७ के विप्लव के दमन और एकदम से सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजी आधिपत्य और उनके अत्याचार और शोषण से जनता प्राणहीन हो उठी थी। उसके लिये विक्टोरिया का उदार शासन एक नई आशा की किरण थी। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर जनता के भग्नाश हृदयों को नई आशा देने के प्रति भी भारतेन्दु जागरूक दीख पड़ते हैं। कम्पनी शासन की अपेक्षा विक्टोरिया का शासन कहीं उदार था। इसी अपेक्षित दृष्टि से वे देशवासियों को नई चेतना देते हैं। इसके साथ ही वे अंग्रेज जाति और अंग्रेजी सरकार के प्रति भी भेद-दृष्टि रखते थे। 'भारतजननी' में विक्टोरिया से भारत की दुर्दशा को दूर करने की 'गुहार' और 'पहले साहब' और दूसरे साहब' के भारत के प्रति दृष्टिकोण-भेद का यही रहस्य है। किन्तु इसके साथ ही उनकी दृष्टि इस सम्बन्ध में स्पष्ट थी, कि विक्टोरिया से 'गुहार' करने का भी कोई परिणाम नहीं होगा और भारतवासियों को अपना आलस्य छोड़ देश की उन्नति के लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा।

'उठौ उठौ भैया क्यों हारौ अपुन रूप सुमिरौ री
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झट पट सुरत करौरी—
दीनता दूरि धरौरी।'

\+ + + +

'खान पियन अरु लिखन पढ़न सौं काम न कछु चलौरी
आलस छोड़ि एक मत ह्वै कै साँचौ वृद्धि करौरी····
समय नहिं नैंकु बचौरी।
उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन सान धरौ री,
विजय निसान बजाय बावरे आगेइ पाँव धरौरी।

एक युगनेता सदैव युग परिस्थितियों के भीतर ही ऐसे दाँव पैंच अपनाता है कि जनता परिस्थिति की सीमा की विकास अवरोधक पेश बंदियों को सफ-लता से तोड़कर आगे बढ़ सके। भारतेन्दु युग चेता साहित्यकार से अधिक एक युग नेता थे। उन्होंने युग की नब्ज को पहिचाना था और उन परस्थि-तियों में वे जनता को जितनी चेतना दे सकते और जिन-जिन रूपों में दे सकते थे, उन सबका सजग रूप से उन्होंने उपयोग किया है। भारत जननी में हमें उनके इस राजनीतिक पैंतरे का ही रूप देखने को मिलता है।

'भारत दुर्दशा' में उन्होंने अंग्रेजी सरकार और नौकरशाही की कटु आलोचना की। 'भारत जननी में उन्होंने कम्पनी सरकार तथा विक्टोरिया के शाशन के प्रति तथा भारत के प्रति अच्छे विचार और सहानुभूति रखने वाले अंग्रेजों और भारत की उपेक्षा और शोषण करने वाले अंग्रेजों में भेद दृष्टि उपस्थित की और अंग्रेजों की अच्छी बातों को अपनाने की बात कही है। वे समझते थे कि अंग्रेज सभ्यता और संस्कृति आज विश्व की सबसे उन्नत सभ्यता और संस्कृति है। हमें उससे जितना अधिक ज्ञान और नई दृष्टि प्राप्त की जा सके, करनी चाहिये। और उससे अपने देश की उन्नति करनी चाहिए। हाँ, उसके विकृत प्रभाव से अवश्य सजग रहना चाहिये। वे कूप-मंडूकवादी नहीं थे। वे जहाँ भी तत्व हो वहाँ से ग्रहण करने के पक्षपाती थे। वस्तुतः अंग्रेजी शासनकाल के अपने देश के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो सहज ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि अंग्रेजों के सम्पर्क से हमें जो चेतना मिली उसी ने अंग्रेजी राज्य की क़ब्र खोदने का काम किया है। हिन्दी साहित्य में इस चेतना का स्वस्थ ग्रहण तथा साथ ही अंग्रेजी सरकार की कटु आलोचना और उनकी विकृतियों से सचेत रहने की दृष्टि हमें सबसे पहले भारतेन्दु के नाटकों में ही देखने को मिलती है।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु के नाटकों का विशेष बल देश-जीवन के परिष्कार तथा उसकी विकृतियों को दूर करने पर है। वे इस सम्बन्ध में जागरूक थे कि भारत अपने खोये और भूले पौरुष के प्रति चैतन्य होकर और अपने वर्त्तमान जीवन की विकृतियों को समझ कर ही आगे बढ़ सकता है। इसीलिये भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जीवन-संस्कार के इस पक्ष पर अधिक जोर दिया है। उनके सभी नाटकों में जीवन की विकृतियों पर तीखे व्यंग हुए हैं। उनके नाटकों में देश-दुर्दशा के प्रति स्यापा नहीं है वरन् एक सजग सचेत सामाजिक यथार्थवादी प्रगतिशील दृष्टि है।

भारतेन्दु के नाटकों में सामन्ती जीवन की विकृतियों पर भी तीखे व्यंग हुए है उन्होंने राजाओं की खूब खबर ली है।

भारतेन्दु ने सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक नेताओं और उनके कारण जीवन तथा देश में आई विकृतियों और विरूपताओं को ही अपने व्यंग वाणों का निशाना बनाया है। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्र के नेताओं, पण्डितों, पुरोहितों, महन्तों, साधुओं, तथा कथित प्रतिष्ठित और धनी व्यक्तियों, राजाओं तथा राजनीतिक क्षेत्र के नेता के रूप

में अंग्रेजी सरकार को चुनकर, इन्हीं को अपने नाटकों का प्रतीक रूप में पात्र बनाया है और इस सब के कारण विभिन्न क्षेत्र में हुई देश की दुर्दशा को प्रतीक रूप में अपने नाटकों की कथा बनाया है।

उनके यथार्थवादी तत्कालीन जीवन-सम्बन्धी नाटक सामूहिक रूप से देश की तत्कालीन यथार्थ स्थिति का क्रम-बद्ध व्यापक समग्र चित्र उपस्थित कर देते हैं।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में देश की दुर्दशा को सुधारने का संदेश भी दिया है। सामाजिक, धार्मिक, साँस्कृतिक तथा राजनीतिक और आर्थिक जीवन की विकृतियों से अपने को छुटकारा दिलाने और अपने को सुधारने की प्रतीक व्यंजना तो समग्र रूप से समस्त नाटकों से होती ही है। इसके अतिरिक्त स्वदेशी प्रचार, शिक्षा की व्यापकता, एकता, भारतीय राष्ट्रीय गौरव को अपनाने का सन्देश भी भारतेन्दु के नाटकों से स्पष्ट व्यंजित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु भले ही अपने नाटकों में नाट्यकला का उतना परिष्कार न कर सके। पर उन्होंने एक सजग कलाकार के नाते देश का साहित्यिक नेतृत्व ही नहीं किया वरन् सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक नेतृत्व भी किया है।

वस्तु-चयन और वस्तु-विन्यास

—*:०:*—

साहित्य के प्रत्येक अङ्गोपाङ्ग में–चाहे वह नाटक हो या उपन्यास, कहानी हो या कविता, वस्तु चयन और वस्तु-विन्यास का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कोई कृति पाठक जनता को कितना आप्लावित, उद्वेलित और प्रभावित करती है; उसकी गोचर और कल्पना दृष्टि के सम्मुख भाव-चित्रों को कितनी आकर्षक और स्पष्ट साकारता और मूर्त्तिमत्ता प्रदान करती है और उसमें जीवन-गति या शिथिलता उत्पन्न करती है, यह जितना इस बात पर निर्भर करता है कि कृति का कलात्मक रूप-निखार कैसा है; उतना ही इस बात पर भी निर्भर करता है कि कृति की वस्तु और उसका विकास और परिणति तथा उसमें निहित भावना पाठक की हृतंत्री में कैसे स्वर-राग भरती है।

वस्तु का मनुष्य के वास्तव-जीवन से कितना गहरा संबंध है? वह उसमें अपने जीवन की कैसी और कितनी झाँकी देखता है? उस झांकी को देखकर उस पर क्या प्रतिक्रिया होती है आदि बातें ही इस बात की कसौटी होती है कि अमुक कृति की वस्तु जीवन को गति देने वाली और उसे उदात्त बनाने वाली है अथवा गति रोधक अतीतोन्मुखी निराशावादी। मनुष्य को वह कृति जीवन की समस्याओं से संघर्ष करने की प्रेरणा देती है अथवा नहीं। इसी कसौटी से अमुक कृति आदरणीय और महानता का पद प्राप्त करती है।

मनुष्य स्वभावतः सौंदर्य प्रेमी है। कला का सुन्दर रूप भी उसके मन पर अपना प्रभाव डालता है। अस्तु कोई वस्तु कितने विन्यास के साथ पाठक के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है इसका भी बड़ा महत्व है। कला मनुष्य के संस्कृत संस्कारों का मापदण्ड है और साहित्य ही मनुष्य के कला-संस्कारों को परिष्कृत करता है। कला की उदात्तता और उत्कृष्टता मानव संघर्ष की गति तथा सामाजिक चेतना की द्योतक है। कला जहाँ स्वयं मानव-विकास के लिये नवोन्मेषकारिणी; नवोगति प्रदायिनी और नव भावोद्बोधिनी भी है; कलाकार अपनी वस्तु की सत्य यथार्थता को कला परिधान से सजा संवारकर इस संवेदनीयता के साथ पाठक के हृत्पट पर उसका रूप चित्र उपस्थित करता है,

कि जिसमें उसका वाह्य अन्तस, चेतन और उपचेतन सम्पूर्ण रूप से प्रभावित हो जाता है। उसके सामने दृष्टि पथ भासित हो उठता है।

साहित्यकार जब अपने आस पास अपने वर्त्तमान के जीवन-वास्तव से इतना उद्वेलित हो उठता है और उसके अन्तस की भावतरणी इतनी तरंगित हो उठती है कि वह हृदय के कगारों को तोड़कर उन्मुक्त बहने लगती है तभी वह साहित्य के रूप में चित्रित हो जाती है।

प्रत्येक साहित्यकार अपने युग वास्तव से प्रभावित रहता है। कोई तो युग-समस्या की गुत्थी सुलझाने के लिये अतीत की ओर देखता है तो कोई वर्त्त-मान के जीवन संघर्ष और जीवनव-ास्तव में ही इस सत्य को खोजने की दृष्टि का सकेत देता है और कोई युग-यथार्थ का ऐसा चित्रण प्रस्तुत करता है जिससे मनुष्य अपने जीवन की वास्तविक सूरत देख सके और उसे सुधारने के लिये विह्वल हो उठे। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में ऐसे ही युग-यथार्थ का चित्रण किया है।

नाटक शिल्पी के लिये जीवन वास्तव से और भी गहन संवेदनीय निकटता वाँछित है; क्योंकि वह बृहद् मानव-जीवन के नाटक की अनुकृति को इस रूप में गढ़ कर रंगमंच पर प्रस्तुत करता है कि सामाजिक उसमें जीवन की विकृ-तियों का रूप देख नाटक-दर्शन में विभोर हो परम तन्मयता की अवस्था को प्राप्त कर ले। साधारणीकरण तभी संभव है।

नाटक के वस्तु चयन में नाटककार से जिस पैनी यथार्थ संवेदनीय दृष्टि की वाँछा है उसके साथ ही उससे इस बात की भी आशा की जाती है कि वह उस वस्तु का शिल्पविन्यास इस चातुरी से करेगा कि जिससे वस्तु का अभीष्ट और पात्रों का चरित्र अपने स्वाभाविक रूप से विकसित हो।

प्रत्येक युग-चेता कलाकार अपनी कलाकृति के वस्तु-चयन में युग से प्रभावित होता है। भारतेन्दु को भी युग परिस्थितियों ने प्रभावित किया था वे युग की माँग से भली भाँति परिचित थे। इसीलिये उन्होंने अपने नाटकों के वस्तु चयन में अपना एक स्पष्ट दृष्टिकोण बना लिया था; जिसे हम यथार्थ वादी दृष्टिकोण कह सकते हैं। उनका यह दृष्टिकोण उनके सभी मौलिक नाटकों में परिलक्षित होता है।

उनके मौलिक नाटक ११ है :—

(१) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (२) 'सत्य हरिश्चन्द्र' (३) 'चन्द्रावली' (४) 'विसस्यविषमोषधम्' (५) 'भारतदुर्दशा' (६) 'नील-

देवी' (७) 'विद्यासुन्दर' (८) 'अन्धेरनगरी' (९) 'भारतजननी' (१०) 'प्रेम जोगिनी' (११) 'सतीप्रताप'। भारतेन्दु के इन समस्त नाटकों में केवल चंद्रावली और विद्यासुन्दर हो छोड़कर शेष सभी की वस्तु चाहे वह पौराणिक हो, चाहे ऐतिहासिक अथवा तत्कालीन सभी के चयन में भारतेन्दु की दृष्टि युग यथार्थ की आवश्यकताओं पर रही है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का वस्तु चयन तत्कालीन धर्माडम्बरों की आड़ में धर्माधिकारियों की बढ़ती हुई तामसीवृत्तियों की पोल खोलकर जनता को सजग करने की दृष्टि से ही किया गया है।

'विषस्य विषमौषधं', 'भारतदुर्दशा' 'अन्धेर नगरी' 'भारतजननी', 'प्रेम-जोगिनी' नाटकों की वस्तु तो तत्कालीन विभिन्न जीवन क्षेत्रों से सीधे-सीधे ली गई है। 'भारतदुर्दशा' की कथा सम्पूर्णरूप में तत्कालीन भारत की दुर्दशा और उसके कारणों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। कथा और पात्र सभी अमूर्त की मूर्त कल्पना के द्वारा अपने प्रतीकरूप में प्रस्तुत हुए हैं। उसमें जीवन का सम्पूर्ण क्षेत्र धार्मिक, सामाजिक राजनीतिक आर्थिक सबको एक संग ही लेखक ने नाटक के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

'भारतजननी' भी भारत की दयनीय दशा पर आधारित एक प्रतीकात्मक नाटक है।

'प्रेम जोगिनी' यद्यपि अपूर्ण है फिर भी वह तत्कालीन बनारस की यथार्थ दशा को चित्रित करने में समर्थ है।

इस प्रकार इन सभी सामाजिक नाटकों में युग-सत्य अपने सीधे रूप से चित्रित हुआ है।

'नीलदेवी', 'सती प्रताप' तथा सत्य हरिश्चन्द्र के आख्यान क्रमशः ऐतिहासिक व पौराणिक हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो 'नीलदेवी' और 'सती प्रताप' नाटकों की कथायें युग-नारी के सम्मुख दो आदर्शों के उदाहरण हैं जो संयुक्त रूप से तत्कालीन नारी के सम्मुख एक ही आदर्श की चेतना प्रस्तुत करते हैं। 'नीलदेवी' में एक ऐसी नारी का चरित्र है जो देश के दुश्मन को परास्त करने के लिये शस्त्र ग्रहण करती है और 'सती प्रताप' में एक ऐसा नारी-चित्र उपस्थित किया गया है जो पतिव्रता है। दोनों ही चरित्रों को प्रस्तुत करने में भारतेन्दु का अभीष्ट युग की नारी के सामने देशहित के लिये कटिबद्ध सती नारी की चेतना प्रस्तुत करना है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' के निर्माण में भारतेन्दु की दृष्टि स्पष्ट ही तत्कालीन समाज के ढोंग, पाखंड और असत्य-प्रियता पर रही है। राजा हरिश्चन्द्र के चरित्र में उन्होंने देश के सामने सत्य के लिये अपना सब कुछ त्याग देने का आदर्श प्रस्तुत किया है, जिसकी उस समय परम आवश्यकता थी। नाटक के उपक्रम में वे स्वयं लिखते हैं। 'इस भारतवर्ष में उत्पन्न और हम लोगों के पूर्व पुरुष महाराज हरिश्चन्द्र भी थे। यह समझकर इस नाटक के पढ़ने वाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।'*

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके ११ मौलिक नाटकों में से ९ मौलिक नाटकों के वस्तु चयन में उनकी दृष्टि सामाजिक यथार्थवादी प्रगतिशील कलाकार की दृष्टि रही है।

भारतेन्दु ने वस्तु-चयन के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है, "………समाज-संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति ; विवाह सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथाभाग का इस बुद्धि से संगठन कि उससे देश की कुछ उन्नति हो।… …देश वत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों व देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है।"§

इस प्रकार उपरोक्त दृष्टि से भारतेन्दु के सभी नाटक केवल चन्द्रावली और विद्यासुन्दर को छोड़कर उपरोक्त दोनों श्रेणियों में ही आ जाते हैं, चाहे वह प्रहसन ही क्यों न हों।

कथानक की दृष्टि से उनके नाटक ३ प्रकार के हैं—ऐतिहासिक, पौराणिक तथा तत्कालीन सामाजिक। किन्तु चेतना की दृष्टि से दो ही प्रकार के हैं—'समाज संस्कार' और 'देश वत्सलता' से पूर्ण। दोनों को ही हम यथार्थवादी नाम दे सकते हैं।

उनके नाटकों में जीवन वास्तव के विविध चित्रों का ही अङ्कन हुआ है। जनता अपने प्राचीन गौरव को भूल चुकी थी। सर्वत्र अविद्या, अन्धविश्वास, धार्मिक पाखण्ड और अनाचार का दौरदौरा था। परस्पर वैमनस्य, फूट, कलह स्वार्थपरता से जन-जीवन जर्जरित हो रहा था। भारत, अंग्रेजी राज्य के कारण 'भारत दुर्दैव' के चक्कर में तेजी से फँस रहा था। एक तो यवनों ने ही उसे

* भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग—१ पृ० २५६

§ वही—नाटक—पृ० ७२०-२१

पहले से चूसकर निश्चेष्ट कर दिया था। देशी राजा अपने ऐशों में मस्त हो प्रजा पर जुल्म ढा रहे थे और पापाचार और व्यभिचार का जीवन व्यतीत कर रहे थे। भारत के नर-नारी अपने आदर्शों से च्युत हो गये थे। संक्षेप में तत्कालीन समाज की इसी यथार्थ दशा को भारतेन्दु ने अपने नाटकों में रूपापित किया है। भारतीय गौरव का स्मरण कराकर धर्माडम्बरों और पापाचारों से सजग कर जनता के सामने उसकी वास्तविक हीनावस्था का सजीव चित्र उपस्थित कर, उसमें नवीन रक्त का संचार करने का युगानुरूप प्रगतिशील तत्व उनके सम्पूर्ण नाटकों विद्यमान है। उनका प्रत्येक नाटक आलोक पुंज छोड़ता हुआ युग-पथ को प्रकाशित करता है।

भारतेन्दु युग चेतना की दृष्टि से भी संक्रान्ति युग था। नये युग के आगमन के समय अनेक प्राचीन परम्परायें ध्वस्त होती हैं और अनेक नये आदर्श जन्म लेते हैं। अनेक प्राचीन आदर्श नये के मेल में अपना स्थान बना लेते हैं। एक युग-दृष्टा कलाकार सदैव प्राचीन सजीव परम्परा पर नये आदर्शों का निर्माण करता है और युग को नई चेतना देता है। वही प्रगतिशील कलाकर होता है। जो केवल प्राचीन आदर्शों की ही ढपली बजाते हैं, वे अतीतवादी होते हैं, और युग को कुछ नया नहीं दे पाते। भारतेन्दु ने अतीत गौरव को युगानुरूप प्रस्तुत कर साहित्य में महत्तम कार्य किया है और चेतना की एक नवीन धारा प्रवाहित की।

भारतेन्दु की चयनित वस्तु अत्यन्त ही सरल और जीवन के निकट है। उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है। "अब नाटकादि-दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामिग्री परितोषिक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितान्त अरुचिकर हैं; इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं।१

......"नाटक लिखगा आरम्भ करके जो लोग उद्देश्य वस्तु-परम्परा से चमत्कार जनित और अति मधुर वस्तु निर्वाचन करके भी स्वाभाविक परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है.... ।"❀

नाटकों की कथा वस्तु के विन्यास में भी हम भारतेन्दु की यथार्थवादी

१ वही—१० स० २२

❀वही—पृ० स० ७३३-३४

युगपरक दृष्टि का अवलोकन करते हैं।

यहाँ पर भारतेन्दु के नाटकों के सम्बन्ध में एक आक्षेप को स्पष्ट कर देना उचित होगा। कुछ का कहना है कि भारतेन्दु के नाटकों की कला प्रकृतवादी है। यह आक्षेप एक हद तक सत्य है क्योंकि भारतेन्दु के नाटकों की कला में वह परिष्कार नहीं आ पाया था कि वे जीवन के यथार्थ वर्णन से स्वतः उद्भूत जीवन-विकास की दिशा का संकेत आपने कलात्मक रूप में कर पाते। कुछ नाटकों में यह सन्देश यदि आया है तो वह अत्यन्त कुगढ़ रूप में और कुछ नाटकों में केवल यथार्थ का यथा-तथ्य चित्रण भर होकर रह गया है। उनके यथार्थ चित्रण में निखरा हुआ गत्यात्मक सौन्दर्य नहीं है। यही उनकी कला की प्रकृतवादिता है और यह हम पहिले ही कह आए हैं कि भारतेन्दु एक प्रचारक अधिक थे परिष्कृत कलाकार अपेक्षाकृत कम; फिर भी वह जीवन को एक स्वस्थगति देने के लिए सजग, थे यह बात उनके सभी नाटकों से स्पष्ट है इसीलिए हम उनके नाटकों को प्रकृतवादी न कहकर यथार्थवादी कहेंगे।

उनके सम्मुख प्राचीन संस्कृत नाटकों का आदर्श था। किन्तु उन्होंने युग-रुचि की उसके प्रति प्रतिकूलता को पहचान लिया था। उन्होंने लिखा है "प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मंडली की जिस प्रकार रुचि थी वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य काव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गये हैं। किन्तु वर्त्तमानकाल में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है। इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलकंन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्ति संगत नहीं बोध होता।"१

उन्होंने अपने नाट्य शिल्प को प्राचीन और नवीन दोनों ही परम्पराओं से संवारकर सर्वथा एक मौलिक शिल्प-तंत्र के रूप में विकसित किया है। उन्होंने लिखा है, 'जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य का प्रणयन करना योग्य है।"❀

१ वही—पृ० सं० ७२१

❀ वही—पृ० सं० ७२१

भारतेन्दु ने अपने सभी नाटकों में कथावस्तु का विन्यास छोटे छोटे दृश्यों में किया है। एक के बाद एक दृश्य शीघ्रता से समाप्त होता हुआ कथा को गति प्रदान करता है और सारी कथा को एक सूत्र में बांधे फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करता जाता है। पहला दृश्य आगामी दृश्य में क्या होगा की जिज्ञासा दर्शक के मन में सहज ही उत्पन्न कर देता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के पहले दृश्य में विश्वामित्र का क्रोधित होकर राजा हरिश्चन्द्र का 'तेजोभ्रष्ट' करने की प्रतिज्ञा कर चला जाना, दर्शक के मन में अगले दृश्य की घटना जान लेने की उत्कंठा उत्पन्न कर देता है। विश्वामित्र राजा को 'तेजोभ्रष्ट' करने के लिये क्या क्या करते हैं और अन्त में उसमें सफल होते हैं या नहीं यह जिज्ञासा अन्त तक दर्शक के मन को कथावस्तु के साथ बांधे रहती है। राजा के प्रति दर्शक की सहानुभूति उत्पन्न कर नाटक का दूसरा दृश्य दर्शक की जिज्ञासा को और भी तीव्र और राजा के प्रति संवेदनीय बना देता है। इसी प्रकार 'भारत दुर्दशा' के पहले दृश्य में ही नाटक का करुण वातावरण उपस्थित हो जाता है। दूसरा दृश्य उसमें और तीव्रता उत्पन्न कर देता है और दर्शक के मन में करुणा उद्रिक्त होकर नाटक की कथा के करुण रस के साथ दर्शक का तादात्म्य स्थापित कर देती है। तीसरे दृश्य में 'भारत दुर्दैव' की भारत पर आक्रमण करने की योजनाओं से दर्शक में 'क्या होगा' की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। चौथे दृश्य में इसकी तीव्रता बढ़ जाती है। पाँचवे अङ्क का आरम्भ ही दर्शक के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है कि क्या यह सात सभ्य 'दुर्दैव' का सामना नेकर में समर्थ होंगे ? जब डिसलायल्टी उन्हें पकड़कर ले जाती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार और भारत दुर्दैव का गठबन्धन है और उस पर भरोसा करना भारत भाग्य का आत्महत्या करना ही है। नाटक का अन्त दर्शक को अपनी यथार्थ तस्वीर दिखाकर झकझोर देता है और यह चेतना प्रदान करता है कि हमें स्वयं कुछ करना होगा। उस काल में अंग्रेजी सरकार के प्रति जनता में जमें विश्वास, आशा और उस पर भरोसे की प्रवृत्ति को झकझोर देना एक बहुत बड़ा प्रगतिशील कार्य था। जिसे यह नाटक सफलता से पूर्ण करता है।

'नील देवी' तो वस्तु गठन की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का नाटक है। उसका प्रत्येक दृश्य कथा को विकसित करता हुआ एक दूसरे से सुगुम्फित है। उसमें जिज्ञासा तो पल-पल में तीव्र होती जाती है। जिस समय रानी

राजपूतों को अमीर पर हमला करने से रोक देती है, उस समय दर्शकों की जिज्ञासा तीव्रतर हो जाती है। और जब दर्शक रानी को चंडिका नर्तकी के वेश में अमीर के खेमे में जाकर नाँचते और अमीर को शराब पिलाते देखता है तो उसकी जिज्ञासा और विचारों का द्वन्द्व चरम सीमा पर पहुँच जाता है। नाटक की कार्य गति इतनी तीव्र है कि एक पल को भी दर्शक की दृष्टि शिथिल नही हो पाती।

भारतेन्दु के सभी नाटकों में प्रायः शिल्प-विन्यास की यही चातुरी दीख पड़ती है। नाटकों का अभीष्ट उद्देश्य वस्तु के गर्भ से निखरकर स्पष्ट हो जाता है। भारतेन्दु ने लिखा है कि जिज्ञासा का नाटकों में प्रमुख स्थान है। "नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापर बद्ध होनी चाहिये कि जब तक अन्तिम अङ्क न पढ़े किम्बा न देखे यह न प्रगट न हो कि खेल कैसे समाप्त होगा।"१

'विद्यासुन्दर' तथा अन्य सभी नाटकों में भी शिल्प गठन की ऐसी ही सुघरता देखने को मिलती है। 'विषस्य विषमौषधं', 'चन्द्रावली' और 'भारत जननी' का कथा विन्यास अवश्य शिथिल और दोष पूर्ण है। तीनों ही नाटक अभिनय की दृष्टि से भी निम्न कोटि के हैं। शेष सभी वस्तु विन्यास तथा अभिनय की दृष्टि से सफल और सुन्दर हैं।

भारतेन्दु के नाटकों के वस्तु-गठन में हम प्राचीन नाट्य-परम्परा से पर्याप्त भेद पाते हैं। इनके नाटकों में दृश्यों की विविधता प्राचीन नाट्य परम्परा के विपरीत है। उन्होंने लिखा है "प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है। और इसी हेतु अनेक गर्भाङ्कों की कल्पना की जाती है।"*

इनके कई नाटकों का अन्त भी प्राचीन परम्परा के विपरीत हुआ है। जैसे 'भारत दुर्दशा' का अन्त सुखांत न होकर प्राचीन परम्परा के विरुद्ध दुखांत है।

प्राचीन नाटकों की परम्परा के अनुसार रंगमंच पर वीभत्स दृश्य मृत्यु; चुम्बन; आत्महत्या आदि दिखाना वर्जित है। इनके नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' में श्मशान का वीभत्स दृश्य, नीलदेवी में हत्या, 'भारत दुर्दशा' में आत्महत्या; 'अन्धेर नगरी' में फाँसी का दृश्य; 'सती प्रताप' में चुम्बन आदि

---

१ वही—पृ० सं० ७४१

* वही—पृ० सं० ७१६

दिखाना नवीनता का ही समावेश है।

प्रस्तावना, मंगलाचरण, भरतवाक्य आदि का भी केवल कुछ ही नाटकों में समावेश हुआ है। नाटकों में कार्य की अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों, सन्धियों आदि के समावेश में भी वे नवीन दृष्टि लेकर ही चले हैं। "अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालङ्कार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं संफेट, कहीं पंच-सन्धि व ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही।"*

इस प्रकार भारतेन्दु ने भरत मुनि द्वारा कथावस्तु के गठन सम्बन्धी निर्धारित नियमों में से केवल उन नियमों को ही अपनाना समीचीन समझा है जो तत्कालीन रूचि के अनुकूल हों और जिनके द्वारा कथा की स्वाभाविकता अक्षुण्ण रह सके। उन्होंने अपने नाटक लेख में प्रस्तावना, चर्चरिका, कौशिकी सात्वती, आर्भटी और भारती वृत्तियों, उद्देश्य-बीज, आधिकारिक तथा प्रासंगिक वस्तुओं, देशकाल का निर्वाह और उद्देश्य आदि बातों का अपनाना ही समीचीन माना है। इनमें से भी अनेक बातों को उन्होंने अपने नाटकों में स्थान देने में सुधार-दृष्टि को अपनाया है। जैसे, प्रस्तावना अनेक में नहीं है। प्रासंगिक कथावस्तु भी केवल 'सत्य हरिश्चन्द्र' में, इन्द्रसभा की प्रासंगिक कथा के अतिरिक्त और किसी नाटक में नहीं है। इस प्रकार भारतेन्दु ने प्राचीन नाट्य-परम्परा से सर्वथा अत्यावश्यक और सामयिक रुचि के अनुरूप नियमों को ही ग्रहण किया है।

रंगमंच की दृष्टि से भी भारतेन्दु का वस्तु-विन्यास सरल एवं सुगुम्फित है। गीतों का प्राधान्य है; किन्तु केवल कुछ स्थलों को छोड़कर गीत कथा प्रसंग के अनुरूप ही हैं और उसके विकास में सहायक होते हैं। भारतेन्दु अपने नाटकों की कथा में शैथिल्य न आने देने के प्रति अत्यन्त ही सचेत रहते थे; "नाटक रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिए।"१ ······· भारतेन्दु कथावस्तु की यथार्थता अर्थात् उसके उत्तम और निम्न दोनों पक्षों को नाटकों में देने के पक्षपाती थे। "जिन लोगों ने केवल उत्तम-उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र की हैं उनकी गुम्फित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ है वही काव्यामोदी रसज्ञ मण्डली को अपूर्व आनन्द वितरित कर सकते हैं।"२ भारतेन्दु अपने नाटकों में उद्देश्य की परिणति के

---

* वही पृ० सं० ७२२

१ वही—पृ० सं० ७३७ २ वही—पृ० सं० ७३७

लिए भी विशेष जागरूक थे। इसी दृष्टि से वे अपने नाटकों की कथा का विन्यास करते थे।

"आजकल की सभ्यतानुसार नाटक रचना में उद्देश्य फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्य-शिष्ट गण ग्रन्थ का तादृश आदर नहीं करते अर्थात् नाटक पढ़ने या देखने से कोई शिक्षा मिले जैसे 'सत्य हरिश्चन्द्र' देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा 'नीलदेवी' से देश स्नेह इत्यादि की शिक्षा निकलती है।"*

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथावस्तु के चयन में और उसके शिल्प-गठन में भारतेन्दु की यथार्थवादी, प्राचीन और नवीन का स्वस्थ समन्वय कर राष्ट्रीय जागरण की जीवन दायनी नई चेतना से प्रेरित प्रगतिशील दृष्टि थी।

—:-*-:—

* वही—पृ० सं० ७४०

चरित्र चित्रण

नाटक में पात्र अपने चरित्र के घात-प्रतिघात से नाटक की कथावस्तु को गति प्रदान करते हैं। नायक, नायिका तथा अन्य पात्र ही नाटकीय कथा की शृङ्खला के गतिदायक होते हैं। नाटक-शिल्पी चरित्र-विकास द्वारा ही कथा के अभीष्ट की फल प्राप्ति कराता है। अस्तु नाटकों में चरित्र चित्रण एक प्रधान तत्व है।

प्राचीन नाट्य परम्परा में चरित्र-चित्रण का महत्व कम होता था। कार्य व्यापार और चरित्र-चित्रण का संघर्ष पश्चिमी टेकनीक की देन है। जिस प्रकार भारतेन्दु ने वस्तु चयन और वस्तु गठन में प्राचीन और नवीन के समन्वय की दृष्टि अपनाई है, उसी तरह चरित्र-चित्रण में भी नवीन शैली का अवलम्बन किया। किन्तु चरित्र-चित्रण में वह अपनी शैली का निखार उतना अधिक नहीं कर पाये। नवीन शैली के अनुसार चरित्रों का अन्तर्द्वन्द एक महत्वपूर्ण अङ्ग होता है। किन्तु भारतेन्दु के पात्रों का चरित्र अपने यथातथ्य तथा प्रकृत रूप में चित्रित हुआ है। उनमें विचारों का अन्तर्द्वन्द नहीं मिलता इसका कारण यह है कि इनकी कथावस्तु में ही घात-प्रतिघात नहीं होता। एक सीधी सरल कथा स्वाभाविक रूप से विकसित होती है।

शास्त्रीय नाट्य पद्धति के अनुसार नाटक के नायक में अनिवार्य रूप से यह गुण होने चाहिए—विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि रक्त लोक, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृति सम्पन्न, उत्साही, दृढ़, कलावान, शास्त्रचक्षु, आत्म सम्मानी, शूर, तेजस्वी और धार्मिक। इस प्रकार भारतीय नाट्य पद्धति के अनुसार नायक को सब उच्च गुणों का आगार होना चाहिए। और उच्च कुल का आदर्श महापुरुष होना होना चाहिए। किन्तु भारतेन्दु के अधिकांश नाटकों के नायक इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

भारतेन्दु के अधिकांश नाटकों की वस्तु तत्कालीन समाज के यथार्थ जीवन पर आधारित है। जिसमें आदर्श व्यक्ति भी थे और अधम भी। और अधम

व्यक्तियों का ही बाहुल्य था। भारतेन्दु जैसा यथार्थवादी कलाकार फिर थोथे आदर्श कैसे गढ़ सकता था। उन्होंने तो थोथे आदर्शों के ढोंग का डटकर विरोध किया है। उनके पात्र तत्कालीन जन-जीवन के सत्य प्रतिनिधि हैं। उनके चरित्रों के द्वारा हम विशिष्ट वर्गों की यथार्थ झाँकी प्राप्त कर लेते हैं।

भारतेन्दु के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों को छोड़कर किसी भी नाटक का नायक आदर्श नायक नहीं है। चरित्र चित्रण में उनकी दृष्टि जनता के सामने एक आदर्श उपस्थित करने की नहीं रही, वरन् उनमें यथार्थ जीवन की यथातथ्य प्रकृत झाँकी ही मिलती है।

इस प्रकार हम भारतेन्दु के समस्त नाटकों के पात्रों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं—आदर्श चरित्र ; यथार्थ चरित्र ; प्रतीक चरित्र। आदर्श चरित्रों को छोड़कर शेष दोनों श्रेणी के चरित्रों में हम उनके यथार्थ रूप के साथ उनमें प्रतीकात्मकता भी पाते हैं।

यथार्थ चरित्र अपने काल की कुछ प्रमुख विशेषताओं के प्रतिनिधि रूप में ही चित्रित हुए हैं। उनके पात्रों का चरित्र व्यक्तिगत नहीं वर्गगत हैं। जैसे वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में राजा, तत्कालीन ऐसे राजा वर्ग का प्रतीक चरित्र है। 'जो जन्म से पाप में रत रहा··· ····' धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों से ले ली। लाखों जीव का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा पी गया पर आड़ सर्वदा धर्म की रक्खी; अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शान्त और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किये ······जो कुछ कर्म किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।"

पुरोहित का यह चरित्र भी पुरोहित वर्ग का प्रतीक चरित्र ही है—

"अन्तः शाक्ता वहिः शैवाः सभामध्येच वैष्णवाः।
नाना रूप धरा कौला विचरन्ति महीतले।"

"इसने शुद्ध चित्त से ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया। जो जो पक्ष राजा ने उठाये उनका समर्थन करता रहा और टके टके पर धर्म कर्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था की; दक्षिणा मात्र दे दीजिये फिर जो कहिये उसी में पण्डित जी की सम्मति है। केवल इधर उधर कमंडलाचार करते इसका जन्म बीता।" आज के पण्डितों पुरोहितों और धर्माधिकारियों का यह चरित्र कितना सटीक प्रतिनिधित्व करता है।

इसी प्रकार मंत्री भी और साधु गंडकीदास भी अपने-अपने वर्गों के प्रतिनिधि रूप में ही चित्रित हुए हैं। गंडकीदास का यह चरित्र आज के साधुओं का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। "ये गुरू लोग हैं, केवल दम्भार्थ इनका तिलक मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दण्डवत न किया होगा पर मन्दिर में जो स्त्रियाँ आई' उनको सर्वदा तकते रहे, इन्होंने महाराज अनेकों को कृतार्थ किया है और समय तो मैं रामचन्द्रजी का श्रीकृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे "मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी;" सम्पूर्ण नाटक ही तत्कालीन धार्मिक अवस्था का प्रतीक चित्र है, जो अनेकाँश में आज भी ठीक उतरता है।

'भारत दुर्दशा' तो सम्पूर्ण रूप से प्रतीक नाटक है। उसकी कथा और उसके पात्र सीधे प्रतीक रूप में ही चित्रित हुए हैं। नाटक की कथा भारत की तत्कालीन स्थिति का प्रतीक रूप है। 'भारत' भारतवासियों का प्रतीक है। 'भारत दुर्दैव 'समग्र रूप से यवन, अंग्रेजी सरकार, धर्माडम्बर, रिश्वत, आर्थिक दुर्व्यवस्था, पारस्परिक वैमनस्य आदि जिन्होंने भारत को 'दुर्दैव' के चक्कर में डाला है; का प्रतीक रूप है। इसी प्रकार आलस्य मदिरा आदि आदि पात्र भी दुर्वृत्तियों के प्रतीक रूप में ही आये हैं।

'अन्धेरनगरी' में 'चौपट्टराजा' के चरित्र द्वारा वर्त्तमान राजाओं के चरित्र का एक टाइप व्यंग-रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'भारत जननी' में भी पात्रों और कथा का प्रतीक रूप में ही चित्रण किया गया है। 'विषस्य विषमौषधम' में सरकार के हाथ में 'शतरंज की मुहरें बने राजाओं पर किये गये व्यंग में भी प्रतीक व्यंजना हैं।

इस प्रकार भारतेन्दु के तत्कालीन जीवन सम्बन्धी सभी यथार्थवादी नाटकों में पात्रों का चरित्र प्रतीक रूप में ही चित्रित हुआ है। और वे जिस जिस वर्ग के प्रतीकात्मक चरित्र हैं, उस वर्ग की समस्त विशेषताओं की यथार्थता ही उनके चरित्र चित्रण द्वारा उपस्थित की गई है और वही उनकी चरित्रगत विशेषता है।

भारतेन्दु के नाटकों के चरित्र चित्रण की यही सबसे प्रमुख विशेषता है। यथार्थवादी नाटकों में तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों का अङ्कन हुआ है— राजावर्ग, पण्डित वर्ग, साधुवर्ग, शिक्षित वर्ग, देशभक्त वर्ग, दूकानदार वर्ग, पण्डावर्ग आदि। और नाटकों के पात्र इन सब वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'नीलदेवी,' 'सती प्रताप', 'चन्द्रावली' और 'विद्या सुन्दर' तत्कालीन जीवन सम्बन्धी नाटक नहीं है, और उनका प्रणयन तत्कालीन समाज के सम्मुख भिन्न भिन्न आदर्श प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही हुआ है। अतः इन नाटकों के नायक आदर्श नायक हैं, और चरित्र-गठन भी अभीष्ट आदर्श की स्थापना के लिये किया गया है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' में राजा का चरित्र, विश्वामित्र, रानी, नारद तथा इन्द्र का चरित्र ही मुख्य है। इन सभी का चरित्र स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ है और सभी के चरित्र की अलग अलग विशेषतायें चरित्र चित्रण में उभरकर स्पष्ट हो जाती हैं। राजा का सत्यवादी होना धर्मनिष्ट, कर्तव्य परायण और दानशील होना उनके चरित्र-चित्रण से स्पष्ट है। विश्वामित्र के चरित्र चित्रण से उनकी चरित्रगत विशेषता—क्रोधी होना, स्पष्ट हो जाती है। इन्द्र और नारद का प्रसंग एक ही दृश्य में समाप्त हो जाता है। पर इतने में ही इन्द्र का ईर्ष्यालु स्वभाव और नारद की संसार भर में भ्रमण करने की विशेषता स्पष्ट हो जाती है।

'नीलदेवी' में अब्दुश्शरीफ; राजा सूर्यदेवसिंह तथा नीलदेवी मुख्य पात्र हैं। पीकदान अली, चपरगट्टू खाँ तथा भटियारिन आदि गौण पात्र हैं। इस नाटक का चरित्र-चित्रण अत्यन्त ही सफल हुआ है। पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं के साथ ही उनकी वर्गगत विशेषतायें भी स्पष्ट हो जाती है जैसे सूर्यदेवसिंह के चरित्र से क्षत्रियों की शत्रु से खुलकर लड़ने की जाति-गत विशेषता स्पष्ट हो जाती है।

'विद्या सुन्दर' नाटक का चरित्र-चित्रण भी सुन्दर बन पड़ा है। उसमें पात्रों के मनोभावों के संघर्ष का भी चित्रण हुआ है।

'चन्द्रावली' में चन्द्रावली ही प्रमुख चरित्र है। उसके चरित्र की विशेषता प्रेम की अतिशयता ही है, जिसका चित्रण सफलता से हुआ है।

'प्रेमजोगिनी' एक अपूर्ण नाटक है। किन्तु उसके चार अङ्कों में आये पात्रों की चरित्रगत विशेषतायें सुन्दर रूप से चित्रित हुई हैं। नाटक में पात्रों का चरित्र किस रूप में विकसित होता, यह कह सकना कठिन है। किन्तु जितना अंश सम्मुख है, उससे यह प्रतीत होता है कि इसके पात्र भी प्रतीक रूप में ही चित्रित होते।

नारी पात्रों का भारतेन्दु के नाटकों में अभाव है। समस्त मौलिक नाटकों

में केवल छः ही मुख्य नारी पात्र आये हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में शैब्या, 'चन्द्रावली' में चन्द्रावली, 'नीलदेवी' में रानी, 'सती प्रताप' में सावित्री, विद्यासुन्दर' में विद्या और हीरा मालिन। 'चन्द्रावली' 'नीलदेवी' और 'सती प्रताप' तो नायिका प्रधान ही नाटक कहे जायेंगे। 'चन्द्रावली' और 'विद्या सुन्दर' में विद्या और चन्द्रावली के चरित्र में प्रेम का आदर्श उपस्थित किया गया है। शेष तीनों नाटकों में भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत किया गया है, जिनमें क्रमशः त्याग, पतिपरायणता, दया, ममता, करुणा, और प्रेम की विशेषता का चित्रण है। 'नीलदेवी' में देश भक्ति की भावना के भी दर्शन होते हैं।

इस प्रकार भारतेन्दु के समस्त नाटकों में दो प्रकार के चरित्र आये हैं आदर्श और यथार्थ चरित्र। दोनों प्रकार के चरित्रों में चरित्र विकास दिखाने का लेखक के सम्मुख विशेष अवसर नहीं रहा। क्योंकि आदर्श चरित्र तो आरम्भ से ही आदर्श रूप में चित्रित हुये और उनके आदर्श की प्रतिष्ठापना के लिये ही कथा कां विन्यास हुआ। यथार्थ चरित्रों के चित्रण में भारतेन्दु का उद्देश्य उनके चरित्रों की यथार्थ तस्वीर उपस्थित कर देना मात्र था। इन चरित्रों का यथार्थ रूप ही कथा विकास के गर्भ से उद्घाटित होता है।

भारतेन्दु के पात्रों के सम्बन्ध में लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है "उनके अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार के नाटकों में मुख्य-मुख्य पात्र प्रायः उच्चवंश से सम्बन्ध रखते हैं। वे राज्यवंश के हैं अथवा समाज के शिक्षित प्रतिष्ठित वर्ग के हैं।"ꕥ आदर्शवादी नाटकों के सम्बन्ध में तो यह कथन सत्य है किन्तु यथार्थवादी नाटकों के सम्बन्ध में यह सत्य प्रतीत नहीं होता। उन नाटकों में पात्र जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से आये हैं। राजवंश और प्रतिष्ठित वर्ग के होते हुए भी अपने वर्गों की विकृतियों के प्रतीक रूप में ही वे चित्रित हुए है। भारतेन्दु ऐसे पात्रों को स्वयं 'ज्यों त्यों प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति' (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति) कहते हैं और उन पर व्यंग करते हैं।

वार्ष्णेय ने भारतेन्दु के नाटकों में चरित्र चित्रण पर लिखा है—"उनके नायक नायिकाओं को देखकर हमें इस बात का अनुभव होने लगता है कि शायद सामान्य जीवन में ऐसे व्यक्तियों से भेंट नहीं हो सकती।"१ भारतेन्दु के आदर्श पात्र सम्भवतः हमें जीवन में न मिलें; किन्तु यथार्थ पात्र तो आये

ꕥ 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'—पृ० १०८ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

१ वही पृ० १०६

दिन ही हमको जीवन में मिलते रहते है। उनके सम्बन्ध में भी उपरोक्त टिप्पणी युक्ति संगत नहीं प्रतीत होती। उनके यथार्थवादी नाटकों के पात्र तत्कालीन जीवन से ही लिये गये हैं।

और आज भी ऐसे चरित्र समाज में पाये जाते हैं। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" के राजा पुरोहित और गंडकीदास तथा मंत्री जैसे धनीमानी, पंडित, साधु, दीवान या बड़े जमीदारों के कारिन्दे आज भी जीवन में आये दिन मिल जाते हैं। 'भारत दुर्दशा' के सातों सभ्य 'नीलदेवी' के चपरगट्टू खाँ और पीकदानअली 'प्रेमजोगिनी' के 'झपटिया', बनितादास, धनदास, रामचन्द्र गंगापुत्र, भूरीसिंह, बुभुक्षित दीक्षित, गप्पू पंडित, चम्बू भट्ट आदि यथार्थ जीवन के इतने सत्य प्रतिरूप हैं कि आज भी इन्हें जीवन में तलाश करने की आवश्यकता नहीं। सहज ही बनारस, इलाहाबाद, गया, मथुरा आदि तीर्थ स्थानों के स्टेशनों पर उनमें से बहुतों से मुठभेड़ हो सकती है। इस प्रकार के पाखंडी और ढोंगी आज भी तीर्थ स्थानों में अड्डा जमाए हुए हैं।

इसी प्रसंग में वार्ष्णेय ने लिखा है "वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पात्रों का निर्माण बहुत कुछ भारतीय परम्परा के अनुसार किया है। वे अपने पात्रों के द्वारा जीवन का उज्ज्वल पक्ष पाठकों के सामने रखते हैं। उनके नायक-नायिकाओं की दैवी पवित्रता और उच्चता के सामने हम नत मस्तक हो जाते हैं।"* यह कथन भी केवल आदर्श पात्रों के सम्बन्ध में सही माना जा सकता है, पर यथार्थ जीवन के पात्रों के सम्बन्ध में यह कथन ठीक नहीं। यथार्थवादी नाटकों के पात्रों के चरित्र की विकृतियों को भारतेन्दु ने इसलिये नहीं प्रस्तुत किया है कि हम उनके सामने नत मस्तक हों। बल्कि इसलिये किया है कि हम उनके चरित्र के द्वारा समाज की विकृतियों को समझें और लज्जित होकर उनको सुधारने का प्रयत्न करें। भारतेन्दु उन पात्रों का उज्जवल चरित्र हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करते, वरन् उनका पतित चरित्र उपस्थित करते हैं।

भारतेन्दु का नाट्य साहित्य में अपने यथार्थवादी नाटकों के कारण ही एक विशिष्ट स्थान है। इन्हीं नाटकों के द्वारा उन्होंने नाट्य कला और चेतना दोनों ही क्षेत्रों में मौलिक प्रगतिशील दैन दी है। वैसे यदि हम ध्यान पूर्वक देखें तो भारतेन्दु के आदर्शवादी नाटकों के पीछे भी भारतेन्दु की यथार्थ

* वही—पृ० सं० १०६

वादी दृष्टि परिलक्षित हो जायेगी। उन्होंने राजा हरिश्चन्द्र में अलौकिक चरित्र की अवतारणा करते हुए भी उसे लौकिकता से यथा संभव भूषित करने की चेष्टा की है। उनके राजा हरिश्चन्द्र अद्वितीय गुण सम्पन्न धीर, सत्यवादी होते हुए भी मानव हैं। पर एक श्रेष्ठ मानव हैं। उनमें हमें एक सामान्य मानव की सी चिन्ता, क्षोभ आदि वृत्तियाँ भी देखने को मिलती हैं। कष्ट सहन से एक बार उनका मन भी डोल उठता है, और हृदय में एक द्वंद्व उपस्थित हो जाता है। पर एक श्रेष्ठ मानव के नाते संघर्ष करते हुए वे परीक्षा में सफल होते हैं, पर अपनी वृत्तियों से संघर्ष उन्हें भी करना पड़ता है। दक्षिणा न चुका पाने के कारण वे एक बार सोचते हैं। "हा! पृथ्वी तू फट क्यों नहीं जाती कि मैं अपना कलंकित मुँह फिर किसी को न दिखाऊँ।"

पर तुरन्त ही वह अपनी इस भावना के प्रति सजग हो जाते हैं। कि बिना दक्षिणा चुकाये वे मरने की बात सोच भी कैसे सकते हैं। इसी प्रकार चौथे अङ्क में भी राजा के मनोभाव उन्हें साधारण मानव की भूमि पर लाकर खड़ा कर देते हैं। राजा के चरित्र में यह लौकिकता उत्पन्न करने में भारतेन्दु की यह दृष्टि स्पष्ट है कि वे राजा के चरित्र को मनुष्य के लिए अनुकरणीय रूप में ही प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से भारतेन्दु ने राजा हरिश्चन्द्र को एक श्रेष्ठ मानव के रूप में ही चित्रित किया है। वे अलौकिक चरित्रों अथवा कथाओं में स्वाभाविकता उत्पन्न करने के इसीलिए पक्षपाती थे— "......चमत्कार जनक और अति मधुर वस्तु निर्वाचन करके भी स्वाभाविक सामिग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है।"१ भारतेन्दु के चरित्र चित्रण में हम पात्रों के मनोभावों का भी पर्याप्त योग पाते हैं। यद्यपि पात्रों के मनोभावों के चित्रण में सब नाटकों में उत्कृष्टता नहीं आ पाई है, फिर भी वे मनोभावों के चित्रण पर विशेष बल देते थे। "चित्र कार्य के निमित्त जिन जिन उपकरणों का प्रयोजन और स्थान विशेष की उच्चता और नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्चता नीचता प्रदान पूर्वक अति सुन्दर रूप से मनुष्य के बाह्य भाव और कार्य प्रणाली के चित्रण द्वारा सहज भाव से उनका दिखलाना प्रशंसा का विषय है जो इस भाँति दूसरे के अन्तर्भाव व्यक्त करने को समर्थ हैं, उन्हीं को नाटककार सम्बोधन दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रन्थ नाटक में परिगणित होते ."२

---

१ 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' भाग १—पृ० सं० ७३४। २ वही—पृ० सं० ७३४।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु चरित्र चित्रण के लिए निम्न विशेषतायें अनिवार्य मानते थे। एक तो यह कि चरित्र स्वाभाविक हो। उसके अच्छे और बुरे दोनों पक्षों का उसमें चित्रण हो और दूसरा यह कि पात्र के अन्तर्भावों की भी नाटक में अभिव्यक्ति हो।

भारतेन्दु अपने नाटकों के चरित्र चित्रण को सजीव और स्वाभाविक बनाने के लिये विशेष सजग रहते थे। इसके लिए वे—अश्वरक्षक, गोरक्षक, दासदासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति, नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करने और उठने बैठने, के समर्थक थे; ताकि नाटकों में यथार्थ जीवन का सजीव चित्र उपस्थित किया जा सके। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना "झख मारना" समझते थे।

इसीलिए इनके नाटकों का चरित्र चित्रण अत्यन्त ही सजीव, स्वाभाविक और यथार्थ हुआ है और इनके व्यंगों में एक शक्ति है। उनके तत्कालीन जीवन पर आधारित नाटकों के पात्र अपने प्रकृत रूप में चित्रित हुए हैं उनमें यथार्थ की गत्यात्मकता नहीं है फिर भी उस गत्यात्मकता की ओर संकेत का प्रयास अवश्य है, जो नाटकों की यथार्थवादी कला के विकास की भूमिका प्रस्तुत करता है। उनके चरित्र चित्रण में हम वर्तमान यथार्थवादी नाटकीय चरित्र चित्रण के बीज पाते हैं।

संवाद और भाषा-प्रवाह

संवाद ही नाटक की आत्मा होते हैं। संवादों के आधार पर नाटक की समस्त कथा निर्मित और विकसित होती है ; और पात्रों का चरित्र विकसित होता है। संवाद ही नाटक में सजीवता, रोचकता तथा उसके प्रति पाटक की जिज्ञासा और कौतूहल जागृत करते हैं।

उपन्यास तथा कहानी में लेखक को पात्रों के चरित्रों का सांगोपांग चित्र उपस्थित करने, कथा की शृंखला जोड़, उसे विकसित करके कथा का वातावरण निर्मित करने, पात्रों के मनोभावों का चित्रण करने आदि का पर्याप्त अवसर होता है। उपन्यासकार तथा कहानीकार यह सब कार्य कुछ तो पात्रों के पारस्परिक कथोपकथनों द्वारा और कुछ स्वयं भी करने को स्वतन्त्र रहता है। किन्तु नाटककार के पास इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं होती। उसे यह सब कार्य नाटक के संवादों के साधन द्वारा ही संपन्न करने होते हैं।

नाटककार संवादों के द्वारा ही चरित्र चित्रण करता हूँ। कथा को शृंखलाबद्ध करता हैं कथा के रहस्यों का उद्घाटन करता है। कथा की कार्य-गति को प्रेरित करता हैं। नाटक में स्टेज पर न घटित होने वाली घटना, किन्तु नाटक की कथा से सम्बन्धित घटना की सूचना देता है। कथा की परिस्थितियों तथा वातावरणों का सृजन करता हैं। आगे आने वाली किसी घटना की सूचना देता है। यही सब संवादों के प्रधान तत्व और कार्य होते हैं।

नाटकीय संवादों के पात्रों के मनोभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति होती हैं। नाटक की कथा के प्रति दर्शक की जिज्ञासा उत्पन्न करने और उसके नाटक के अन्त तक तीव्र करते जाने तथा बनाये रखने की शक्ति रहती है। कथा के उद्देश्य को स्पष्ट करने और नाटक में अभिनयात्मकता उत्पन्न करने की शक्ति होती हैं। यही नाटक के संवादों की प्रधान शक्तियां हैं। नाटकीय संवादों का छोटाहोना और इनकी त्वरित गति उनके गुण होते हैं। इनके आधार पर ही इनके साधन से नाटककार

अपनी वस्तु को नाटकीय रूप प्रदान करता है।

यदि संवाद नाटकों की आत्मा है तो भाषा संवादों का प्राण। नाटकीय संवादों में इन तत्वों और शक्तियों के सफल निर्वाह में संवादों की भाषा का अत्यन्त महत्व पूर्ण योग है। भाषा ही नाटकीय संवादों का उत्कर्ष वर्द्धन करती है और उन्हें निखारती है तथा सजीव बनाती है। संवादों की भाषा जनसुलभ, चलती हुई, प्रवाहशील होनी चाहिए। नाटक जनता के देखने के लिये ही रचे जाते हैं; अस्तु उनकी भाषा का जनसुलभ होना उनका अनिवार्य तत्व है। बोझिल और शिथिल भाषा नाटकीय संवादों की गति रुद्ध और उनकी तीव्रता को कुंठित कर देती है। नाटकीय भाषा पात्रोनुकूल होनी चाहिये तथा उसमें अभिनेयता का गुण होनी चाहिए।

संवादों और उनकी भाषा की इस कसौटी पर भारतेन्दु के नाटकों को परखने से पूर्व हमें एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिये कि भारतेन्दु के समय नाट्य-कला अपना रूप संवार करना सीख रही थी। उसका कला-रूप उस समय तक बन-संवर नहीं पाया था। नाटक ही नहीं भाषा का भी परिमार्जन नहीं हो पाया था। भारतेन्दु के सन्मुख सबसे बड़ा कार्य नाट्य कला तथा भाषा का एक ढांचा खड़ा कर देना था। जिसे आगे के शिल्पी सुघर रूप प्रदान करते। किन्तु भारतेन्दु ने जो भी ढांचा निर्मित किया था, वह भी कुगढ़ नहीं था। अतः हमें इसी सीमा के भीतर भारतेन्दु के नाटकों के संवादों और उनकी भाषा-प्रवाह को परखना चाहिए और उसकी महत्ता और उत्कृष्टता का निरूपण करना चाहिए।

चरित्रगत विशेषता को उभारकर स्पष्ट करने की शक्ति भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटकों के संवादों में है। 'विद्या सुन्दर' के दूसरे गर्भांक में, सुन्दर से पैसा पाते ही चौकीदार का संवाद—"नहीं नहीं, हमने आपको जाना नहीं, निःसन्देह आप बड़े योग्य पुरुष हैं", 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के प्रथम अङ्क में पुरोहित से माँस खाने के सम्बन्ध में राजा के प्रश्न पूछने पर पुरोहित का सम्वाद, "हाँ हाँ! हम कहते हैं, "जीवो जीवस्य जीवनम", 'प्रेम जोगिनी' के दूसरे गर्भांक में दलाल का पद्य-संवाद "कहो गहन यह कैसा बीता.........मालवाल कुछ मिला..........।" 'भारत दुर्दशा' के चौथे अंक में आलस्य का संवाद...... ' 'दोई मस्त हैं मालमस्त या हालमस्त' आदि आदि ऐसे संवाद भारतेन्दु के सभी नाटकों में भरे पड़े हैं जो पात्र की चरित्रगत विशेषता को सहज ही स्पष्ट कर देते हैं। संवादों के द्वारा चरित्र

निर्माण की विशेषता भी इनके सभी नाटकों के संवादों में है।

जिज्ञासा उत्पन्न करने की शक्ति भी भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटकों के संवादों में है। 'विद्या सुन्दर' के पहले अङ्क का पहला संवाद 'यही तो बड़ा आश्चर्य है कि इतने राजपुत्र आये पर इनमें मनुष्य एक भी नहीं आया; 'सत्य हरिश्चन्द्र' के प्रथम अङ्क के आरम्भ में ही इन्द्र का रंगमंच पर दोहा दुहराते घूमना—'यहाँ सत्य भय एक के' तथा पहले अङ्क के अन्त में विश्वामित्र का 'जो हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं; 'नील देवी' के तीसरे अङ्क में ही शरीफ का सम्वाद "अब्दुस्समद! खूब होशियारी से रहना। यहाँ के राजपूत बड़े काफिर हैं।" आदि आदि-जिज्ञासा वर्द्धक संवाद भारतेन्दु के सभी नाटकों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। नाटक के आरम्भ में ही ऐसे संवाद दर्शक को नाटक देखने में तन्मय कर देते हैं और उनमें नाटक की आगे आने वाली घटनाओं के प्रति उत्सुकता प्रकट कर देते हैं।

इनके नाटकों में जहाँ तहाँ कथा-रहस्योद्घाटक-संवादों का भी समावेश हुआ है। ऐसे सम्वादों के द्वारा अघटित घटना की सूचना मिलती है और उसके द्वारा दर्शकों के मन में कौतूहल उत्पन्न हो जाता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के चौथे अङ्क में आकाशवाणी —'..........तो अब अन्तिम उपाय किया जाय ? हाँ तक्षक को आज्ञा दें। अब और कोई उपाय नहीं है' ऐसा ही सम्वाद है।

इनके नाटकों के संवादों में रंगमंच पर न घटने वाली किन्तु आगे नाटक की कथा के प्रसंग में आने वाली घटना की पूर्व सूचना देने की भी क्षमता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के चौथे अङ्क में राजा का गीत—

"दैव सर्प दंशित भये भोगत कष्ट अनेक"

ऐसा ही संवाद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनके सभी नाटकों के संवादों में कथा गुम्फन और उसे विकसित करने तथा चरित्र-निर्माण करने के प्रायः सभी प्रधान तत्व मिलते हैं। यदि उनमें कहीं कथा-शृङ्खला के जोड़ने, कथा के वातावरण-सृजन करने, या चरित्र निर्माण में शिथिलता मिलती है तो वह उस काल की नाट्य कला-विकास की सीमा को देखते हुए ही है।

कुछ ऐसे भी दोष इनके नाटकों के सम्वादों में मिलते हैं जो आज हमें खटकने वाले और नाटकीय गति में शिथिलता उत्पन्न करने वाले प्रतीत होते हैं। जैसे लम्बे लम्बे भाषणों की भरमार, जिसमें प्रायः बहुत से तो स्वगत हैं।

इसके अतिरिक्त एक पात्र दूसरे पात्र से बात करते करते अपने मन की बात प्रकट करने के लिये थोड़ा एक तरफ मुँह कर अपने मन में कहने का नाट्य करता हुआ लम्बे लम्बे सम्भाषण करता है।

सम्वादों की इस प्रकार की परम्परा संस्कृत में भी रही है और वहीं से हिन्दी में आई है। भारतेन्दु के नाटकों में यह दोष कथा—विकास के साथ पात्रों के मनोभावों को कथा के गर्भ से उभारकर स्वाभाविक रूप से चित्रित करने की शिल्पशक्ति रखने वाले नाट्य-कला-उपकरण के विकास की कमी के ही कारण आया है। आज हमारी रंगमंचीय कला पर्याप्त विकसित और सशक्त हो गई है। इसीलिये हमें ऐसे संवाद आज दोषपूर्ण और शिथिल लगते हैं; किन्तु उस काल में यह उतने दोषपूर्ण न माने जाते होंगे। भारतेन्दु के अन्तिम नाटकों में ही इस प्रकार की अनेक अस्वाभाविकतायें पर्याप्त कम हो गई थीं। इनके नाटकीय संवादों का दूसरा दोष उनका लम्बा होना है। कहीं-कहीं तो एक ही पात्र का सम्वाद दो-दो पृष्ठ तक चलता है, जैसे—'सत्य हरिश्चन्द्र' में राजा के सम्वाद और 'चन्द्रावली' में चन्द्रावली के। कुछ नाटकों में यह दोष बिल्कुल नहीं आ पाया है। बाद के नाटकों में यह दोष धीरे-धीरे कम भी हो गया है। 'नीलदेवी' के संवाद सभी दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अन्धेर नगरी' के सम्वाद भी सुन्दर, छोटे, सशक्त, सजीव और गतिशील हैं। 'प्रेम जोगिनी' के सम्वादों में तो बड़ी ही चपलता और शक्ति है।

भारतेन्दु ने नाटकीय सम्वादों के गुणों के सम्बन्ध में लिखा है—"ग्रन्थ-कर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत विरचित करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो।.........पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अङ्ग है। नाटक में वाक् प्रपंच एक प्रधान दोष है। रस विशेष द्वारा दर्शकों के अन्तःकरण को उन्नत अथवा एक बारगी शोकावनत करने को समधिक वागाडम्बर करने से कभी उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। नाटक में वाचालता की अपेक्षा के साथ वाग्मिता का भी सम्यक आदर होता है।......थोड़ी सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक-जीवन की महौषधि है।"[1] इस उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि वे स्वयं लम्बे-लम्बे सम्भाषणों के बिरोधी थे। किन्तु वे अपने नाटकों में इस दोष से मुक्त नहीं हो पाये।......

---

१ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' भाग १ — पृ० सं० ७३४

इन दोषों की अपेक्षा भारतेन्दु के नाटकों के सम्वादों में कुछ ऐसी विशेष उत्कृष्टता और निरालापन है, जो आज भी नाटककारों के लिये मिसाल हैं। जैसे सम्वादों की भाषा की पात्रोनुकूलता। इनके नाटकों का पण्डित पात्र, पण्डिताऊपन की भाषा बोलता है—जैसे गप्प पण्डित—'अच्छा जो होय मुझे उसके नाम से क्या काम, व्यक्ति मैंने जानी।' मुसलमान पात्र उर्दू मिश्रित भाषा बोलते हैं—जैसे क़ाज़ी—'क़ाफ़िरपमुसल्माँ को फ़तहयाब बनाया·······अलहम्दउलिल्लाह।' ग्रामीण अपनी बोली में बोलता है—जैसे 'प्रेम जोगिनी में झपटिया—'आज अभई तक कोई दरसनी परसनी नाहीं आये और कहाँ तक अभहिंन तक मिसरौ नाहीं आये।' संस्कृतज्ञ संस्कृत गर्भित भाषा में बोलता है—जैसे, प्रेमजोगिनी में सुधाकर—'जहाँ मूर्तिमान सदाशिव, प्रसन्नवदन, आशुतोष, सकलसद्गुणोकरत्नाकर विनयैक निकेतन निखिल विद्या विशारद' आदि-आदि। वीर ओजस्वी भाषा में बोलता है—जैसे नीलदेवी में कुमार सोमदेव—'भाइयो! चलो इसी क्षण हम पामर नीच यवन के रक्त से अपने आर्य पितरों को तृप्त करें।'

मूढ़ राजा मूढ़ता पूर्ण भाषा में बोलता है—जैसे अन्धेर नगरी में राजा, "क्यों वे खैर सुपाड़ी चूने वाले इसकी कुबरी कैसे मर गई।' इनके आरम्भिक नाटकों की भाषा तो अवश्य शिथिल है; भाषा का ठीक ठीक प्रयोग नहीं दीख पड़ता। किन्तु बाद के नाटकों की भाषा में पर्याप्त परिमार्जन आ गया है। 'विद्यासुन्दर' इनका पहला और हिन्दी नाट्य साहित्य का तीसरा नाटक है। इसकी भाषा में शिथिलता है। संवादों में नाटकीयता का भी अभाव है। किन्तु उसकी तुलना में 'नीलदेवी' के सम्वाद देखने से इनकी भाषा के विकास-स्तर को भली-भाँति समझा जा सकता है। 'नीलदेवी' की भाषा अत्यन्त सजीव है। सम्वादों में नाटकीयता है। सम्वाद छोटे-छोटे हैं। उनमें कथा को गति देने की शक्ति है। भाषा भी प्रवाह-शील तथा प्रभाव-शालिनी है।

प्रायः सभी नाटकों की भाषा सरल और बोलचाल का पुट लिए हुये है। मुहाविरों और चलताऊ शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। मुहाविरों की तो उनके नाटकों में भरमार है जैसे—"जाके हित चोरी करौ सोई बनावत चोर","माथे क्या सींग होती है","उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे", चोर का माल बट मार लूटें आदि। सभी नाटकों की भाषा में एक चुलबुलापन और बोलचाल का पुट है···? 'जान छल्ला', 'बी भटियारिन', 'गप्पू के', 'मटिया'

बुर्ज', 'ऐ चिड़िया बावली के परदेसी', 'सच है पन्चोरा, 'पोथी के बैठन' आदि।

संवादों की भाषा की व्यंगात्मकता भी भारतेन्दु के नाटकों की एक विशेषता है। इनके व्यंग अत्यन्त ही तीखे होते हैं। पद्यमय संवाद भी इनके नाटकीय संवादों की एक मुख्य विशेषता है। उनसे नाटक में रोचकता और अभिनेयता का गुण वर्द्धन हो जाता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में श्मशान में डाकिनी तथा पिशाचों के पद्यमय संवाद दृश्य के वीभत्स और भयानक वातावरण को और भी उद्दीप्त कर देते हैं—

पिशाच :—"हम कड़कड़ कड़कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ेंगे।
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे॥

डाकिनी :—हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी।
हम चट चट चट चट चट चट ताली वजावेंगी।

'प्रेम जोगिनी' में पद्यमय संवाद् कथा के व्यंग को उभारकर स्पष्ट करते है और सजीवता के साथ कार्य व्यापार को भी गति देते हैं :—

दलाल :—कोई चूतिया फंसा या नहीं ? कोरे रहे उपासी।
गंगा पुत्र :—मिलै न काहे भैया गंगा मैया दौलत दासी।
भूखे पेट कोई नहीं सुत्ता ऐसी है ई कासी॥
दुकानदार :—पददेसियौ बहुत रहे आ आए।
गंगा पुत्र :— और साल से बढ़कर।
भंडेरिया :—पितर सैंदनी रही अमसिया
झूरीसिंह :— रंगे हैं पुराने झँझर।

इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों के संवादों में और उनकी भाषा में अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं, जो आज भी नाटक कारों के लिए अनुकरणीय हैं और नाट्यकला के लिए उत्कर्षवर्धक और उपयोगी हैं।

हास्य और व्यंग्य

भारतेन्दु हिन्दी साहित्य के प्रथम हास्य और व्यंग्य के कलाकार थे। थे। संस्कृत नाट्य परम्परा में हास्य और व्यंग्य को आधार बनाकर लिखे गये स्वतन्त्र नाटक प्रायः नगण्य हैं। बड़े-बड़े नाटकों के बीच में विदूषक के समावेश से हास्य और व्यंग्य के सृजन की परम्परा थी, जिस शैली को प्रसाद ने अपने नाटकों में अपनाया था। किन्तु भारतेन्दु ने हास्य और व्यंग्य को आधार बनाकर स्वतन्त्र नाटकों का सृजन कर नाट्यकला को एक नवीन देन दी। भारतेन्दु ने हास्य और व्यंग्य को तत्कालीन सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का सशक्त साधन बनाया है। उनके तत्कालीन जीवन सम्बन्धी सभी नाटक इसी यथार्थवादी व्यंगात्मक शैली में ही लिखे गये हैं।

भारतेन्दु ने हास्य और व्यंग्य के तीखे नश्तर से तत्कालीन यथार्थ-जीवन के 'कारबंकल' की चीड़ फाड़कर उसके भीतर पड़ी गलन को स्पष्ट कर दिया है, ताकि समाज अपनी इस गलन को देखकर उसके प्रति सजग हो सके। उनका हास्य और व्यंग एक सजग कलाकार का व्यंग है, जो अपने सामाजिक दायित्व के प्रति विशेष रूप से जागरूक रहता है। उनकी पैनी सचेतन दृष्टि ने तत्कालीन समाज की जातिगत कुरीतियों, रूढ़िगत संस्कारों, धर्माडम्बर जन्य मिथ्या विश्वासों, विदेशी शोषण, राजाओं की निरंकुशता, पारस्परिक कलह, द्वेष, थोथी प्रतिष्ठा के लिए ललक और इन सबसे हुई देश-दुर्दशा और सांस्कृतिक विकृतियों को देखा और एक जागरूक युग-प्रवर्तक कलाकार की तरह उन्होंने इन सब पर व्यंग के तीखे नश्तर चलाये हैं। उनकी यह दृष्टि इतनी अन्तर्भेदिनी और दूरदर्शिनी थी, कि राजा, महन्त, पुरोहित, मंत्री, साधु, मतमतान्तरवादी, काशी के पंडे, दूकानदार, दलाल, वकील, सरकारी अमले, कचहरी, सरकार, देश का गौरव बेचकर प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले आदि विभिन्न वर्गों और स्तरों के लोग, उनके मिथ्या-विश्वास; उनकी कुप्रवृत्तियाँ आदि कुछ भी उनकी दृष्टि से न बच सका। और उन्होंने इन सभी के स्तरों को भेदकर उन पर तीखे व्यंग-प्रहार किये हैं। वे समाज; सरकार

और देश की विकृतियों पर तीखे प्रहार इसीलिये कर सके कि इस युग-अन्धकार को चीरकर प्रकाश की नई किरण फूटेगी, यह दृढ़ आस्था उन्हें हरदम प्रेरणा देती रहती थी। इसी विश्वास के बल पर वे सरकार, समाज, काशी के पंडितों और घर वालों का विरोध सहकर भी अपने साहित्य निर्माण में लगे रहे।

भारतेन्दु काल संक्रान्ति काल का प्रथम चरण था। इसलिये हम उनके व्यंगों में वह चेतना तो नहीं पाते जो आज के साहित्यिक व्यंगों में होती है। किन्तु आज भी हम संक्रान्तिकाल से गुजर रहे हैं; अतः भारतेन्दु के अनेक व्यंग आज भी सटीक बैठते हैं। सामाजिक यथार्थवादी नाटकों की प्रगतिशील परम्परा को जिस धारा और व्यंगात्मक शैली को भारतेन्दु ने जन्म दिया था उसी के लिये वे हिन्दीसाहित्य में महान व्यंग लेखक और कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं; और आधुनिक काल के हास्य और व्यंग को अपने नाटकों का आधार बनाकर नाटक लिखने वाले नाटककार उनके ऋणी हैं; और उस शैली को उन्होंने विकसित किया है।

भारतेन्दु के सभी मौलिक नाटकों में प्रायः हास्य और व्यंग का तत्व ही प्रधान है। केवल 'हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'सती प्रताप' (अपूर्ण) इसके अपवाद हैं। 'नीलदेवी' में हास्य और व्यंग की प्रधानता न होते हुए भी उसका पर्याप्त पुट है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में भी व्यंग का एकदम अभाव नहीं है। इस नाटक के प्रथम अङ्क में नारद के इस संवाद में "भला पहले जिसने अपने निज और अपने घर के चरित्र ही शुद्ध नहीं किये हैं उसकी बातों पर क्यों विश्वास हो सकता है।"

तत्कालीन 'पर उपदेस कुशल बहुतेरे' चरित्र वाले सज्जनों पर व्यंग है। "राजन ! आपको यह सब सोचना बहुत अयोग्य है। ईश्वर ने आपको बड़ा किया है तो आपको दूसरों की उन्नति और उत्तमता पर सन्तोष करना चाहिये। ईर्ष्या करना तो छुद्राशयों का काम है।" इन्द्र से नारद के कहे गये इन वचनों के द्वारा उन महाशयों पर व्यंग है जो दूसरों की उन्नति देखकर ईर्ष्या करते हैं। वैसे तो इस नाटक का प्रणयन भारतेन्दु ने अपने को इस नाटक के अर्थ की व्यंग्य-व्यंजना की पीठिका में रखकर किया है। हास्य का इसमें अवश्य अभाव है।

'नीलदेवी' का चौथा दृश्य हास्य और व्यंग का ही दृश्य है। आठवें दृश्य में पागल के संभाषण का तो महत्व ही उसके व्यंग्य अर्थ में है। भाषा

इतनी सजीव और चटपटी तथा नाटकीय है कि उसमें हास्य का अच्छा परिपाक होता है।

इनके अतिरिक्त 'भारत दुर्दशा', 'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'भारत जननी' में गंभीर व्यंग्य किये गये है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति','अन्धेर नगरी', 'प्रेमजोगिनी' में हास्य और व्यंग दोनों ही पर्याप्त मात्रा में है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में चयनित वस्तु और उसका विन्यास ही हास्य का सृजन करता है। इसमें यजमान को खुश करने के लिये तथा उनसे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये धर्म शास्त्रों से ढूँढ़कर सम्मति देने वाले पुरोहितों पर, स्वार्थी चाटुकार मन्त्रियों पर, धर्म और छापा-तिलक की आड़ में व्यभिचार करने वाले साधुओं पर तथा इन सब के साथ साथ समाज में मदिरा तथा माँस खाने वाले तथा वेदों की आड़ लेकर पापाचार करने वालों पर तीखे व्यङ्ग किये गये हैं। प्रहसन के पात्रों का नामकरण ग्रद्धराज, गण्डकीदास आदि ही व्यङ्ग की व्यञ्जना करते है। शेष पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि रूप में हैं और उनके नाम भी वैसे ही हैं—वेदान्ती, पुरोहित, शैव, वैष्णवादि। व्यङ्ग को तीखा करने में गीतों और शास्त्रोक्त श्लोकों का भी विशेष महत्व है।

"पुरोहित :—"अजी भागवत में बलि देना लिखा है—'धूपोपहारवलिभिः सर्वकामवरेश्वरी।"

मन्त्री :—"और "पंच पंचनखाभक्षाः" यह सब वाक्य बराबर से शास्त्रों में कहते ही आते हैं।"

पुरो :—हाँ हाँ·······साक्षात मनु भी कहते हैं—

"न माँस भक्षणे दोषो न मद्येन च मैथुने"

और जो मनुजी ने लिखा है कि—

"स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति" सो वही लिखते हैं—

"अनभ्यर्च्य पितृन् देवान्"। यह प्रहसन तत्कालीन समाज की धार्मिक अवस्था के यथार्थ रूप का उद्घाटन करता है और उस पर तीखे व्यङ्ग नश्तर चलाता है। इस प्रहसन में व्यङ्ग कथा के गर्भ से उभर कर स्पष्ट होते हैं। इसीलिए जीवन का इतना सजीव चित्र उपस्थित हो सका है, कि इसके व्यङ्ग पुरोहितों, पंडितों और साधुओं को उस समय तक तिल मिलाते रहेंगे जब तक उनके ढोंगों पर समाज में विश्वास किया जाता रहेगा। प्रहसन में विदूषक का भी समावेश हुआ है। पर संस्कृत नाटकों के विदूषकों की तरह

विद्रूपों द्वारा वह हास्य उत्पन्न नहीं करता वरन् कथा प्रसङ्ग में वह गम्भीर और उच्चकोटि के हास्य और व्यङ्ग का सृजन करता है। विदूषक :—"हे भगवान्! इस बकवादी राजा का नित्य कल्याण हो जिससे हमारा नित्य पेट भरता है। हे ब्राह्मण लोगों। तुम्हारे मुख में सरस्वती हँस सहित वास करे और उसकी पूँछ मुख में न अटके।" .... "नहीं कुछ प्रयोजन तो नहीं है हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदाँती हैं अर्थात् बिना दाँत के हैं सो आप भक्षण कैसे करते होंगे।"

इस प्रहसन में धर्माडम्बरों पर व्यङ्ग के साथ ही, भारतेन्दु सरकार और उसके अमलों को भी नहीं बख्शते।

चित्रगुप्त :—अरे दुष्ट! यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूँस देता है और क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्त्ताओं की भाँति जङ्गल से पकड़कर आये हैं कि तुम दुष्टों का व्यवहार नहीं जानते। जहाँ तू आया है और जो गति तेरी है वही घूंस लेने वालों की भी होगी।" अन्त में भरत वाक्य से प्रहसन के समस्त व्यङ्ग को उद्देश्यपरक बना दिया गया है किन्तु भरत वाक्य में भी भारतेन्दु सरकार की शोषण नीति पर प्रहार किये बिना न रह सके—

"छुटै राजकर.........."

"विषस्य विषमौषधं" में अंगरेजी राज्य में राजा किस प्रकार अंग्रेजों के हाथ "शतरंजों की मुहरें" हो गये थे इस पर तीखे व्यंग हुए हैं—"कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्व कृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा हैं। तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरंज के राजा, जहाँ चलाइये वहाँ चलें— ....राजा और-दैव तो बराबर होते हैं वे जो करें सो देखते चलो बोलने की तो जगह ही नहीं।"

'भारत दुर्दशा' में तो व्यङ्गों का प्रहार दुहरा हो गया है—भारतवासियों पर और सरकार पर। इस नाटक के व्यंग भी पिछले नाटकों की अपेक्षा अधिक प्रखर हैं। व्यंग का प्रथम प्रहार भारतवासियों पर है जो अपनी दुर्दशा से बेखबर सन्तोष किये हाथ पर हाथ दिये बैठे हैं और--

"जहाँ भये शाक्य हरिश्चन्द नहुष ययाती,
जहँ राम युधिष्ठर वासुदेव सर्याती।
जहाँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।

तहाँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुख दिखाई ।"

पर भारतवासी अपनी दशा सुधारने के बजाय अंग्रेजों पर आस लगाये बैठे हैं कि "अंग्रेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे ।" भारतवासियों की अंग्रेजों से इस प्रकार की आशा करने की प्रवृत्ति भारत की रही सही दुर्दशा भी पूरी कर देती है और भारत भाग्य को अन्त में आत्महत्या करनी पड़ती है ; यदि वे अपनी दुर्दशा को दूर करने का उपाय सोचते भी हैं तो......" ... जब तक कमेटी में हैं तभी तक बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं ।" सारे नाटक के व्यङ्ग से यह व्यञ्जना होती है कि भारतेन्दु देशवासियों को यह चेतावनी देना चाहते थे, कि अगर भारतवासी ऐसे ही मात्र अंग्रेजों पर आशा किये आलस्य में बैठे रहेंगे और स्वयं कुछ न करेंगे तो भारत भाग्य निश्चय ही सदैव के लिये मर जायगा ।

इस नाटक में व्यंग का दूसरा प्रहार विदेशी सरकार पर है चाहे वह यवन हो चाहे अंगरेज । सरकार पर तो व्यंग नाटक के आरंभ से ही मुखर हो उठा है :--

"अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेस चलिजात यहै अतिख्वारी ।
ताहू पै मंहगी काल रोग विस्तारी ।
× × ×
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई ।"

तीसरे अङ्क में आकर लेखक भारतदुर्दैव और सरकार के गठबन्धन की योजना दिखाकर भारत दुर्दशा से सरकार के सम्बन्ध का संकेत करता है ।

भारत दुर्दैव :--हा, हा, हा ! कुछ पढ़े लिखे मिलकर देश सुधार चाहते हैं ! हा हा हाहा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे । ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलोयल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मैडिल और खिताब दो । हैं ! हमारी पौलिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं ; मूर्ख !" भारत दुर्दैव अपनी नीति के सम्बन्ध में कहता है—

"काफिर काला नीच पुकारूँ तोड़ूँ पैर औ हाथ,

दूँ इनको सन्तोष खुशामद कायरता भी साथ।
मरी बुलाऊँ देश उजाड़ूं महंगा करके अन्न,
सबके ऊपर टिकस लगाऊं धन है मुझको धन्न।"

भारत दुर्दैव की सेना में हैं अपव्यय, अदालत, फ़ैशन और सिफ़ारिश आदि जिनके कामों का परिणाम है कि—"धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची। समुद्र के पार ही शरण मिली।" इससे लेखक का विदेश धन-गमन की ओर संकेत और भी स्पष्ट हो जाता है। तीसरे अङ्क में भारत-दुर्दैव आधे क्रिस्तानी तथा आधे मुसलमानी वेश में आता है पर चौथे अङ्क में अंग्रेजी साज के सजे कमरे में ही विराजमान होकर शुद्ध अंग्रेजी सरकार का रूप धारण कर लेता है। इससे भारतेन्दु का व्यंग्य स्पष्ट है कि भारत की दुर्दशा पहले तो मुसलमानों के आगमन से हुई और जो रह गई सो वह अब अंग्रेजों के राज्य में पूरी हुई जा रही है। लेखक का अंग्रेजी सरकार के प्रति यह व्यंग जिसका संकेत वह भारत दुर्दैव और डिसलोयल्टी के गटबन्धन और उसकी नीति के उल्लेख में कर आया था, वहाँ तो बिल्कुल ही स्पष्ट होजाता है, जहाँ पाँचवें अङ्क के अन्त में डिसलोयल्टी इंगलिश पौलिसी नामक एक्ट के "हाकिमेच्छा नामक दफा से" देश सुधार पर विचार करने वाले सात सभ्यों को गिरफ्तार कर ले जाती है और उसके बाद ही भारत भाग्य की आत्महत्या नाटक के सारे व्यंग को अत्यन्त ही सशक्त बना देती है।

नाटक तत्कालीन समाज की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दशा और उसके कारणों की यथार्थ तस्वीर सशक्त व्यंगात्मक भाषा में चित्रित कर देता है। व्यंग कथा के साथ ऐसे घुले-मिले हैं कि वे कथा के बीच से विकसित होते हुए प्रखर होते जाते हैं। कथा के प्रतीक रूप की कल्पना लेखक की जागरूकता तथा उसकी कला और शैली की उत्कृष्टता की परिचायक है। 'भारत जननी' में भी भारतवासियों के साथ ही अंग्रेजों पर भी व्यंग है। पर इस नाटक के व्यंगों का अधिक जोर मुसलमानों पर है। अंग्रेजों के प्रति लेखक ने दुहरी दृष्टि अपनाई है। वह अंग्रेजी सरकार के शोषण के कारण ही समस्त अंग्रेजी जाति को घृणा का पात्र नहीं समझता। वह समझता है कि अंग्रेजों में भी ऐसे व्यक्ति हैं जो भारत के प्रति अच्छे भाव रखते हैं।

'अन्धेर नगरी' में राजाओं की निरंकुशता और मूढ़ता पर तीखे व्यंग हैं पर उसकी महत्ता व्यंग की अपेक्षा हास्य के लिए अधिक है। इस नाटक में हास्य का सुन्दर निर्वाह हुआ है। यद्यपि जहाँ-तहाँ बीच में देश की सामा-

जिक दशा पर भी तीखे व्यंग आये हैं जैसे—

कुंजड़िन—'···ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर।'

जाति वाला (ब्राह्मण)—'जात ले जात ; टके सेर जात। एक टका दो हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायें और धोबी को ब्राह्मण कर दें। टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था कर दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें, टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान, टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें, टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बना दें। वेद, धर्म, कुल मर्जाद, सचाई, बड़ाई सब टके सेर।'

इन सबके साथ भारतेन्दु अंग्रेजी सरकार पर भी यहाँ व्यंग करने से नहीं चूके—

'चना हाकिम सब जो खाते,
सब पर दूना टिकस लगाते।'

और—

'हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम।
चूरन जबसे हिन्द में आया, इसका धनबल सभी घटाया
चूरन अमले सब जो खाते, दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
+ + +
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल अजीरन रोग।
चूरन साहिब लोग जो खाते, सारा हिन्द हजम कर जाते
चूरन पुलिस वाले जो खाते, सब कानून हजम कर जाते।

हास्यरस का परिपाक नाटक के आरम्भ से होता है और कथा के विकास के साथ-साथ तीव्र होता जाता है। चौथे अङ्क में दर्शक अथवा पाठक की हंसी फूट चलती है। पाँचवें अङ्क के अन्त तक वह ठहाके लगाने लगता है और छठे अङ्क में जब राजा स्वयं फाँसी चढ़ने लगता है तो दर्शक अथवा पाठक के पेट में हंसते-हंसते बल पड़ जाते हैं।

'प्रेम जोगिनी' में व्यंग की कई धाराएँ प्रवाहित होती हैं; किन्तु नाटक अपूर्ण है इसलिए आगे चलकर इसका विकास कैसा होता, कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु जितना प्राप्त है उतने में ही काशी के पण्डितों पर मुख्य

रूप से तथा वहाँ के पंडों, दलालों, दूकानदारों तथा अनेक अन्य तथाकथित प्रतिष्ठित सज्जनों पर तीखे व्यंग हुए हैं।

भारतेन्दु के प्रायः सभी व्यंग और हास्य-प्रधान नाटकों में शिष्ट हास्य और तीखे व्यंगों का परिपाक हुआ है पर कहीं-कहीं उसमें अश्लीलत्व दोष भी आ गया है।

हास्य का परिपाक पात्रों के विद्रूपों, वेश-भूषा तथा मजाकिया अभिनय से उत्पन्न नहीं किया गया है, वरन् कथा के गर्भ से उत्पन्न हो कथा के साथ-साथ ही स्वाभाविक और कलात्मक रूप से विकसित हुआ है। हास्य और व्यंग की दृष्टि से 'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'भारत जननी' अवश्य निम्न-कोटि के हैं। उनमें कलात्मकता का भी अभाव है और रंगमंच के तत्त्व भी नहीं हैं। इन सभी हास्य और व्यंग प्रधान नाटकों के पात्रों का चयन, इनका नामकरण, सम्वादों का चुलबुलापन और उनकी सजीवता, कथा की परिस्थिति का सामाजिक यथार्थवादी धरातल तथा चरित्र-चित्रण की व्यंगात्मक यथार्थ-वादी शैली आदि सभी तत्त्व एक दूसरे के पूरक हैं। हास्य और व्यंग को अत्यन्त ही यथार्थ, सजीव, जागरूक और प्रखर बना देते हैं। इन हास्य और व्यंग प्रधान नाटकों के व्यंगों में जीवन यथार्थ की इतनी गहराई, व्यापकता और तीखी चुटकी है कि आज भी यह नाटक इतने सशक्त हैं और उपयोगी हैं जितने उस काल में थे।

नाटकों में गीतों का स्थान

— :o: —

भारतेन्दु के नाटकों में गीतों की बहुलता है। उन्हें यह परम्परा संस्कृत के नाटकों से मिली है। संस्कृत नाटकों में पात्र प्रायः पद्यमय संवादों में ही वार्तालाप करते हैं अथवा एक भाव को व्यक्त करने के लिये एक या अनेक पद्य सुना देते हैं। किसी पात्र की चरित्र-गत विशेषता के प्रकाशन में भी पद्यों का उपयोग किया जाता रहा है। यही परम्परा भारतेन्दु ने अपनाई है।

नाटकों में यत्रतत्र गीतों का समावेश तो आज भी पाया जाता है। प्रसाद के सभी नाटकों में गीतों का उपयोग हुआ है। आधुनिक नाटककारों ने भी नाटकों से गीतों का सर्वथा बहिष्कार नहीं किया है। किन्तु गीतों की जो बहुलता भारतेन्दु के नाटकों में है वह प्रसाद में न रही और प्रसाद के नाटकों में जितने गीत हैं उतने आधुनिक नाटकों में नहीं। अब गीतों का उपयोग कथा प्रसंग में अत्यन्त आवश्यक स्थल पर ही युक्ति-संगत माना जाता है और जो छोटे नाटक या एकांकी लिखे जाते हैं, उनमें तो गीतों का समावेश प्रायः नहीं ही किया जाता।

भारतेन्दु के नाटकों में प्रयुक्त गीतों को देखने से उनकी छे उपयोगितायें सामान्य रूप से लक्षित होती हैं।

१—कथा प्रसंग के अनुकूल उनका उपयोग हुआ है।

२—करुण, शृंगार वीर आदि भावों के उद्दीपन के लिये हुआ है।

३—व्यंग के रूप में हुआ है।

४—दर्शकों के मनोरंजन के लिये हुआ है।

५—पात्रों के मनोभावों अथवा चरित्र-गत विशेषताओं को अभिव्यक्त करने के लिये हुआ है।

प्रायः सभी नाटकों में सामान्य रूप से गीतों की यही उपयोगिताएँ मानी जा सकती हैं।

६—नाटक में रोचकता उत्पन्न करने के लिये हुआ है।

'विद्या सुन्दर' नाटक में कोई भी गीत कथा प्रसंग के अनुकूल कथा को

गति देने के लिये प्रयुक्त नहीं है। सभी गीत पात्रों के मनोभावों को पद्यरूप में व्यक्त करने अथवा उद्दीपन के हेतु ही आए हैं। यदि उनको नाटक से निकाल दिया जाये तो भी कथा में शिथिलता और अरोचकता नहीं आती। किन्तु सभी गीत छोटे हैं और गेय हैं, इसलिये उस काल की दर्शक की रुचि को खटकने वाले नहीं थे। उनसे दर्शकों का मनोरंजन ही होता है।

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में एक ही पात्र द्वारा एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा गाया गया गीत अस्वाभाविक और खटकने वाला है। किन्तु कथा-प्रसंग के बीच-बीच में जो छोटे-छोटे पद्य आये हैं, वे कथा के व्यंग को उभार देने की दृष्टि से उपयोगी हैं। जैसे—

याहि असार संसार में चारि वस्तु हैं सार;
जुआ मदिरा मांस अरु नारी सङ्ग बिहार।"

कथा-प्रसंग के बीच में आये संस्कृत के श्लोकों ने तो कथा व्यंग को तीखा और स्पष्ट करने में बड़ा ही स्वाभाविक और महत्वपूर्ण कार्य किया है। जो लम्बे गीत आगये हैं, उनमें भी व्यंग है, और उनसे कथा अभीष्ट स्पष्ट होता है। अस्तु उनको दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

'सत्य हरिश्चन्द्र' में वैतालिकों का गाना प्रसांगानुकूल छोटा और सुन्दर है, जिससे राजा के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। किन्तु काशी और गंगा का प्रशस्ति वर्णन केवल प्रशस्ति वर्णन के लिये हुआ है। कथा के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनसे कथा की गति में रुद्धता ही आती है। श्मशान का वीभत्स वर्णन भी अत्यन्त लम्बा हो जाने के कारण कार्य-गति-रोधक हो गया है। किन्तु डाकिनों और पिशाचिनों का पद्यमय संवाद रोचकता पैदा करने वाला, सुन्दर और स्वाभाविक है। उसमें नाटकीयता भी है और वातावरण के प्रभाव को तीव्र करने की शक्ति भी।

'प्रेम जोगिनी' के दूसरे गर्भांक के पद्यमय संवाद बड़े ही स्वाभाविक कथा-गति प्रेरक हैं। उनमें नाटकीयता भी है। और कार्य व्यापार को गति देने की शक्ति भी। उनमें व्यंग भी उभरा है। नाटक में उनसे रोचकता भी उत्पन्न होता है। काशी का यथार्थ वर्णन भी सुन्दर और व्यंग-पूर्ण हैं। उससे काशी का यथार्थ चित्र उपस्थित होता है। यदि वह वर्णन गद्य में किया जाता तो सम्भवतः उतना व्यंग पूर्ण न बन पाता।

"चन्द्रावली" में तो गीतों की अत्यधिकता है, जो मनोरंजन करने के स्थान में कथा की गति को रुद्ध करने वाले तथा दर्शकों को ऊबा देने वाले

हैं। चन्द्रावली और उसकी सखियों का बात बात में गीत गाने लगना अत्यन्त अस्वाभाविक है। उनसे कथा की गति शिथिल होगई है। कथानक अपने में वस्तुतः कुछ है ही नहीं। गीतों से या गद्यगीतमय संवादों से उसे विस्तार दिया गया है। इसे वस्तुतः काव्य-नाट्य कहना ही युक्ति संगत होगा। जिसे अत्यन्त ही संक्षेप में सुन्दर और उत्कृष्ट बनाया जा सकता था। इसके गीत साहित्य और संगीत की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। किन्तु रंगमंच की दृष्टि से निम्नकोटि के हैं। हमें यहाँ उन्हें रङ्गमंच को दृष्टि से ही परखना अभीष्ट है। गीतों से चन्द्रावली के प्रेम की अतिशयता अवश्य व्यंजित होती है और वे उसके वियोग-जन्य भावों को प्रकट करते हैं।

'भारत दुर्दशा' नाटक में आये गीत अस्वाभाविक नहीं कहे जा सकते। किन्तु अन्तिम अङ्क में भारत भाग्य द्वारा गाया हुआ गीत यद्यपि कथा-प्रसंग में अपना महत्व रखता है, तथापि अत्यन्त लम्बा हो जाने के कारण नाटकीय प्रभाव को शिथिल कर देने का दोष उसमें आगया है। अन्य छोटे छोटे गीत व्यङ्गपूर्ण और स्वाभाविक है। वे पात्रों की चरित्र-गत विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं, और उनसे कार्यगति में कोई बाधा नहीं पहुँचती। सभी गीत नाटक के करुण रस के परिपाक में सहायक होते हैं।

'भारतजननी' भी एक गीतनाट्य ही है। उसमें भी गीतों का लम्बा होना और एक ही पात्र द्वारा गाना कथा-गति को रुद्ध करने वाला है। गीतों से करुणरस के परिपाक में सहयोग मिलता है। किन्तु इसके लम्बे गीत नाटकीय प्रभाव में शैथिल्य पैदा करते हैं।

'नीलदेवी' के गीत अत्यन्त ही छोटे स्वाभाविक और सुन्दर हैं। वे नाटकीय कार्य-व्यापार की गति को कहीं अवरुद्ध नहीं करते। उनमें व्यङ्गात्मकता भी है, भावों की गहराई भी है और नाटकीयता भी। इनसे दर्शकों का पर्याप्त मनोरंजन भी होता है। उसके कुछ गीत संगीत और साहित्य की दृष्टि से भी अत्यन्त ही उत्कृष्ट कोटि के हैं जैसे—

'सोओ सुख निदिया प्यारे ललन'

और— 'प्यारी बिन कटत न कारी रैन'

ये दोनों गीत अरसे से घर न गये एक राजपूत सिपाही की भावना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति करते हैं। साहित्य और संगीत की दृष्टि से भी दोनों गीत उत्कृष्ट हैं।

'अन्धेर नगरी' में आये गीत हास्य रस और व्यङ्ग के उद्बोधक हैं, ये जनगीतों का भी रूप प्रस्तुत करते हैं—

'सती प्रताप' के केवल चार ही अङ्क भारतेन्दु द्वारा लिखे गये हैं। उनमें आये गीत छोटे तथा नाटकीयता से युक्त हैं और पात्रों के मनोभावों तथा चरित्रगत विशेषताओं का स्पष्टीकरण करते हैं। कथागति में उनसे शिथिलता नहीं आती वरन् रस परिपाक में उनसे योग मिलता है। साहित्य और संगीत की दृष्टि से भी वे गीत उत्कृष्ट हैं। तीसरे दृश्य में गीतमय संवाद प्रसङ्गानुकूल, कार्य-व्यापार के प्रेरक हैं।

इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में गीतों की बहुलता और उनका लम्बा होना रंगमंच की दृष्टि से एक दोष है। किन्तु सभी गीत ऐसे नहीं। वे कथा-व्यंग, वस्तु-अभीष्ट ; चरित्र गत विशेषताओं को उभारने और कार्य व्यापार को गति देने का कार्य करते हैं और इस प्रकार वे नाट्यकला का एक अभिन्न अङ्ग बन जाते हैं।

नाटक में रंगमंच की दृष्टि से संगीत का भी महत्व पूर्ण स्थान है। इनके नाटकों में आये गीत इस बात के परिचायक हैं कि भारतेन्दु को संगीत का कितना उच्च ज्ञान था।

अभिनय तत्व

—:*:—

नाटक रचना रंगमंच के लिये ही होती है और रंगमंच का निर्माण नाटक के खेले जाने के लिये ही होता है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक और आवश्यक अंग हैं। नाटक के इसी प्रधान गुण को ध्यान में रखकर प्राचीन साहित्य मनीषियों ने काव्य के दो भेद किये थे—दृश्व काव्य और श्रव्य काव्य। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों ने दृश्य काव्य का प्रधान-गुण उसकी रंगमंचीयता को माना है। प्रधान रूप से रंगमंच की दृष्टि से जो नाटक सफल और अभिनेय होता था, उसे ही उत्कृष्ट नाटक की संज्ञा से विभूषित किया जाता था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि नाटक में जीवन-तत्त्व और उसकी गहराई और व्यापकता का कोई महत्व नहीं है। जीवन की गहराई न होने से तो दर्शक की उसमें तन्मयता ही न हो सकेगी।

प्राचीन काल से ही नाटक ने हमारे जीवन में विशेष महत्ता प्राप्त की है। हमारे ही नहीं विश्व-साहित्य के अवलोकन से यह तथ्य प्राप्त होता है कि प्रायः प्रत्येक देश में नाटकों का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है, यह संभवतः इसी कारण कि मनुष्य सुनने की अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शन से ही अधिक प्रभाव ग्रहण करता है।

भारतेन्दु देश की यथार्थ दशा को देखकर अत्यन्त अद्विग्न हो उठे थे। और वे किसी ऐसे साधन की खोज में थे, जो जनता को सबसे अधिक प्रभावित कर सके, और वह साधन था जनता के सम्मुख उसकी यथार्थता का प्रत्यक्ष दर्शन; उसका कलात्मक रूप था नाटक। उसका उपकरण था रंगमंच। तत्कालीन जीवन में नाटकों तथा रंगमंच की इसी उपादेयता और उपयोगिता को समझकर सदियों से मृत प्रायः नाट्यकला और रंगमंच को संवारने में भारतेन्दु ने अपने जीवन का अधिकाँश समय लगा दिया था। उन्होंने अपने सभी नाटक खेले जाने के उद्देश्य से ही लिखे हैं। वे अपने तथा अपने काल के अन्य नाटककारों के नाटकों के अभिनय में विशेष रुचि भी लेते थे। उनके अनेक नाटक उनके जीवन काल में ही अनेक बार खेले गये; और उनके

पश्चात् भी उनके अनेक नाटक खेले गये हैं।

नाटक की अभिनेयता परखने के लिये हमें उसके दृश्य-विधान भाषा, संवाद, कार्य व्यापार, चरित्र चित्रण तथा जिज्ञासा का तत्त्व आदि बातें देखनी होती हैं। दृश्य विधान सरल और शीघ्र परिवर्तनीय होना चाहिये। भाषा सरल और गतिशील होनी चाहिये। संवाद छोटे छोटे और नाटकीय होने चाहिये। चरित्र-चित्रण से कथा में निहित विचारों और जीवन की गहराई अभिव्यक्त होनी चाहिये। इसी के द्वारा नाटककार दर्शक के सम्मुख अपना सन्देश उपस्थित करता है।

भारतेन्दु के सभी नाटकों का दृश्य विधान सरल है। इस सम्बन्ध में में उन्होंने लिखा है—

"प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अङ्क में अनेक-अनेक गर्भाङ्कों की कल्पना की जाती है।"†

उन्होंने दृश्य विधान में विशेषतः नवीन पद्धति को ही अपनाया है। उनके अधिकांश नाटकों में एक अङ्क में ही कई गर्भाङ्क (दृश्य) होते हैं। "विद्या सुन्दर" नाटक की कथा तीन अङ्कों तथा पहले, दूसरे, तीसरे अङ्क में क्रमशः चार, तीन, तीन गर्भाङ्कों में गठित है। पहले अङ्क के पहले गर्भाङ्क में राजभवन, दूसरे गर्भाङ्क में उद्यान ; तीसरे में हीरा मालिन का घर तथा चौथे गर्भाङ्क में राजकुमारी विद्या के भवन का दृश्य विधान है। दूसरे अङ्क के तीनों गर्भाङ्कों में विद्या के भवन का ही दृश्य है। तीसरे अङ्क के पहले गर्भाङ्क में राजमार्ग तथा दूसरे, तीसरें गर्भाङ्क में विद्या के भवन का दृश्य है।

यह दृश्य-विधान अति ही सरल है। नाटक के कार्य-व्यापार में भी नाटकीय गति है। चरित्र विकास के घात प्रतिघात में भी अभिनेयता है। सुन्दर का एकाएक सुरंग से प्रकट होना रंगमंच की दृष्टि से प्रभावोत्पादक है और उसमें नाटकीय क्रिया शीलता (Stage action) है।

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।" की कथा का विन्यास चार अङ्को में हुआ है। जो स्वयं छोटे २ होने के कारण दृश्यवत हैं। कथा-व्यापार तीव्र गति से आगे बढ़ता है दृश्य विधान भी अत्यन्त सरल है, जिनको रंगमंच पर उपस्थित करने में विशेष आयोजन की आवश्यकता नहीं होती। चारों अंकों

† भा० ग्र० पृ० ७१६।

में क्रमशः राजभवन, पूजाघर, राज पथ तथा यमपुरी के दृश्य हैं। संवाद छोटे छोटे हैं। भाषा सजीव, व्यंग पूर्ण और मुहाविरेदार है।

'अन्धेर नगरी' की कथा छै अङ्कों में गठित हुई है। यह अङ्क भी छोटे छोटे और दृश्यवत हैं। सभी अङ्कों में क्रमशः वाह्य प्रान्त, बाजार, जंगल-राज्य सभा, अरण्य, श्मशान के दृश्य हैं। जिनके विधान में किसी विशेष आयोजन की आवश्यकता नहीं होती। कार्य-व्यापार की गति अत्यन्त तीव्र है। संवाद अत्यन्त ही छोटे, नाटकीय और हास्य, व्यंग से भरे हैं।

'नीलदेवी' भी 'अन्धेर नगरी' की तरह अभिनय की दृष्टि से अति उत्कृष्ट है। सारी कथा दृश्यवत् छोटे छोटे दस अङ्कों में विभाजित है। कार्य-व्यापार और कथा गति-तीव्रता से चलने वाली है। संवाद छोटे छोटे गतिशील एवं प्रभावशील हैं। वीर रस के अभिनय की क्षमता संवादों की भाषा में है। भाषा अत्यन्त ओजपूर्ण और पात्रोनुकूल है।

'भारत दुर्दशा' का दृश्य-विधान भी सरल है। कथा विन्यास छः अंकों में हुआ है। जिनमें क्रमशः बीथी, श्मशान, मैदान, अंगरेजी ढंग का सजा कमरा, किताब खाना, वन का मध्य भाग. के दृश्य हैं। केवल दूसरे अंक के दृश्य विधान को छोड़कर जिसमें कौआ, कुत्ता, स्यार आदि दिखाने का निर्देश हैं, शेष अंकों का दृश्य-विधान सरल है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' में भी श्मशान के दृश्य को छोड़कर शेष अंकों का दृश्य-विधान सरल ही है! इसमें कुल ४ अङ्क हैं, जिसमें क्रमशः इन्द्रसभा, राजभवन, काशी के घाट के किनारे की सड़क, श्मशान के दृश्य हैं। अन्तिम दो अङ्कों का अनावश्यक रूप से बड़े हो जाने तथा राजा और रानी के प्रलाप संवाद काशी और गंगा के अति विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त रंगमंच की दृष्टि से और कोई दोष नहीं है। यह अवश्य नाटक की अभिनेयता में शिथिलता उत्पन्न करते हैं। किन्तु नाटक को नितान्त अनाभिनेय नहीं बनाते।

'प्रेम जोगिनी' नाटक अपूर्ण है। उसके चारों ही अङ्क असम्बद्ध है। जिनमें क्रमशः मन्दिर का चौक; गेबी, पेड़, कुआँ, पास बावली; मुगल सराय का स्टेशन; बुभुक्षित दीक्षित की बैठक के दृश्य हैं। इसमें २८ पात्रों के अतिरिक्त मिठाई खोंमचे वाले आदि अन्य अनेक पात्रों की भरमार है। हर अङ्क में नये नये पात्र आते हैं और नई ही कथा चलती है। किन्तु जिस रूप में भी यह नाटक प्राप्त है, अरङ्गमंचीय नहीं है। कुछ थोड़े से पात्र ही

बदल बदलकर चारों अङ्कों में अभिनय कर सकते हैं। कथा की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्ण है। इसका अलग अलग अङ्क अपने में काशी के एक पहलू का पूर्ण चित्र-उपस्थित करता है। और सब अङ्क मिलकर काशी का यथार्थ चित्र उपस्थित करते हैं। इसे वस्तुतः काशी का छाया-चित्र, जो उसका पहला नाम भी था दे दिया जाता तो यह अपने में ही पूर्ण नाटक हो जाता है।

'सती प्रताप' भी अपूर्ण नाटक है, किन्तु जितना भाग भारतेन्दु द्वारा लिखा गया है, उससे पता चलता है कि इस नाटक के प्रणयन के समय तक भारतेन्दु के नाट्य-चातुर्य्य में विशेष परिमार्जन हो गया था।

'चन्द्रावली'; 'भारत जननी'; 'विषस्य विषमौषधं' तीनों ही अभिनय की दृष्टि से निम्न कोटि के हैं। इनमें अनेक रङ्गमंचीय दोष भरे पड़े हैं, जैसे सम्वादों का लम्बापन, स्थूलगति, कार्य व्यापार की शिथिलता, गीतों का बाहुल्य आदि।

इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों को अभिनय की दृष्टि से तीन कोटियों में विभाजित कर सकते हैं—असफल, सफल अति सफल।

असफल में 'चन्द्रावली', 'भारत जननी', 'विषस्य विषमौषधं'।

सफ़ल में 'विद्यासुन्दर', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'प्रेम जोगिनी' है।

अति सफल नाटकों में 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सती प्रताप' और 'नीलदेवी' है।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में चरित्रानुरूप वेषभूषा का भी निर्देश किया है। पात्रों की नाटकीय क्रियाओं (actions) का भी निर्देशन किया है। कहीं कहीं नाटकीय प्रभाव (Stage effect) का भी निर्देश किया है। जैसे 'भारत जननी' के प्रथम अङ्क में 'भारत दुर्गा' के आने पर चन्द्र जोत छूटने और 'भारत दुर्दशा' के चौथे अङ्क में अन्धकार के रङ्गमंच पर आने के समय रङ्गशाला के अनेक दीपों को बुझाने तथा आँधी आने का शब्द होने का निर्देश किया है।

कुछ आलोचकों ने भारतेन्दु के दृश्य-विधानों को जटिल एवं असंभव बताया है। इस सम्बन्ध में हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उस समय रंगमंचीय कला का इतना विकास नहीं हो पाया था, जितना कि आज हो गया है। उस समय अनेक दृश्य चित्र पट द्वारा अथवा थोड़े प्रसाधनों से ही दिखा दिये जाते थे; और दर्शक स्टेज पर थोड़े से दृश्य-विधान से पूरे

वातावरण और दृश्य का अनुमान कर लेता था।

उनके रंगमंचीय विधान पर बंगला तथा पारसी रंगमंचों का प्रभाव भी प्रचुर मात्रा में पड़ा था। उनके सभी नाटक छोटे हैं और उनमें थोड़ी शिथिलता के साथ स्थान काल तथा कार्य की एकता का निर्वाह दीख पड़ता है। एक दृश्य के बाद दूसरा दृश्य पहले दृश्य से ही संबंधित आता जाता है और कथा स्वाभाविक रूप से विकसित होती जाती है। पात्रों की बहुलता संवादों का तथा गीतों का आधिक्य तथा विस्तार सभी नाटकों में है किन्तु कुछ नाटकों में ही वह विशेष रूप से दोष की हद तक पहुँचा है।

अभिनय की चारों शास्त्रीय पद्धतियाँ उनके नाटकों में प्राप्य हैं। १—आंगीकाभिनय, २—वाचिकाभिनय, ३-आहार्य्याभिनय, ४-सात्विकाभिनय।

ये चारों प्रकार के अभिनय नाट्यशास्त्र के अनुसार माने गये हैं। आंगिकाभिनय और वाचिकाभिनय तो इनके सभी नाटकों में है ही क्योंकि वे तो अनिवार्य ही हैं। किन्तु शेष दो का भी नितान्त अभाव नहीं है। सत्य हरिश्चन्द्र में चोबदार व दरबारी लोग राजा के साथ रंगमंच पर प्रवेश करते हैं, तो वे मूक ही रहते हैं; यह आहार्य्याभिनय है। वे वेशभूषणादि के द्वारा आहार्य्याभिनय करते हैं। 'चन्द्रावली' में 'कंप, अश्रु, रोमाँच आदि सात्विकाभिनय के उदाहरण हैं।

इस प्रकार भारतेन्दु ने रंगमंचीय नाटक लिखने, छोटे-छोटे नाटक लिखने, लेखक की स्वयं रंगमंच के प्रति रुचि रखने, और नाटकों को अधिक से अधिक यथार्थ जीवन के अनुरूप बनाने तथा नाटकीय कला को जनरूप प्रदान करने की परम्परा की नींव डाली है, जो आज भी आधुनिक नाटककारों के लिये अनुकरणीय है। भारतेन्दु के समय नवोत्थान के आन्दोलन में नाटकों की जितनी उपयोगिता थी उतनी ही आज हमारे जीवन में भी उसकी उपयोगिता है। 'प्रसाद' ने रंगमंचीय दृष्टिकोण से नाटक न लिखने की परम्परा चलाकर भारतेन्दु की जनरूपीय कला-परम्परा के मार्ग में जो अवरोध उत्पन्न किया था, उसने हिन्दी रंगमंच के विकास में बड़ी बाधा पहुँचाई है।

आधुनिक नाटककार इस भूल को समझकर पुनः भारतेन्दु की परम्परा पर आगे बढ़ रहे हैं। 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, रामकुमार वर्मा आदि आधुनिक नाटककार रङ्गमंच को ही दृष्टि में रखकर अपने नाटकों का सृजन

करते हैं। भारतेन्दु ने जो लघु नाटकों की परम्परा चलाई थी उसी को विकसित करते हुए अश्क ने "कैद" और "उड़ान" जैसे जीवन के सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने वाले लघु नाटकों की टैकनीक को विकसित किया है।

नाट्य-कला

भारतेन्दु के नाटकों का विभिन्न पहलुओं से अध्ययन करने के पश्चात् भारतेन्दु की नाट्य-कला का रूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है। भारतेन्दु नाट्य-कला को जन-जागरण के एक सशक्त साधन के रूप में विकसित करना चाहते थे। इस जनपरक सामाजिक यथार्थवादी प्रगतिशील दृष्टि से उन्होंने अपने नाटकों की कला का रूप-संवार किया है।

वे संस्कृत नाट्य परम्परा की तरह नाटकों को मनोरंजन का साधन मात्र ही नहीं समझते थे। वे ही हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम कलाकार थे जो जीवन संघर्ष केलिये नाटकों की उपादेयता समझ पाये थे। इसी चेतना से प्रेरित होकर भारतेन्दु नाट्यकला को मात्र मनोरंजन की संकुचित परिधि से जीवन के विस्तृत प्राँगण में ले आये, जहाँ उसमें जीवन का सुखाँत और मनोरंजक पक्ष ही नहीं रहा वरन राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, सुखान्त-दुखान्त दोनों ही पक्षों का समान स्थान हो गया। जहाँ अब तक नाट्यकला में सुखान्त जीवन की एकांगिता ही थी, वहाँ उसमें जीवन के सुखान्त और दुखान्त दोनों पक्षों का समावेश कर भारतेन्दु ने नाट्यकला को जीवन का ठोस यथार्थ धरातल प्रदान किया। भारतेन्दु ही नाट्य साहित्य के इतिहास (संस्कृत और हिन्दी) में दूसरे नाटककार थे जिन्होंने जीवन की यथार्थ विकृतियों और अधम जीवन को नाटक की प्रधान कथावस्तु बनाया था। अधम पात्रों को नाटक के नायक पद पर आसीन किया और जहाँ अब तक जीवन का उज्ज्वल पक्ष ही नाटकों में चित्रित होता था, वहाँ उन्होंने जीवन जैसा है बुरा या भला वैसा यथार्थ रूप में चित्रित करने की नवीन परम्परा चलाई। और वे ही प्रथम कलाकार थे, जिन्होंने जनता को अपनी यथार्थता का प्रत्यक्ष दर्शन कराकर सचेत करने में रङ्गमंच की उपयोगिता को समझा था और अपने नाटकों तथा रंगमंच को जन चेतना को आन्दोलित करने का सशक्त साधन बनाया था। इसलिये उन्होंने अपने सम्पूर्ण नाटक रंगमंच की दृष्टि से लिखे हैं। उन्होंने अपने नाटकों की कला को अधिक से अधिक जन रूप देने का प्रयास किया है। उनकी भाषा जन-

भाषा है। सभी पात्र अपनी अपनी भाषा में बोलते हैं, रंगमंचीय विधान सरल और सीधा है।

उन्होंने विदेशी शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप जन-मन में उत्पन्न क्षोभ, निराशा, विकलता और व्यग्रता के भीतर दबी भावना, विदेशी शासन के प्रति खीज, राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान और राष्ट्र गौरव को पहचाना था। और इन सारी भावनाओं को अपनी नाट्यकला में उन्होंने समाविष्ट किया है। रीतकाल की जीवन से विमुख शृंगारिक साहित्यधारा को एक साथ अपनी प्रतिभा और बल के साथ जीवन की ओर मोड़ सकने में समर्थ हुए। और उसमें राष्ट्रीय चेतना और जीवन की उपादेयता एवं मानवीय महत्ता का स्वच्छ निर्मल जल प्रवाहित कर सके।

भारतेन्दु की इसी जीवन परक पनी दृष्टि ने जीवन के यथार्थ खंडों से जीवन की अखंडता को नाटकों में चित्रित करने की दृष्टि प्राप्त की। इसीलिए उनके समस्त नाटक जीवन खंडों की अलग अलग झाँकी प्रस्तुत करते हैं। और सब मिलकर युग यथार्थ का एक समग्र चित्र उपस्थित करते हैं। यही उनकी नाटकीय कला की सबसे अधिक महत्व पूर्ण विशेषता है। वे किसी एक व्यक्ति के जीवन से किसी क्रम-बद्ध कथा का आधार लेकर नहीं चले और न उन्होंने किसी एक कथा का ही आधार लेकर मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का जीवन पर पड़े प्रभाव का समग्र रूप से चित्रण किया है। वे इससे भी अधिक व्यापक क्षेत्र को लेकर चले हैं। उन्होंने एक एक वर्ग को अपने नाटकों का पात्र चुना है और वर्गगत यथार्थताओं को अपनी कथा और वर्गगत मूल प्रवृत्तियों को ही आधार बनाकर उसे नाट्य तत्रं में पिरोया है। इस प्रकार उनकी नाट्य-कथा और पात्र, परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों की प्रतीक व्यंजना के रूप में ही चित्रित हुए हैं।

आधुनिक नाटककारों की भाँति एक कथा में ही विभिन्न प्रवृत्तियाँ, उनकी जातिगत, व्यक्तिगत तथा वर्गगत विशेषताओं, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात तथा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण हम भारतेन्दु में नहीं पाते। उनके नाटकों में तो एक विशेष प्रवृत्ति अथवा परिस्थिति का यथार्थ रूप सरल ढंग से चित्रित हुआ है। उनके एक नाटक में एक ही मूल प्रवृत्ति का चित्रण अभीष्ट रहा है। इसलिए उसमें घात-प्रतिघात को स्थान नहीं। जैसे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में धार्मिक पाखंड की यथार्थ तस्वीर और लोगों की बढ़ती हुई तामसिक वृत्ति ही मूलरूप से सरल कला रूप में चित्रित हुई है।

सरलता उनकी नाटकीय कला की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

भारतेन्दु जितना जीवन यथार्थ को चित्रित करने को इच्छुक थे, उससे कहीं अधिक जनता तक उसे ले जाने के लिए लालायित थे। इसलिए उन्होंने अपनी नाट्यकला को अधिक से अधिक जनरूप देने का प्रयास किया। नाटकों की टेकनीक को इसीलिए उन्होंने सरल बनाया और प्राचीन कसौटी के जटिल नियमों को अग्राह्य समझा तथा पश्चिमी पद्धति के जो तत्व सहायक होते थे उन्हें अपनाकर नितान्त मौलिक रूप से हिन्दी नाट्य कला और रंगमंच को विकसित किया है।

नाटकों की कला को तथा रंगमंच को जहाँ वे एक ओर अधिक से अधिक सरल और जनरूप देना चाहते थे, वहाँ वे पारसी रंगमंच की भोंड़ी भड़ैती वाली भ्रष्ट टेकनीक से भी उसे बचाना चाहते थे, और उसे विशिष्ट कलात्मक रूप प्रदान करना चाहते थे।

इस प्रकार नाट्य कला के रूप संवार में दो दृष्टियाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। एक तो यह कि वे नाटकों को जन जागरण का सशक्त साधन बनाना चाहते थे और दूसरी यह कि वे नाटकीय कला को परिष्कृत और सरल जन-रूप प्रदान करना चाहते थे।

हम पीछे इस बात का विवेचन कर आए हैं कि भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में नाटक-साहित्य की कोई परम्परा नहीं थी और न रंगमंच की ही कोई परम्परा थी। पारसी नाटक कम्पनियों का चलन अवश्य होगया था पर वे कला, के नाम पर मजाक थीं। भारतेन्दु के ही शब्दों में हम उनका विवेचन पीछे कर आए हैं। यहाँ उन सब के दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

भारतेन्दु ने जब नाटक लिखना आरम्भ किया तो उस समय उनके सामने दो नाट्यकलाओं का रूप था—संस्कृत नाट्यकला और पाश्चात्य नाट्यकला।

भारतेन्दु ने इन दोनों ही नाट्यकलाओं से तत्वों को ग्रहण कर नितान्त मौलिक नाट्यकला का निर्माण किया था।

भारतेन्दु की नाट्य-कला के स्वरूप को समझने के लिए वस्तु चयन, वस्तु विन्यास, संवाद चरित्र चित्रण आदि पर उनके मत जानना आवश्यक है। उनका उल्लेख हम यथा-स्थान कर आए हैं। भारतेन्दु द्वारा लिखित 'नाटक' लेख से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु प्राचीन और नवीन दोनों

नाट्य-कलाओं के स्वस्थ सामंजस्य के आधार पर हिन्दी की नाट्यकला का निर्माण करना चाहते थे। वे न तो प्राचीन नाट्यकला को ज्यों का त्यों अपनाना चाहते थे और न उसे बिल्कुल छोड़ देना चाहते थे। उन्होंने लिखा है—"...'प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मत-पोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। ... प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ जाता है।"

प्राचीन और नवीन नाट्यकला के स्वस्थ-अस्वस्थ तत्त्वों की इस विभेद दृष्टि से प्रेरित होकर ही उन्होंने अपने नाटकों में अनेक प्राचीन पद्धतियों को अपनाया और अनेकों को छोड़ा है। वस्तु चयन में भारतेन्दु ने 'प्रख्यात कथा वस्तु' के नियम को छोड़कर यथार्थ जीवन से कथाएँ ग्रहण कीं। पात्र योजना में भी प्राचीन नियम का उलंघन कर के अधम पात्रों को नायक बनाया। उद्देश्य में रस प्राप्ति के नियम को छोड़कर यथार्थ चित्रण और सामाजिक आदर्श को उद्देश्य बनाया। अनेक वर्जित दृश्यों को नाटक में स्थान दिया। स्वाभाविकता पर उनकी दृष्टि अधिक रही।

इस प्रकार भारतेन्दु ने एक नई नाट्यकला को जन्म दिया, जिसमें संस्कृत की नाट्यकला और पाश्चात्य नाट्यकला दोनों के स्वस्थ प्रभावों को ग्रहण किया गया है और इस प्रकार हिन्दी की नाट्यकला का स्वरूप तैयार हुआ जिसे प्रसाद ने आगे चलकर पूर्णरूप से विकसित किया।

यहीं पर भारतेन्दु के नाटको में रस, फल प्राप्ति और उद्देश्य परिपाक पर भी विचार कर लेना चाहिए।

रस—रस की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों को पाँच वर्गों में बाँट सकते हैं।

१—वीररस प्रधानः—१ 'नीलदेवी';

२—करुण रस प्रधानः—२ 'सत्य हरिश्चन्द्र' ३; 'भारत दुर्दशा'; ४ 'भारत जननी';

३—शृंगार रस प्रधान :—५ 'चन्द्रावली'; ६ 'विद्या सुन्दर'; ७ 'सती प्रताप';

४—हास्य रस प्रधानः—८ 'अन्धेर नगरी'; ९ 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति';

५—इनके अतिरिक्त—१० 'प्रेम जोगिनी' तथा ११ 'विषस्य विषमौषधम्' में यथार्थधारित व्यंग प्रधानता है। कोई रस विशेषतः नहीं है।

वीभत्स रस भी जहाँ तहाँ आया है जैसे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के तृतीय अंक में और 'सत्य हरिश्चन्द्र' के चौथे अङ्क में।

यथार्थवादी नाटकों को शुद्ध रस परिपाक की दृष्टि से देखना उचित नहीं। उन नाटकों के सृजन में मूल उद्देश्य रस परिपाक नहीं वरन् यथार्थ का उद्घाटन तथा व्यंग का पक्ष ही प्रधान है रस तो सहायक रूप से प्रस्तुत हुआ है, नाटक के मूल व्यंग को और भी तीव्र करने के हेतु। रस परिपाक की अपेक्षा भारतेन्दु की दृष्टि चरित्रों के मानवीय तत्वों के उद्घाटन तथा मनुष्य की अमानवीय वृत्तियों के मानवीय संस्कार और परिष्कार पर अधिक रही है।

फल प्राप्ति :—इस दृष्टि से भारतेन्दु के मौलिक नाटकों के निम्न वर्ग किये जा सकते हैं।

१-सुपरिणाम वाले नाटक—अर्थात् जिसमें नायक अथवा नायिका को अच्छे परिणाम की प्राप्ति होती है जैसे १-सत्य हरिश्चन्द्र २-नीलदेवी ३-चन्द्रावली ४-विद्यासुन्दर ५-सतीप्रताप।

२-कुरिणाम वाले नाटक :—अर्थात् जिनमें नायक अथवा नायिका को अपने बुरे कर्मों का बुरा फल प्राप्त होता है जैसे ६-वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, ७-अन्धेरनगरी, ८-भारतदुर्दशा, ९-विषस्यविषमौषधम्।

१०—'भारतजननी' में कोई परिणाम नहीं निकाला गया है केवल यथार्थ का चित्रण मात्र कर दिया गया है। व्यंजना तथा संकेत से देश को सुधारने के लिये उद्योग का सन्देश दिया गया है।

११—'प्रेम जोगिनी' अपूर्ण है और प्राप्त अंश से भी परिणाम का पता नहीं चलता किन्तु इतना स्पष्ट होता है कि भारत जननी की ही भाँति यथार्थ चित्रण ही उसका भी उद्देश्य होता।

उद्देश्य—नव जागरण की चेतना देना तो सभी का उद्देश्य है, किन्तु इस उद्देश्य परिपाक के लिये शैली की दृष्टि से नाटकों के दो भेद कर सकते हैं।

१-आदर्श स्थापना के उद्देश्य से लिखे गये नाटक—जैसे १-सत्य-हरिश्चन्द्र २-नीलदेवी ३-'सती प्रताप'

२-यथार्थ स्थिति के उदघाटन तथा व्यंग के उद्देश्य से लिखे गये नाटक जैसे :—

४—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ५-विषस्य विषमौषधम्, ६–भारत-जननी ७-अन्धेर नगरी; ८–भारत दुर्दशा, ६–प्रेम-जोगिनी।

३—इसके अतिरिक्त शुद्ध प्रेम दिखाने के उद्देश्य से विद्यासुन्दर का सृजन हुआ है।

४—भक्ति भावना के उद्देश्य से चन्द्रावली का निर्माण हुआ है।

अतः उद्देश्य की दृष्टि से हम भारतेन्दु के नाटकों को तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

१—नव-जागरण की चेतना देने के उद्देश्य से लिखे गये नाटक।

२—शुद्ध लौकिक प्रेम प्रदर्शन के उद्देश्य से लिखे गये नाटक।

३—आध्यात्मिक भक्ति के प्रदर्शन के उद्देश्य से लिखे गए नाटक।

अनुवादित नाटकों में मौलिकता

अनुवाद के लिये नाटकों का चयन करते समय भारतेन्दु की दृष्टि दो बातों पर दीख पड़ती है—एक तो यह कि संस्कृत के नाटकों के अनुवाद द्वारा हिन्दी नाटक साहित्य और कला का संवर्द्धन किया जाय और उसकी कला को एक रूप प्रदान करने में उनसे उचित सहायता ली जाय। दूसरी बात यह कि वे किसी न किसी रूप में तत्कालीन जीवन में नई चेतना देने में सहायक हों। अगर इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अथवा नाटक में तत्कालीन रुचि की उपयोगिता उत्पन्न करने के लिए उसमें अगर कहीं थोड़ा बहुत परिवर्तन करने की आवश्यकता उन्हें महसूस हुई तो वह परिवर्तन उन्होंने निःसंकोच किया।

अनुवाद करते समय भारतेन्दु अपनी मौलिकता को नहीं छोड़ सके हैं। यत्रतत्र अनुवादों में उन्होंने मौलिक समावेश किये हैं। वे अविकल अनुवाद के पक्षपाती नहीं थे। उनकी यह मौलिकता हमें उनके अनुवादित नाटकों के गीतों तथा भाषा आदि को देखने से स्पष्ट हो जाती है।

मुद्राराक्षस में अनेक श्लोकों के अनुवाद में उन्होंने संस्कृत से अन्तर कर दिया है जैसे द्वितीय अंक में—

कंचुकी :—'नृपनंद काम समान चातक-नीति-जर-जर्जर भयौ।'

यह पद्य संस्कृत के श्लोक का नितान्त उल्टा अनुवाद है। संस्कृत में प्रस्तुत विषय कंचुकी स्वयं की जर्जरावस्था है किन्तु इस अनुवादित पद्य में प्रस्तुत विषय राजनीति हो गई है।

इसी प्रकार तृतीय अङ्क के आरंभ में कंचुकी द्वारा गाये गए सवैये में भी मौलिक समावेश हुआ है। इसी अङ्क में आगे चलकर प्रथम वैतालिक के द्वारा राग-कलिगड़ा में गाया गया शरद्-वर्णन मौलिक समावेश है। गद्य की भाषा में भी प्रचलित मुहाविरों का मौलिक समावेश हुआ है।

'धनंजय विजय' में अन्तिम भरतवाक्य 'राजवर्ग मद छाँड़ि निपुन विद्या में होई' में मौलिकता का समावेश है। 'दुर्लभ बन्धु' में पात्रों और स्थानों के

नाम बदल कर तथा कुछ स्थानों पर मौलिक गीतों का समावेश कर भारतेन्दु ने इस नाटक के अनुवाद में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। नाटक का नाम परिवर्तन भी उनकी मौलिकता का ही परिचायक है। यह नाम शेक्सपियर के मर्चेन्ट ऑफ वेनिस की अपेक्षा अधिक कथा की आत्मा के अनुरूप है।

'कर्पूर मंजरी' में भारतेन्दु के कुछ अपने गीतों तथा दूसरे अङ्क में देव और पदमाकर के गीतों का मौलिक समावेश हुआ है।

प्रायः सभी अनुवादित नाटकों की भाषा में प्रचलित मुहाविरों का प्रयोग भी इनकी मौलिकता का द्योतक है जैसे—'कर्पूर मंजरी' में 'यह शेखी और तीन काने,' बन्दर आदी का स्वाद क्या जाने,' दिया गुल पगड़ी गायब आदि आदि। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी मौलिक प्रचलित मुहाविरों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपने अनुवादित नाटकों में भी यथास्थान मौलिकता का प्रदर्शन किया है, किन्तु इससे नाटकों के मूल प्रभाव में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पाई। बल्कि नाटकों की कथा के साथ घुल मिलकर वे उसके एक स्वाभाविक अङ्ग बन गये हैं।

अनुवाद करते समय भारतेन्दु का ध्यान भावों की सफल अभिव्यक्ति और भाषा माधुर्य की ओर विशेष रहा है। इसके लिये यदि इन्हें मूल में कुछ छोड़ना या बढ़ाना पड़ा है तो भी वे नहीं हिचके। इससे नाटकों में एक मौलिक सरसता और माधुर्य आगया है। इसीलिये कहीं-कहीं उनके अनुवाद मूल से भी अधिक सुन्दर बन पड़े हैं, जैसे मुद्राराक्षस के चौथे अङ्क में नीचे का पद्य मूल से भी अधिक सुन्दर है।

उनकौ ऊँचौ सीस है वाकौ उच्च करार,
श्याम दोऊ वह जल स्त्रवत ये गंडन मधुधार।'

इसी प्रकार दुर्लभबन्धु में तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में बसन्त द्वारा गाया यह गीत—

'जो लखि छवि ऊपरी भुलाने,
तौ यह दाँव कबहूँ नहिं पाते।'

इसके नीचे का पद्य तो उनका मौलिक ही है—

उनके सभी नाटकों का अनुवाद अत्यन्त सरस और सुन्दर ही बन पड़ा है। जिसके पढ़ने में हमको मूल का सा ही आनन्द आता है। मूल संस्कृत के

श्लोकों का हिन्दी भाषा में बड़ा ही सरस, मधुर तथा भावपूर्ण अनुवाद हुआ है।

इस प्रकार भारतेन्दु के अनुवाद मूल जैसे ही सरस भावपूर्ण हुए हैं और यत्रतत्र उनमें प्रसंगानुरूप मौलिक समावेश भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

तत्कालीन तथा परवर्ती नाट्य साहित्य में भारतेंदु का स्थान

—❀❀❀—

भारतेन्दु हिन्दी नाट्य-कला के प्रवर्त्तक थे। जिस समय उन्होंने नाटक रचना आरम्भ की थी उस समय हिन्दी में न तो नाटक कहे जाने योग्य नाटक ही थे और न हिन्दी का अपना कोई रंगमंच ही था। जनता में नाटकों के प्रति रुचि भी नहीं रही थी। भारतेन्दु को एक ओर जहाँ नाटक रचना का कार्य करना पड़ा वहाँ दूसरी ओर रंगमंच और जनता में नाटकों के प्रति रुचि उत्पन्न करने का कार्य भी करना पड़ा।

जब इनका नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' खेला गया था तो भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध लेखक प्रतापनारायण मिश्र तक ने उसका विरोध किया था।

किन्तु शीघ्र ही भारतेन्दु के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने और सशक्त लेखिनी ने नाटककारों के एक मण्डल को जन्म दे दिया। और नाटक लिखने और खेलने की धूम सी मच गई। वे नये नये नाटककारों को विकसित करने के लिये विशेष सचेत और उत्सुक रहते थे। अनेक लेखकों को उत्साहित कर नाटक लिखने में प्रवृत्त करते; उनके नाटकों का संशोधन करते तथा प्रकाशित करवाते थे तथा अभिनीत कराते थे। जिन प्रतापनारायण मिश्र ने पहले भारतेन्दु के नाटक के अभिनय का विरोध किया था, वे स्वयं इनके सम्पर्क में आकर ही सफल और सुन्दर नाटककार बने।

काशीनाथ, प्रतापनारायण मिश्र, श्री निवासदास, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन', बा० तोताराम; पं० केशवराम भट्ट और राधा कृष्णदास आदि नाटककार भारतेन्दु के संपर्क से नाटक रचना में प्रवृत्त हुये। प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलि कौतुक', 'संगीतशाकुन्तल','भारतदुर्दशा'; 'हठी हम्मीर', 'गो संकट,' 'कलि प्रभाव' और 'जुआरी खुआरी नाटक और प्रहसन लिखे। ये भारतेन्दु से पूर्णरूप से प्रभावित थे और लेखन कला में भारतेन्दु

को ही आदर्श मानते थे ।'१ इनका 'भारत दुर्दशा' नाटक भारतेन्दु के भारत दुर्दशा' नामक नाटक के ही आधार पर लिखा गया है । पात्रों में भी बहुत कुछ समानता है जैसे एडीटर, बंगाली, आलस्य आदि पात्र इसमें भी हैं । मिश्रजी ने भारतेन्दु की ही तरह अपने नाटकों का कथानक यथार्थ जीवन से ही लिया है । और जो आदर्शवादी नाटक लिखे हैं वे भी यथार्थ को दृष्टि में रखकर लिखे हैं । हास्य व्यंग की शैली, सरल मुहाविरेदार भाषा, पात्रोनुकूल संवाद, रंगमंच का सरल दृश्य विधान सभी कुछ भारतेन्दु से प्रभावित है । ''कलि कौतुक'' में मिश्रजी ने भारतेन्दु की नाट्य शैली से एक पग आगे बढ़ कर कथा का जीवन से यथार्थ, मूर्त्त और सजीव रूप लिया है । इस नाटक के पात्र और कथानक काल्पनिक नहीं । इसका शिल्पगठन इस चातुरी से हुआ है कि यथार्थ विकृतियाँ कथा के घात-प्रतिघात से चित्रित और उभरती जाती हैं ।

पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन'; 'वाराङ्गना रहस्य, महानाटक' (अथवा वेश्या-विनोद-महाफाटक) (अपूर्ण) नाटक लिखे थे । इनके नाटकों में संवादों की पात्रोनुकूलता और जीवन यथार्थ के चित्रण पर भारतेन्दु का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है ।

ला० श्री निवासदास ने प्रहलाद चरित्र 'तप्ता संवरण', 'रणधीर प्रेम मोहिनी' नाटक लिखे थे । इन्होंने भी भारतेन्दु की नाट्य परम्परा को ही अपनाया था । 'रणधीर प्रेम मोहिनी' इनका सबसे उत्कृष्ट और अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक है । 'इसके लिये सूत्रधार नटी आदि का सम्बाद भारतेन्दु ने ही लिखा था ।'२ इस नाटक पर पाश्चात्य शैली का प्रभाव अधिक है । इसके नायक नायिका रणधीर और प्रेम मोहिनी नाम ही ''रोमियो एण्ड जूलियट की ओर ध्यान ले जाता है ।३ इनमें हम भारतेन्दु द्वारा प्रेरित चेतना को अधिक जागरूक और विकसित पाते हैं । भारतेंदु का नाटक ''प्रेम जोगिनी'' का पात्र 'जलघरिया' की, धर्म की आड़ में जनता के शोषण पर जिन्दा रहने वाले झपटिया' जैसे लोगों के प्रति अप्रत्यक्ष चुनौती को हम इनके 'रणधीर' और 'रिपुदमन' में अधिक सशक्त, स्पष्ट और मुखर हुई पाते हैं । रणधीर कहता है, ''जैसे आपके ऊँचे ऊँचे महलों पर सूर्य की

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५५३ (शुक्लजी)

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५६३ शुक्लजी

३ भारतेन्दु युग पृ० ७३ डा० रामविलास शर्मा

धूप पड़ती है वैसे ही हमारी गरीब झोंपड़ी में भी सूर्य्य भगवान प्रकाश करते हैं.........हमारा आपका सब संसारी हाल एक सा है और हम तुमको ये झूँठा झगड़ा छोड़कर एक दिन अवश्य यहाँ से जाना पड़ेगा।' 'रिपुदमन' भी राजा को धिक्कारता हुआ कहता है, 'जो राजा मतवाले होकर आठ पहर रनिवास में बैठे रहते हैं, जो राजा वेश्यागामी होकर उनके पीछे फिरते हैं, जो राजा अपनी प्रजा के सुख दुःख का विचार नहीं करते.........उनके जीवन पर धिक्कार है।१ इनके नाटकों में भाषा तथा संवाद भी पात्रोनुकूल ही हैं।

बा० तोताराम हिन्दी के प्रचार में भारतेन्दु के साथियों में से थे। आप पर भारतेन्दु के नेतृत्व का पूर्ण प्रभाव था; जो आपके नाटकों की यथार्थवादी शैली, भाषा, कथाचयन आदि सब पर स्पष्ट लक्षित होता है। आपने 'कीर्ति केतु' मौलिक और 'केटो कृतान्त' अंग्रेजी से अनुवादित दो नाटक लिखे थे।

राधाचरण गोस्वामी ने अनेक मौलिक नाटक लिखे हैं जैसे—'सुदामा नाटक', 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर', 'तन मन धन श्री गोसाईं जी को अर्पण'; 'बूढ़े मुँह मुँहासे'। भाषा की सरलता, व्यंगात्मक शैली, यथार्थ-वादी उद्घाटन, सरल दृश्य विधान आदि सभी पर भारतेन्दु का प्रभाव पड़ा है। मिश्र जी की भाँति इन्होंने भी मूर्त्त कथा को ही नाटक का आधार बनाया है। भारतेन्दु विभिन्न प्रवृत्तियों को सामूहिक रूप से प्रतीक रूप प्रदान कर अमूर्त्त कथा को मूर्त्त रूप देते थे। राधाचरण गोस्वामी पर भारतेन्दु का व्यापक प्रभाव था। जो गोस्वामी जी के निम्न कथन से प्रतीत होता है— "उनके लेख ग्रन्थ हमको वेद वाक्य-वत प्रमाण और मान्य थे। उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कामों में वह आदर्श थे। उनकी एक एक बात हमारे लिये उदाहरण थी।"

काशीनाथ खत्री ने 'ग्राम पाठशाला और 'निकृष्ट नौकरी';'बाल विधवा संताप' 'सिन्ध देश की राजकुमारियाँ'; 'गुन्नौरी की रानी'; 'लव जी का स्वप्न' नामक नाटक लिखे हैं। भारतेन्दु की तरह इनकी भी भाषा सरल, पात्रोनुकूल, सरल दृश्य विधान और यथार्थवादी व्यंगात्मक शैली थी।

इस प्रकार सम्पूर्ण तत्कालीन नाटककारों की रचनाओं को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतेन्दु का प्रभाव अत्यधिक था; और

* भारतेन्दु युग पृ० ७४ डा० रामविलास शर्मा

उनके बीच भारतेन्दु का उच्च स्थान था।

नाट्य कला का प्रवर्त्तन करते समय भारतेन्दु जहाँ अकेले थे, अब वहाँ थोड़े दिनों में ही नाट्य कला के संवर्द्धन में उनके चारों ओर नाटककारों का एक खासा मंडल तैयार होगया था, जिन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक यथार्थवादी नाटकों की एक अच्छी खासी भीड़ लगा दी थी; और जहाँ भारतेन्दु के नाटक लिखने के पूर्व केवल दो ही नाटक थे; वहाँ अब तीन दर्जन से भी अधिक नाटक लिखे जा चुके थे।

इन सभी नाटककारों ने भाषा कथा, पात्र, दृश्य-विधान आदि बातों में भारतेन्दु की ही शैली को ही अपनाया था। भारतेन्दु द्वारा प्रेरित देश के नवोत्थान की एक सी चेतना ही समान रूप से सब में प्रवाहित हो रही थी। भारतेन्दु ने प्राचीन और पाश्चात्य नाट्य कला के स्वस्थ समन्वय से मौलिक नवीन हिन्दी नाट्य कला को जन्म दिया था। उसी कला को लेकर यह लोग भी आगे बढ़े और कला का रूप संवर्द्धन करते रहे। भारतेन्दु की ही भाँति सभी रंगमंच की दृष्टि से ही नाटक लिखते थे और उनके अभिनय में स्वयं रुचि लेते थे।

'प्रसाद' के नाटकों पर भी भारतेन्दु का प्रभाव पड़ा था। 'प्रासाद' स्वयं एक प्रतिभा सम्पन्न महान् कलाकार थे, इसलिये उन्होंने नाट्य कला को स्वतन्त्र रूप से विकसित किया है। किन्तु भारतेन्दु ने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य शिल्प के जिस समन्वित रूप में नाट्य कला को संवारा था उसी परम्परा पर आगे चलकर 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में दोनों शैलियों के सुन्दर समन्वय का रूप-निखार किया है। भारतेन्दु नाटक को रंगमंचीय होने के प्रति जो विशेष बल देते थे उसका अभाव हम प्रसाद में अवश्य पाते हैं। ये रंगमंच को दृष्टि में रखकर नाटक लिखने के पक्षपाती नहीं थे; वरन् नाटक के अनुरूप रंगमंच को बनाने का दृष्टिकोण रखते थे।

किन्तु प्रसादोत्तर काल के नाटककारों पर भारतेन्दु का प्रभाव अनेक रूपों में पड़ा है। रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, जगदीश-चन्द्र माथुर, आदि तथा विशेषकर उपेन्द्र नाथ 'अश्क' पर जीवन से कथावस्तु चुनने, नाटक को रंगमंचीय बनाने, सरल भाषा का प्रयोग करने आदि पर भारतेन्दु का प्रभाव पड़ा है। आधुनिक नाटककार भारतेन्दु की व्यंगात्मक यथार्थवादी शैली, नाटक को अधिक से अधिक रंगमंचीय बनाने में तथा सरल रंगमंचीय विधान में भारतेन्दु की परम्परा पर ही आगे बढ़ रहे हैं। आज एकांकी

नाटकों और सम्पूर्ण जीवन का चित्र उपस्थित करने वाले लघु-नाटकों (कैद और उड़ान) की जो टेकनीक विकसित होरही है; उसके बीज भी भारतेन्दु की नाट्य कला में ही हमको मिलते हैं। भारतेन्दु ने नाट्य कला का जो सरल, सुलभ, जनरूप प्रदान किया था उसकी उपयोगिता आज पुनः नाटककारों को अपनी ओर आकर्षित कर रही है और नाटक जनचेतना-उद्बोधन के सशक्त साधन बनते जा रहे हैं।

नाटक-परिशिष्ट

विद्या सुन्दर

—:-*-:—

इस नाटक का रचनाकाल सन् १८६८ है। इस नाटक का निर्माण भारतेन्दु ने 'यतीन्द्र मोहन ठाकुर के बंगला नाटक की छाया' लेकर किया है।

कथानक:—वर्द्धमान को राजकुमारी विद्या ने प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा, उसी को वह वरण कर लेगी, सुन्दर रांँचीपुर के गुणसिन्धु नाम के राजा का पुत्र था। वह इस प्रतिज्ञा को सुनकर गुप्त रूप से वर्द्धमान आया और हीरा मालिन के यहाँ ठहरकर उसकी सहायता से उसने विद्या के पास एक माला गूंथकर भेजी। हीरा मालिन ने सुन्दर के रूप का वर्णन कर विद्या को उसकी ओर आकर्षित किया। सुन्दर एक दिन सुरंग की राह विद्या के पास पहुँच जाता है, और वहाँ सखियों के बीच में दोनों का गन्धर्व विवाह हो जाता है। सुन्दर एक दिन सन्यासी के बेश में राजसभा में जाकर सब सभासदों को शास्त्रार्थ में पराजित कर देता है। विद्या यह नहीं जान पाती कि वह सन्यासी सुन्दर ही है अस्तु वह चिन्ता ग्रस्त हो जाती है कि शास्त्रार्थ में विजयी उस सन्यासी से उसे विवाह करना होगा। तब सुन्दर से उसके प्रेम का क्या होगा? किन्तु सुन्दर उसे बाद में बता देता है कि वही सन्यासी बना था। एक दिन राजा के सिपाहियों को पता चल जाता है कि वह गुप्त रीति से विद्या के भवन में जाता है और सिपाही उसे बन्दी बना लेते हैं। उसकी सहायक होने के कारण हीरा मालिन भी गिरफ्तार कर ली जाती है। राजा सुन्दर को फाँसी की सजा देता है और हीरा मालिन भी दण्डित होती है। किन्तु गङ्गा भाट जो राजा की ओर से रांचीपुर से सुन्दर को बुलाने गया था, सुन्दर को पहचान लेता है और राजा को उसका असली परिचय देता है।

अन्त में राजा स्वयं विद्या और सुन्दर का विधिवत रूप से विवाह कर देता है।

वस्तु विन्यास:—यह प्रेम कथा तीन अङ्कों और प्रत्येक अङ्क के क्रमशः चार, तीन, तीन, दृश्यों में विन्यसित है। कथा विन्यास में पूर्ण रूप से पाश्चात्य शैली का अनुकरण किया गया है। इस नाटक में 'प्रारम्भ में नान्दी तथा प्रस्तावना है',१ यह बात श्री प्रेमनारायण शुक्ल ने लिखी है। पर हमें बाबू ब्रजरत्नदास के संग्रह (भाग पहला) में संग्रहित 'विद्या सुन्दर' नाटक में नान्दी और प्रस्तावना देखने को नहीं मिली। इसके गर्भांक ही दृश्य कहे जा सकते है। वस्तु विन्यास में कार्य व्यापार और घटनाओं के घात प्रतिघातों द्वारा कथा विकास सुन्दर ढंग से हुआ है, किन्तु विद्या की प्रतिज्ञा जो नाटक का मुख्य आधार है, पूरी नहीं होती और उसे बीच में ही छोड़ दिया गया है, तथा कहानी विद्या और सुन्दर के पूर्वाकर्षण से आगे बढ़ती है। यद्यपि लेखक ने सन्यासी के वेश में सुन्दर के शास्त्रार्थ में विजयी होने की सूचना देकर प्रतिज्ञा के निर्वाह का प्रयास किया है, किन्तु उसका सफल निर्वाह और कथा से उसका सम्बन्ध वह नहीं जोड़ पाया है। इसलिए कथा विन्यास में कुछ शिथिलता आ गई है।

चरित्र चित्रण:—इस नाटक में विद्या, सुन्दर और हीरा मालिन तीन मुख्य पात्र हैं और शेष गौण।

विद्या :—विद्या, सुन्दर को देखते ही उगकी ओर आसक्त हो जाती है और अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाती है, उसके मन में एक द्वंद्व होने लगता है - प्रेम को निबाहे या प्रतीज्ञा को। अन्त में प्रेम विजयी होता है। हम तो इसे उसके चरित्र की निर्बलता ही कहेंगे; क्योंकि लेखक उसके चरित्र का मूलाधार प्रतिज्ञा को बनाकर चला था। वैसे, विद्या के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण हुआ है वह एक बार जब सुन्दर से प्रेम करने लगती है तो उसको साहस के साथ निभाती भी है।

सुन्दर :—सुन्दर का चरित्र साहसी, चतुर और सच्चे प्रेमी के रूप में आरम्भ होकर उसी रूप में समगति से विकसित होता है और अन्त में वह अपने कार्य में सफल होता है, वही इस नाटक का नायक भी है; क्योंकि उसी को फल की प्राप्ति भी होती है। विद्या को नायक नहीं कह सकते, क्योंकि उसे अपनी प्रतिज्ञा की फल प्राप्ति नहीं होती। वह तो बीच में ही उससे

१, 'भारतेन्दु नाट्य कला'—श्री प्रेमनारायण शुक्ला पृ० सं० ११७

विमुख हो जाती है, और पश्चाताप करती है कि उसने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की ।

हीरा मालिन :—हीरा मालिन का चरित्र उन स्त्रियों का सा है जो दो प्रेमियों के बीच का सूत्र बन उनमें संयोग करातीं हैं ।

चरित्र-चित्रण में पाश्चात्य शैली का अनुकरण हुआ है । पात्रों का चरित्र मानसिक अन्तर्द्वन्द्व व घटनाओं के घात-प्रतिघात से पाश्चात्य शैली के अनुसार विकसित हुआ है ।

भाषा-संवाद :—भाषा-संवाद की दृष्टि से नाटक दोष पूर्ण है । यह भारतेन्दु का प्रथम नाटक है और हिन्दी साहित्य का तीसरा । अस्तु दोष रह जाना स्वाभाविक है । संवादों में न तो नाटकीय गति है, और न उनकी भाषा में ही प्रवाह है । संवाद बहुत ही लम्बे और शिथिल हैं । वाक्यों का गठन भी स्थूल और कुघढ़ है, संवादों में सॉंकेतिक व्यंजना का गुण थोड़ा सा अवश्य है जैसे पहले अङ्क के दूसरे गर्भाङ्क में सुन्दर तथा चौकीदार के संवाद में 'विद्या' का प्रयोग ।

चौ०—तो फिर यहाँ क्यों आए हो ?

सु०—यहाँ विद्या प्राप्ति के अर्थ आए हैं ?

\+ + + +

चौ०—.... आप अनेक विद्या लाभ करें, राजकुमारी विद्या भी आपको मिले ।

तथा चौथे दृश्य में सुन्दर के द्वारा गूथी माला आदि सांकेतिक अर्थ के द्योतक हैं । संवादों में आह, वाह, ओह जैसे विस्म्याधिबोधक शब्दों का अत्यधिक प्रयोग भी खटकता है । भाषा बड़ी ही अनगढ़ और शिथिल है—

"... 'चार पाँच कोड़े तुम्हारी पीठ पर पड़ें तब जानो ।'

'बस अब बहुत भई, ...

'और जो वह सन्यासी हमीं होयँ । ..."

गीत :—नाटक में गीत छोटे और उपयुक्त हैं । नाटकीय कथा के विकास और चरित्रगत विशेषताओं के स्पष्टीकरण में सहायक होते हैं ।

अभिनेयता :—दृश्य विधान सरल है । संवादों के लम्बे और शिथिल होने की दृष्टि से यह नाटक अभिनय के लिये दोषपूर्ण है ।

दोष एवं अस्वाभाविकताएँ :—सुरंग खोद कर सुन्दर का विद्या के

पास पहुँचने का प्रसंग रंगमंच की दृष्टि से दोषपूर्ण है। विद्या के विवाह में रानी का कोई सहयोग नहीं दिखाया गया। यह भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है। नाटक के आरम्भ में ही विद्या की कड़ी प्रतिज्ञा का उल्लेख राजा के संवाद में होता है, पर न तो राजा ही और न विद्या की ओर से ही उसके निर्वाह का उपक्रम दीख पड़ता है। अस्तु नाटक में से प्रतिज्ञा के प्रसंग को यदि हटा भी दिया जाय तो कथा विकास में कोई अवरोध नहीं उत्पन्न होता।

—::o::—

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

—❀—

यह एक प्रहसन है। इसकी रचना सन् १८७३ में हुई थी।

इस नाटक की वस्तु तत्कालीन सामाजिक जीवन से ली गई है। तत्कालीन जीवन में धार्मिक मतमतान्तरों का जो भ्रमजाल फैला था (जो अभी तक नहीं हटा है) और उसके कारण सामाजिक जीवन में जो दुवृत्तियाँ बढ़ती जा रही थीं, उन्हीं दुर्वृत्तियों और मतमतान्तरों के पाखंडों के अमूर्त किन्तु यथार्थ आधार को कल्पना से मूर्त रूप देकर इसकी कथा का निर्माण हुआ है।

उद्देश्य :—उपरोक्त दुवृत्तियों, पाखंडों और मतमतान्तरों की गलित यथार्थता का उद्घाटन और उन पर तीखे व्यंग करना, और उनके कारण जीवन में आई विकृतियों को दिखाकर जनता को सचेत करना ही इस नाटक का प्रमुख उद्देश्य है।

कथावस्तु :—महाराज गृद्धराज माँस भक्षी और मद्यपेयी हैं। उनके पुरोहित माँस भक्षण और मदिरापान को वेद-धर्म सम्मत ठहरा कर पुण्य कर्म सिद्ध कर देते हैं। मन्त्री राजा को इस कार्य में बढ़ावा देते हुए उसकी चाटुकारी करता है। बंगाली वैष्णव जो पुनर्विवाह का हामी है मछली को वीर्य और रज से बना न बताकर उसे फल रूप में खाना सिद्ध करता है। साधू गडकीदास माँस मदिरा के जीव ही हैं। मंत्री सब की हाँ में हाँ मिलाकर सब की दाद देता जाता है। सभी धर्मवाक्यों की अपनी मनोवाँछानुकूल व्याख्या करते हैं, केवल वैष्णव और शैव माँस भक्षण और मदिरापान का विरोध करते हैं। शेष सभी माँस भक्षण मद्यपान और स्वच्छन्द स्त्रीरमण को ही जीवन का सार और धर्मानुकूल ठहराते हैं, और स्वयं उसी में लिप्त रहते हैं। जब सब मिलकर यमराज के पास जाते हैं तो वह शैव और वैष्णव को तो अपने पार्श्व में स्थान दे सम्मानित करता है और शेष सब को अलग अलग घोर नरक यातनाओं के दण्ड का भागी ठहराता है। शैव और वैष्णव को बैकुण्ठ वास मिलता है।

इस नाटक के कथा-विन्यास में प्राचीन और नवीन दोनों नाट्य-शैलियों का प्रयोग हुआ है। नाटक के आरम्भ में नान्दी पाठ और एक छोटी सी प्रस्तावना भी है और अन्त में भरत वाक्य भी। बस संस्कृत की टेकनीक का इतना ही निर्वाह हुआ है अन्यथा वस्तु, दृश्य विधान, चरित्र चित्रण और दृश्य गठन सभी में नवीन शैली का ही अनुकरण किया गया है। सारी कथा धर्म की ओट में अधर्म करने वालों का प्रतीकात्मक चित्रण है और यथार्थ जीवन से सम्बन्ध रखती है। दृश्य विधान में भी अनेक वर्जित दृश्यों का समावेश है, जैसे—पहिलाही दृश्य 'रक्त से रंगा हुआ राजभवन' प्रस्तुत किया गया है। तीसरे अङ्क में मदिरा पान दिखाया गया है। सभी चरित्र अधम हैं और जीवन की विकृतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं

यह प्रहसन अपने लघु आकार में ही पूर्ण नाटक की विशेषताओं से सम्पन्न है।

चरित्रचित्रण :—प्रहसन के सभी पात्र अपने प्रतीक रूप में ही चित्रित हुए हैं। उनके नामकरण भी उनकी वर्गगत प्रतीकात्मकता को ही सिद्ध करते हैं। महाराज गृद्धराज का चरित्र समाज के उन राजाओं और धनीमानी व्यक्तियों का प्रतीकात्मक चरित्र है, जिनके जीवन का सार 'जूआ मदिरा और नारी संग बिहार' ही है, और जो अपने मन चाहे कर्म-कुकर्मों के लिये धर्म की आड़ में सम्मति प्राप्त कर मान और प्रतिष्ठा प्राप्ति को उत्सुक रहते हैं।

पुरोहित का चरित्र आज के उन पुरोहितों का प्रतीक रूप है जो अपने यजमान के मनोवाँछानुकूल ढूँढ ढूँढ कर शास्त्रों से सम्मतियाँ देते हैं और शास्त्रों के सही अर्थों को विकृत करते हैं तथा उससे अपनी स्वार्थ सिद्धि करते हैं। ऐसे पुरोहित यजमान की इच्छा का आभास पाते ही तुरन्त शास्त्र का श्लोक पढ़ उसका विधान प्रस्तुत कर देते हैं।

पुरो०— हाँ हाँ, जी इसमें भी कुछ पूछना है, अजी साक्षात मनुजी कहते हैं—

'न माँस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।''

+ + +

पुरो०—हाँ जी, यह सब मिथ्या एक प्रपंच है, खूब मजे में माँस कचर-कचर के खाना और चैन करना · · ·'

चित्रगुप्त के शब्दों में पुरोहित की सभी चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती है—

चित्र०—' ' 'जो-जो पक्ष राजा ने उठाए उसका समर्थन करता रहा और टके टके पर धर्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा मात्र दे दीजिए फिर जो कहिए उसी में पण्डितजी की सम्मति है केवल इधर उधर कमंडलाचार करते इसका जन्म बीता और राजा के संग में माँस मद्य का भी बहुत सेवन किया, सैकड़ों जीव अपने हाथ से बध कर डाले।'

ऐसे पुरोहितों का यह प्रतीक व्यंग-चरित्र अत्यन्त ही सटीक हुआ है। राजा का चरित्र भी प्रतीकात्मक है। चित्रगुप्त के शब्दों में भारतेन्दु ने राजा के चरित्र का स्वयं ही बड़ा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है—

चित्र :—यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पण्डितों से ले ली, लाखों जीव का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया और आड़ सर्वदा धर्म की रखी, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शान्ति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्म जाल किया, जिसमें माँस भक्षण और मदिरा पीने को मिले, और परमेश्वर प्रीतार्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।

राजा का चरित्र यथार्थ चरित्र है और 'ज्यों त्यों प्रतिष्ठा प्राप्ति के इच्छुक' व्यक्तियों का वह बड़ा ही सटीक चरित्र है। ऐसे व्यक्तियों की चारित्रिक विशेषताएँ अपने विकृत रूप में चित्रित हुई हैं।

साधू गंडकीदास भी आजकल के तथा कथित साधुओं के विकृत जीवन का प्रतीक चरित्र है।

चित्र—महाराज ये गुरु लोग हैं, उनके चरित्र कुछ न पूछिए, केवल दंभार्थ इनका तिलक मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत् न किया होगा, पर मन्दिर में जो स्त्रियाँ आई उनको सर्वदा तकते रहे; महाराज इन्होंने अनेकों को कृतार्थ किया है और स...व में तो मैं श्री रामचन्द्रजी का श्रीकृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगों के पास जाती हैं, हा! महाराज, ऐसे पापी धर्म बंचकों को आप फिर नरक में भेजिएगा।

गंडकीदास जैसे साधू आज भी समाज में गन्दिगी उत्पन्न कर रहे हैं। यह चरित्र अपने वर्ग का सच्चा और यथार्थ प्रतिनिधित्व करता है।

मन्त्री भी चाटुकार मन्त्रियों का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने राजा को खुश करने के लिए बात-बात में उसकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। चित्रगुप्त के शब्दों में मन्त्री का चरित्र है—'इसने कभी स्वामी का भला नहीं किया, केवल चुटकी बजाकर हाँ में हाँ मिलाया, मुँह पर स्तुति, पीछे निन्दा, प्रजा पर कर लगाने में तो पहिले सम्मति दी पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया।'

सम्बादों और सम्वादों की भाषा की दृष्टि से यह प्रहसन अत्यन्त ही उत्कृष्ट है। संवाद छोटे और तीखे हैं; सजीव, सरल, व्यंगपूर्ण और नाटकीय हैं। संवादों में चारित्रिक विशेषताओं तथा कथा के अभीष्ट को अभिव्यक्त करने की अपार क्षमता है। यह बात पीछे दिए गए उद्धरणों से ही स्पष्ट हो जाती है नए उद्धरणों की आवश्यकता नहीं। भाषा में पात्रोनुकलता भी है, बंगाली वैष्णव, बंगाली उच्चारण के अनुरूप 'नुकसान' शब्द को 'लोकसान' बोलता है। पर यह पात्रोनुकलता का इस प्रहसन से सर्वत्र निर्वाह नहीं हो पाया है। सब की भाषा प्रायः एकसी ही है। वाक्य गठन में नई हिन्दी के दर्शन होते हैं।

सारा नाटक ही व्यंगचित्र है, जो तत्कालीन जीवन की धार्मिक विकृतियों पर व्यंग करता है। व्यंग में विरोधी सत्वों के तर्कों को भी सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया गया है। पुरोहित अपने मत समर्थन में कहता है–

पुरो०—सच है और देवी की पूजा नित्य करना इसमें कुछ सन्देह नहीं है, और जब देवी की पूजा भई तो माँस भक्षण आ ही गया। बलि बिना पूजा हो ही गी नहीं और जब बलि दिया तब उसका प्रसाद अवश्य ही लेना चाहिए। अजी भागवत में बलि देना लिखा है जो वैष्णवों का परम पुरुषार्थ है।'

पुरोहित चित्रगुप्त से कहता है—

पुरो—····यदि माँस खाना बुरा है तो दूध क्यों पीते हैं, दूध भी तो माँस ही है और अन्न क्यों खाते हैं अन्न भी तो जीव है और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद में सोमपान क्यों लिखा है और महाराज मैंने तो जो बकरे खाए वह जगदम्बा के सामने बलि देकर खाए, अपने हेतु कभी हत्या नहीं की···और महाराज, मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेन्द्रलाल के दोनों लेख देता हूँ, उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि मांस की कौन

कहे गौ मांस खाना और मद्य पीना कोई दोष नहीं, आगे के हिन्दू सब खाते पीते थे।'

इस प्रहसन में भी अंग्रेजी सरकार पर भारतेन्दु ने करारा व्यंग किया है–

चित्र०—महाराज सरकार अंग्रेज के राज्य में उन लोगों के चित्तानुसार जो उदारता करता है उसको "स्टार आफ़ इण्डिया" की पदवी मिलती है।

इस प्रकार सारे नाटक का महत्व अपने व्यंगों की तीव्रता में ही है। निःसन्देह व्यंग बड़े ही तीखे बन पड़े हैं और उनके द्वारा धर्म के क्षेत्र की सारी विकृतियों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

अभिनय की दृष्टि से भी यह प्रहसन अत्यन्त सफल है। दृश्य विधान छोटे-छोटे और सरल हैं। जिज्ञासा की मात्रा भी पर्याप्त है।

गीत भी अभिनेयता में तथा व्यंग को गति देने और व्यंग का उभाड़ने में सहायक हैं। नाटक के कार्य व्यापार में भी गीत गति प्रदान करते हैं। संस्कृत के श्लोक और गीत तो नाटक के व्यंग को तीखा करने में और भी सहायक हुए हैं।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दु के सुन्दर सफल नाटकों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

प्रेम-जोगिनी

— :*: —

इस नाटक की रचना सन् १८७५ में आरम्भ हुई थी और साथ ही 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में इसका प्रकाशन भी होता जाता था; किन्तु चार ही अंक पूरे हो पाये।

उद्देश्य—काशी की यथार्थ स्थिति को दिखाना ही इसका मुख्य उद्देश्य है। उसके 'खेलने में लोगों को वर्त्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा।'

कथानक—नाटक अपूर्ण रह जाने के कारण इसका कोई सम्पूर्ण क्रमबद्ध कथानक नहीं है। पहला दृश्य मन्दिर के चौक का है जिसमें एक एक कर झपटिया मिश्र, दो गुजराती, छक्कू जी, माखनदास, बाल मुकुन्द, मलजी, धनदास, बनितादास आदि आदि १४ पात्र आते हैं। इस अङ्क में अलग-अलग उनकी धार्मिक प्रवृत्तियों और उनके धार्मिक-मुलम्मा चढ़े ढोंगी जीवन की यथार्थता का उद्घाटन होता है। दूसरे अङ्क में गैबी का दृश्य है जहाँ पर दलाल, गंगापुत्र, भंडेरिया, भूरीसिंह और परदेसी के पारस्परिक कथोपकथनों द्वारा काशी के पंडों दूकानदारों आदि का यथार्थ चित्र खींचा गया है कि किस तरह वे परदेसियों को धर्म के नाम पर फँसाते औ लूटते हैं। तीसरा दृश्य मुगलसराय स्टेशन का है, जिसमें सुधाकर पण्डित एक विदेशी पण्डित को काशी महिमा का गुणगान कर अपने यहाँ ठहरने को आमंत्रित करता है। चौथे दृश्य में बनारस के धर्माधिकारी पण्डितों की पोल खोली गई है कि वे किस तरह यजमान की सुविधानुसार शास्त्र सम्मति देकर धन प्राप्त करते हैं। चारों अंक मिलाकर काशी की चार पहलुओं से एक सम्पूर्ण तस्वीर उपस्थित कर देते हैं।

वस्तु-विन्यास—'नई और पुरानी दोनों रीति' मिल के इस नाटक का वस्तु गठन हुआ है। प्रत्येक अङ्क अपने में पूर्ण है। और अङ्क में आये पात्रों के चरित्र सम्बन्धी संकेत मात्र इसमें हुए हैं। अङ्कों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। अलग अलग काशी का छाया चित्र उपस्थित करते हैं। इस दृष्टि

से इसका नाम छाया चित्र ही रखा जाय तो अपने में यह नाटक पूर्ण माना जा सकता है।

चरित्र-चित्रण—प्रत्येक अङ्क में अलग अलग पात्र आए हैं अस्तु किसी पात्र के चरित्र का पूर्ण चित्र इसमें नहीं उपस्थित हो सका है। तथापि पात्रों की चरित्र गत विशेषताओं के प्रति संकेत अवश्य हुआ है। जैसे—

छक्कूजी : 'बाबू रामचन्द का क्या हाल है ?'

माखनदास : 'हाल जोन है तौन आप जानतै हौ······अभई कल्हौ हम ओ रस्ते रात के आवत रहे तो तबला ठनकत रहा।'

इस संवाद में बा० रामचन्द्र की चरित्र-गत विशेषता की ओर संकेत हो गया है।

दलाल : 'कहो गहन यह कैसा बीता······
माल वाल कुछ मिला··········
कोई चूतिया फँसा या नहीं।'

गंगा पुत्र : भैया अपना तो जिजमानै है अपने न बोलेंगे चाहे दस गारी दैले।'

भंडेरिया : अपनौ जिजमानै ठहरा।'

दलाल : और अपना भी गाहकै है।

दूकानदार : हमहूँ चार पैसा इके ही बदौलत पावा है।

भूरीसिंह : तू सबका बोल बो तू सब निरे दब्बू चप्पू हौ हम बोलबै।

उपरोक्त संवादों में प्रत्येक पात्र की चरित्रगत विशेषताओं का स्वतः संकेत हो जाता है। भूरीसिंह का संवाद अपनी चरित्रगत विशेषता की ओर संकेत करने के साथ ही अन्य पात्रों के ऊपर व्यंग कर उनकी चरित्रगत विशेषताओं को और भी स्पष्ट कर देता है। इसी प्रकार नाटक के अन्य पात्रों के चरित्रों का चित्रण सांकेतिक रूप से हुआ है।

व्यंग—इस नाटक में सामाजिक और धार्मिक विकृत प्रवृत्तियों के साथ सूत्र धार के द्वारा ईश्वर की सत्ता पर भी व्यंग किया गया है। 'मेरा आज इस जगत के कर्त्ता और प्रभु पर से विश्वास उठा जाता है और सच है क्यों न उठे, यदि कोई हो तब न, उठे। हाँ! क्या ईश्वर है तो उसके यही काम है जो संसार में हो रहे हैं ?··········क्या अब भारत खंड के लोग ऐसे कापुरुष और दीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गये ? हाँ लोग कहते हैं ये

उसके खेल हैं छिः ! ऐसे निर्दय को भी लोग दया समुद्र किस मुँह से पुकारते हैं ।

भाषा व सँवाद्—इसके संवाद छोटे छोटे गतिशील, नाटकीय सांकेतिक व्यंग व्यंजना से पूर्ण हैं । भाषा पात्रोनुकूल; प्रभावशाली और चपल हैं जिसमें बोलचाल के अनेक शब्द, और मुहाबिरे प्रयुक्त हुए हैं जैसे—'ए चिड़िया बावली के परदेसी फरदेसी', 'मटिया बुर्ज', निरे पोथी के बैठन' आदि आदि । उर्दू के बोलचाल के रूपों का भी प्रयोग हुआ है जैसे—'खबगी (खफा होना) अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है— cunning chap ।

पद्यात्मक संवादों में तो बड़ी ही चपलता और नाटकीयता है । गद्यात्मक संवादों में भी अपूर्व नाटकीयता और सजीवता है ।

गीत—इसमें एक गीत और थोड़े से पद्यमय संवाद है । पद्यमय संवाद कार्य गति प्रेरक और रोचकता वर्धक है । गीत व्यंगात्मक हैं और काशी की यथार्थ तस्वीर का उद्घाटन करता है ।

अभिनेयता—नाटक जिस रूप में प्राप्त है उस रूप में वह रंगमंच पर सफल है । वह काशी की विकृतियों की यथार्थ झाँकी दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में समर्थ है, दृश्य विधान सरल और रंगमंचीय हैं । पात्रों की बहुलता भी अभिनय में बाधक नहीं हैं ; क्योंकि सभी अङ्कों में अलग अलग पात्र आते हैं । इस प्रकार एक ही पात्र अनेक अभिनय कर सकता है ।

इस नाटक में भारतेन्दु की सांकेतिक यथार्थवादी शैली का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है; जिस रूप में भी नाटक प्राप्त है, उस रूप में ही वह काशी का एक छाया चित्र उपस्थित करने में सफल है ।

विषस्य विषमौषधम्

—!!!*!!!—

इसका रचना काल सन् १८७५ है। यह भाण शैली में लिखा गया है। भाण प्राचीन नाटयशास्त्र की एक विशेष शैली है, जिसमें एक ही अङ्क होता है, और एक ही पात्र आंगिक और वाचिक अभिनय करके दर्शकों के सम्मुख कथा को व्यंग, हास्य, संगीत आदि से युक्त कर प्रस्तुत करता है, जिससे दर्शकों के सामने कथा का अभीष्ट विषय स्पष्ट हो सके। इसमें एक ही पात्र अभिनय करता है। अतः उसे ऐसी कुशलता से अभिनय करना पड़ता है कि दर्शक ऊब न उठें। अभिनेता को कथा-प्रसंग के अनुसार गाना, रोना, नाचना, हँसना, उछलना, कूदना सारे अभिनय स्वयं ही करने होते हैं। इसकी कथा और भाषा आदि में भी हास्य, करुण, वीर व्यंग आदि विविध भावों का होना अनिवार्य है; क्योंकि एकरसात्मकता तो दर्शकों को शीघ्र उबा देगी। भाषा में अभिनेयता और रोचकता होना आवश्यक है।

इस भाण में बड़ौदा राज्य के इतिहास का व्यंगात्मक चित्रण है। और उसके प्रसंग के द्वारा 'अंग्रेजों के हाथ शतरंज की मुहरें बने' अन्य राजाओं और उनके भावी भाग्यों पर भी व्यंग हुआ है। बड़ौदा के राजा मल्हारराव गायक वाड़ के कुत्सित व्यभिचारी कर्मों के कारण गद्दी से उतारे जाने की छोटी सी घटना पर इस 'भाण' का निर्माण हुआ है।

कथा आधार और उसके संगठन की दृष्टि से यह भाण शैली का सफल उदाहरण नहीं कहा जा सकता। इसकी कथा दर्शकों को आकर्षित और अपने में तन्मय करने की शक्ति नहीं रखती। भंडाचार्य मल्हारराव की व्यभिचार-कथा कहते-कहते बड़ौदा के पूर्व इतिहास को कहने लगता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि हम नाटक नहीं देख रहे, वरन् इतिहास सुन रहे हैं और वह भी अरोचक ढंग से कहा हुआ। मल्हारराव की व्यभिचार कथा पर भी व्यंग स्पष्ट नहीं हुआ है। हास्य का तो इसमें अभाव ही है। और जिज्ञासा का प्रधानतत्व तो बिल्कुल ही नहीं।

किन्तु इस भाण से हमें भारतेन्दु के ऐतिहासिक ज्ञान तथा राजनीतिक

घटनाओं के प्रति उनकी पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि वे समाज में घटने वाली छोटी से छोटी घटना को भी तत्कालीन जीवन पर व्यंग करने के लिये चुनने में कितने सजग रहते थे।

वे तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं से देख रहे थे कि किस प्रकार अंगरेज भारत आये और छल बल तथा बुद्धि से राजा बन बैठे। जिन राजाओं ने उन्हें यहाँ जमने में सहायता दी थी और जो उनको अपना सगा समझते थे, उन्हें भी अंगरेज अवसर पड़ने पर गद्दी से उतारने में नहीं चूकते। भारतेन्दु अपने समय के राजाओं की व्यभिचार-लीला तथा प्रजा-शोषण देख रहे थे, जिससे उनका मन क्षुब्ध था। यह राजा ही देश की परतन्त्रता के कारण बने थे और अब अपने को अंग्रेजों की छत्र-छाया में मनमानी करने का अधिकारी समझते थे। इन्हीं राजाओं में से एक का अपने सगे अंग्रेजों द्वारा गद्दी से उतारा जाना, जिस गद्दी पर वे अंग्रेजों की शरण में अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझे बैठे थे, भारतेन्दु को यह व्यंग रूपक लिखने की प्रेरणा दे सका, यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि उस समय जब सब ओर अनाचार और व्यभिचार का बोल बाला था, इसके लिए एक राजा जैसी हस्ती का दण्डित होना प्रगति का ही सूचक था।

इस भाण में अंग्रेजों पर व्यंग अच्छे उभरे हैं, किन्तु व्यंगों में तीव्रता नहीं आ पाई।

'इनका राज्य गया तो क्या आश्चर्य है। यह कुछ आज ही थोड़े हुई हैं। सनातन से चली आई है और फिर राजनीति रक्षा भी तो इसी से होती है।' इससे व्यजित होता है कि भारतेन्दु मल्हारराव का गद्दी से उतारा जाना अंग्रेजों की एक राजनीतिक चाल ही समझते थे। इसी प्रसंग में आगे भारतेन्दु शिकवा करते हुए कहते हैं कि बड़ौदा में तो सरकार ने मल्हारराव को गद्दी से उतारा पर रामपुर जहाँ यवन हिन्दुओं पर खुले अत्याचार करते हैं वह कुछ नहीं कहती। "सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं वा यह तो बुद्धि का प्रभाव है और यह तो उनके सुशासन और बल का फल है।"

यहाँ सुशासन शब्द बड़ौदा और रामपुर में अंग्रेजों की अलग-अलग दुरंगी नीति के प्रति व्यंग में ही प्रयुक्त हुआ है। भारतेन्दु अंग्रेजों की 'फूट डालो राज करो' की नीति को समझते थे।

कुछ पाठक अथवा आलोचक इस रूपक के भरतवाक्य की निम्न पंक्तियों

और अंग्रेजी राज्य की प्रशस्ति में कह गए वाक्यों को भारतेन्दु के अंग्रेजी राज्य के प्रति विचार कह कर उनकी देशभक्ति को राजभक्ति सिद्ध करते हैं—

"अंगरेजन कौ राज ईस इतथिर कर थापै ।"

'अहा धन्य है सरकार यह बात कहीं नहीं है । दूध का दूध पानी का पानी ······ ईश्वर जब तक गंगा यमुना में पानी है तब तक उनका राज्य स्थिर रहै ······ धन्य अंग्रेज, राम और युधिष्टिर का धर्मराज इस काल में प्रत्यक्ष कर दिखाया ।'

यह शब्द भंडाचार्य का है जो अपनी पुरोहिती के लिये उत्सुक है और कहता है······ 'कोऊ नृप होय हमें का हानी' ··· ···· "भला और क्या चाहेंगे हमारा भण्डपना जारी ही रहा। बड़ौदा का राजसुख से बसा तो अब और क्या चाहिये ।"

इन शब्दों को भारतेन्दु का कहकर श्यामसुन्दरदास जैसे आलोचक ने भारतेन्दु की देशभक्ति पर जो आक्षेप किया है वह युक्ति संगत नहीं है ।

अभिनय की दृष्टि से यह नाटक नितान्त असफल है । किन्तु इसका राजनीतिक व्यंगात्मक महत्व ही प्रमुख रूप से है ।

सत्य हरिश्चन्द्र

—!!!:*:!!!—

इस नाटक का रचनाकाल सन् १८७५ है। इस नाटक का सृजन भारतेन्दु ने अपने मित्र बा० बालेश्वर प्रसाद के सुझाव पर "लड़कों के पढ़ने पढ़ाने की दृष्टि से किया था।

यह एक पौराणिक नाटक है। इस नाटक की कथा सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पुराण प्रसिद्ध कथा के आधार पर निर्मित हुई है। कहीं कहीं इसमें कल्पना का भी समावेश है जैसे इन्द्र की ईर्ष्या का दृश्य। इस नाटक के प्रणयन में संस्कृत का चण्डकौशिक नाटक किसी हद तक आधार बनाया गया है।

राजा हरिश्चन्द्र सूर्यवंश की प्रसिद्ध सत्यवादिता; दानशीलता, कर्तव्य परायणता और प्रजा वत्सलता आदि की परम्परा के उत्तराधिकारी थे। वे स्वयं इन सब गुणों की प्रतिमूर्ति थे। उनकी परम सत्यवादिता, दानशीलता और प्रण-पालकता से इन्द्र अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था उसे भय हुआ कि कहीं राजा इन्द्रासन का अधिकारी पद न प्राप्त करले। ऋषि विश्वामित्र भी हरिश्चंद्र से उनके, कुलगुरु वशिष्ठ से वैर होने के कारण बैर मानने लगे। इन्द्र उनके इस बैर और ऋषि के क्रोधी स्वभाव से परिचित था। उसने इन्हीं को राजा हरिश्चन्द्र का 'तेजोभ्रष्ट' करने के लिए उपयुक्त पात्र चुना। जब विश्वामित्र इन्द्र सभा में आये तो उसने राजा की प्रसिद्धि की सारी कहानी उनसे कही और उनकी क्रोधाग्नि को प्रज्जवलित कर दिया। विश्वामित्र राजा का तेजो भ्रष्ट करने का प्रण करके चले गए।

दूसरे अङ्क में राजा ने स्वप्न में एक ब्राह्मण को अपना सम्पूर्ण राज्य दान कर दिया। उस स्वप्न को ही सत्य मानकर राजा ने उस अज्ञात नाम गोत्र ब्राह्मण के नाम पर स्वयं मंत्री की हैसियत से राज काज करने की घोषणा कर दी। रानी ने भी स्वप्न देखा कि राजा और वह राज्य से च्युत होकर भस्म लगाए घूमते हैं और रोहिताश्व को सांप काट गया है। वशिष्ठ जी इस स्वप्न के प्रभाव का मार्जन करने एक ब्राह्मण को भेजते हैं। राजा ने जब

घोषणा की तभी विश्वामित्र उनके पास पहुँच गये। राजा उनको न पहिचान सके। इस पर ऋषि क्रोधित होगये और राजा को स्वप्न की बात याद दिलाई। राजा राज्य छोड़कर रानी और पुत्र को लेकर इस महादान की सहस्त्र स्वर्ण मुद्रा की दक्षिणा देने का प्रबन्ध करने के लिये काशी पहुँच गये।

तृतीय अङ्क के अङ्कावतार में पाप राजा के पुण्य कार्यों से सारी पृथ्वी के पवित्र हो जाने के कारण व्यग्र है कि वह कहाँ जाये। भैरव को राजा की अंग रक्षा के निमित्त नियुक्त की जाने की बात कही जाती है।

तृतीय अङ्क में राजा अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहिताश्व को लेकर काशी आये। लाख चेष्टा करने पर भी वे एक माह की अवधि के अन्तिम दिन तक दक्षिणा की सहस्त्र स्वर्ण मुद्रा का प्रबन्ध न कर पाये कि ऋषि आ गये। राजा ने रानी तथा पुत्र को एक ब्राह्मण के हाथ ५०० स्वर्ण मुद्रा में, और अपने को एक चंडाल के हाथ ५०० स्वर्ण मुद्राओं में बेचकर ऋषि की दक्षिणा चुका दी। राजा चण्डाल की ओर से दक्षिण मशान पर प्रत्येक शव के पीछे आधा कफन लेने को नियुक्त हुए।

चौथे अङ्क में मसान पर महा विद्यायें कापालिक आदि आकर उन्हें प्रलोभन देकर मार्ग से च्युत करना चाहते हैं किन्तु न कर सके। शैव्या अपने पुत्र को आँचल के आधे भाग से ढँके हुए आती है। अपने पुत्र के शव को देखकर राजा का मन भी एक बार विह्वल और विचलित हो उठता है। किन्तु तुरन्त ही अपने कर्तव्य का ध्यान हो जाने से सजग हो जाते हैं। फिर रानी के हृदय द्रावक विलाप करने पर भी और यह जानकर भी कि रानी के पास कर देने को कुछ नहीं है, अपने कर्तव्य पर अटल रहते हैं। जैसे ही रानी शव से लिपटा कफन फाड़ने को होती है कि भगवान प्रकट हो जाते हैं और राजा को उनकी सत्यता, प्रण-पालकता तथा कर्त्तव्य परायणता पर साधुवाद देते हैं। रोहिताश्व जीवित हो जाता है। महादेव, पार्वती, भैरव धर्म (चांडाल) सत्य, (ब्राह्मण) इन्द्र और विश्वामित्र आदि भी आ जाते हैं और मुक्त कण्ठ से राजा को आशीर्वाद देते हैं।

नाटक की मौलिकता—यद्यपि राजा हरिश्चन्द्र की कथा अति प्राचीन है और संस्कृत में क्षेमेश्वर कवि ने चण्डकौशिक नाम से इस कथा पर एक नाटक लिखा है। भारतेन्दु ने उस नाटक से अपने नाटक की रचना में पर्याप्त सहायता ली है; किन्तु इसे उसका अविकल अनुवाद नहीं कहा जा सकता। चण्डकौशिक नाटक का आरम्भ राजा हरिश्चन्द्र द्वारा विश्वामित्र को एक

कन्या (महाविद्या) का बलिदान देते देख उनकी भर्त्सना करने और विश्वामित्र के शाप देने तथा इस पर राजा का अपना समस्त राज्य उन्हें दानकर शापमोचन करने की कथा से होता है। किन्तु इस नाटक का आरम्भ इन्द्र की ईर्ष्या से विश्वामित्र के क्रोधित होकर राजा का 'तेजोभ्रष्ट' करने का प्रण करने की कथा से होता है। इसमें राजा स्वप्न में राज्यदान करता है और इसमें इन्द्र की ईर्ष्या को ही राजा के समस्त कष्टों का मूल बनाया गया है। किन्तु 'चण्ड कौशिक' में इन्द्र का प्रसंग कहीं नहीं आता। चण्डकौशिक में महाविद्या आरम्भ में ही विश्वामित्र से अपनी रक्षा के लिये त्राहि २ करती आती हैं। किन्तु इस नाटक में चौथे अङ्क में उसका आगमन होता है।

यद्यपि अनेक स्थलों पर भारतेन्दु ने 'चण्डकौशिक का प्रायः अनुवाद सा ही किया है; किन्तु उसमें भी उन्होंने अपनी मौलिकता का समावेश किया है। अनेक श्लोक 'चण्ड' से ही लिये गये हैं। इस प्रकार यह तो सत्य है कि भारतेन्दु ने 'चण्डकौशिक' नाटक से अपने नाटक की रचना में पर्याप्त सहारा लिया है; किन्तु अपनी मौलिक कल्पना से सर्वथा उसे मौलिक रूप में ही विरचित किया है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक बंगला नाटक का इसे अनुवाद माना है। बंगला में गिरीश घोष ने इसी कथानक पर एक नाटक लिखा है। बा० श्यामसुन्दरदास ने उस नाटक से इस नाटक की करुण रस में समता की बात तो कही है किन्तु इसे उसका अनुवाद नहीं कहा है। किसी और आलोचक ने भी इस संबंध में कुछ नहीं लिखा है। अस्तु इस नाटक को भारतेन्दु का सर्वथा मौलिक नाटक ही मानना चाहिए। उसकी कथा पौराणिक है अस्तु—

उस पर जितने भी नाटक लिखे जायंगे उनमें समानता तो होगी ही। उनकी मौलिकता अमौलिकता का निश्चय इस आधार पर किया जाना चाहिए कि नाटककार उस एक ही कथा को प्रस्तुत किस ढंग से करता है इस दृष्ठि से यह नाटक मौलिक ही ठहरता है।

उद्देश्य :—इस नाटक के सृजन में लेखक का उद्देश्य राजा की सत्यप्रियता और दान शीलता का आदर्श उपस्थित करना है—

चन्द्र टरै सूरज टरै⋯टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द्र कौ टरै न सत्य विचार।

इसी उद्देश्य की अभिप्राप्ति के हेतु सारी कथा का विन्यास हुआ है और इसी के हेतु भारतेन्दु ने प्रसिद्ध कथा और 'चण्डकौशिक' की कथा में भेदकर

उसे कल्पना से और भी करुण बनाने का प्रयास किया है। भारतेन्दु के हृदय में भारतवासियों में बढ़ती असत्यता; दान विमुखता और कर्त्तव्य हीनता शूल उत्पन्न करती थी। वे स्वयं परमदानी थे, जिसके कारण उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़ते थे। इसीलिए उन्होंने प्राचीन गौरव-परम्पराओं से इस कथा-रत्न को चुनकर एक आदर्श रूप में लोगों के सम्मुख रखा था।

वस्तु-विन्यास—इस मौलिक उद्देश्य से विनिर्मित इस कथा का शिल्प विन्यास भी मौलिक हुआ है। इसमें प्राचीन नाटय परम्परा का पूर्णतः निर्वाह नहीं हुआ। वरन् पाश्चात्य नाटयशैली का पर्याप्त प्रभाव है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार नाटकों में ५ अंकों की अनिवार्यता का निर्वाह न कर इसमें कथा गठन चार ही अंकों में हुआ है। केवल तृतीय अंक को छोड़कर शेष तीनों अंकों में एक दृश्य है। तृतीय अंक में अंकावतार है; यदि उसे भी न दिया जाता तो नाटक की कथा या उसके उद्देश्य में कोई शिथिलता नहीं आती। उसका समावेश केवल राजा के पुण्य कार्यों के प्रभाव की व्यापकता दिखाने के हेतु ही हुआ है। जो समस्त नाटक से स्वतः ही सिद्ध है। आरम्भ में मंगलाचरण और प्रस्तावना तथा अन्त में भरत वाक्य प्राचीन नाट्य परम्परा के अनुकूल है। किन्तु वीभत्स दृश्यों का समावेश पाश्चात्य प्रभावानुकूल है। बा० व्रजरत्नदास ने 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' में और प्रेमनारायण शुक्ल ने 'भारतेन्दु की नाट्यकला' में इसमें अर्थ प्रकृतियों कार्यावस्थाओं और सन्धियों के पूर्ण निर्वाह की बात लिखी हैं। किन्तु उनका शास्त्रानुकूल पालन नहीं हुआ है। यों खींचतान कर उनका निर्वाह दिखला देना और बात है। नाटक का आरम्भ इन्द्र की चिन्तितावस्था में इधर उधर घूमने से होता है; जो आरम्भ में ही दर्शकों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है। उसके बाद सारे अंक एक के बाद एक कथा की गति को स्वाभाविक रूप से गतिशीलता देते हुए उद्देश्य प्राप्ति की ओर अग्रसर करते हैं। और दर्शक की एकाग्रता तथा तन्मयता शनैः शनै तीव्र होती जाती है। रस परिपाक भी प्राचीन शैली के अनुसार नहीं हुआ है। घटनाओं के घात प्रतिघात से ही कथा करुणा वीभत्स आदि रसों की व्याप्ति करती हुई आनन्दोत्साह का सृजन करती हुई समाप्त होती है। पात्रों के आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व का भी यत्रतत्र समावेश नवीनता ही का प्रभाव है। चौथे अंक में राजा हरिश्चन्द्र के स्वगत भाषण में उनके अन्तर्द्वन्द्व और मनोभावों का थोड़ा सा चित्रण हुआ है।

लम्बे-लम्बे संभाषण, रानी का लम्बा विलाप; काशी तथा गंगा का और श्मशान का गीत कथा की स्वाभाविक गति में अवरोधक सिद्ध होते हैं। अंकावतार भी कार्य गतिरोधक ही माना जायगा। डांकिनी और पिशाचिनी के समावेश ने रंगमंच पर वातावरण सृजन में स्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है।

देशकाल का निर्वाह—देशकाल के निर्माण तथा निर्वाह में पर्याप्त शिथिलता है। काशी तथा गंगा के वर्णन इस दृष्टि से दोष पूर्ण हैं। जिस काशी का वर्णन नाटक में हुआ है वह राजा हरिश्चन्द्र के समय की काशी नहीं और गंगा का तो राजा हरिश्चन्द्र के काल में पुराणानुसार अस्तित्व ही न था। क्योंकि पुराण प्रसिद्ध कथा के अनुसार गङ्गा के लाने वाले भागीरथ थे और राजा हरिश्चन्द्र उनके पूर्वज थे। हाँ भारतेन्दु ने भागीरथ के गंगा लाने की कथा को धर्म-कपोलकल्पना माना हो और गङ्गा के प्रवाह को प्राकृतिक माना हो तो बात दूसरी है। पर ऐसी बात भी तो कहीं प्रगट नहीं होती। अस्तु यह उनकी भूल ही कही जायेगी।

चरित्रचित्रण :—की दृष्टि से यह नाटक सफल है। इसके मुख्य पात्र हैं राजा हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और इन्द्र, नारद तथा शव्या चाण्डाल, उपाध्याय आदि गौणपात्र हैं नारद का नाटक में समावेश केवल इन्द्र को राजा की प्रसिद्धि तथा गुण व्यापकता का परिचय कराने मात्र को हुआ है। और देवताओं की तरह वे नाटक के अन्त में भी नहीं आते। किन्तु किम्बदन्ती और जन-प्रसिद्धि के अनुसार नारद के चरित्र में और नाटक के नारद के चरित्र में पर्याप्त भेद है। नारद आपस में लड़ाने वाले देवता के रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु यहाँ वे इस रूप में नही बल्कि वे एक प्रकार से इन्द्र के राजा के प्रति विद्वेष का विरोध ही करते दीखते हैं।

इन्द्र :—इन्द्र का चरित्र नाटक में अपने प्रसिद्ध रूप में ही चित्रित हुआ है। जो भी संसार में अपने पुण्यों तथा धर्मपरायणता के कारण प्रसिद्ध होता है, इन्द्र का उसी से ईर्ष्या द्वेष करना तथा उसे धर्मच्युत करने का प्रयास करना प्रसिद्ध है। इसी रूप में उनका चित्रण इस नाटक में हुआ है। उनकी ईर्ष्या द्वेष की चरित्र गत विशेषता का सुन्दर सफल निर्वाह हुआ है।

विश्वामित्र—यह एक विवाद का प्रश्न है कि इस नाटक का नायक कौन है। कार्य व्यापार के अनुसार विश्वामित्र नायक ठहरते हैं किन्तु फल प्राप्ति के अनुसार राजा हरिश्चन्द्र। विश्वामित्र को प्रति नायक मानना ही

अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। इनका चरित्र भी अपने प्रसिद्ध रूप में ही चित्रित हुआ है। उनका क्रोधी स्वभाव जगत प्रसिद्ध है। पहले अङ्क में इन्द्र के राजा की प्रसिद्धि बढ़ने मात्र की बात कहने से ही विश्वामित्र का क्रोधित हो जाना दर्शक को अवश्य अस्वाभाविक लगेगा किन्तु आगे चलकर विश्वामित्र का चरित्र गठन भी स्वाभाविक और सुन्दर रूप से हुआ है।

राजा हरिश्चन्द्र—राजा को आधार बनाकर ही नाटक की सारी घटनायें उनसे सम्बन्धित होकर ही घटित होती हैं। राजा की सत्यवादिता, कर्तव्य निष्ठा, धर्म परायणता का आदर्श सुन्दर ढंग से चित्रित हुआ है। राजा परीक्षा के प्रत्येक अवसर पर खरा उतरता है, रानी शैव्या का विलाप, पुत्र रोहिताश्व का कारुणिक दृश्य, महाविद्या और रसेन्द्र का प्रलोभन भी उसे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं कर पाता। राजा का चरित्र सामान्य मानव से यद्यपि ऊपर उठा हुआ है, तथापि अलौकिक नहीं हो पाया है। लेखक ने राजा के चरित्र को सचेत रूप से मानवीय कलेवर में उच्च मानवता की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया है। उसके चरित्र में साधारण मानवीय मनोभावों के अन्तर्द्वन्द्व का समावेश कर एवं उच्च और निम्न भावनाओं का चढ़ाव उतार दिखाकर उसके चरित्र को नितान्त लौकिक रूप प्रदान किया है। लेखक ने नारद द्वारा कहाये—'निस्सन्देह ऐसे मनुष्यों के उत्पन्न होने से भारत भूमि का सिर उनके इस स्मरण मात्र से उस समय भी ऊँचा रहेगा जब वह पराधीन होकर हीनावस्था को पहुँचेगी', वचनों के सर्वथा अनुरूप ही राजा का चरित्र चित्रण किया है।

शैव्या—रानी का चरित्र पतिपरायण, आर्य ललना के रूप में चित्रित हुआ है। वह एक सती नारी की तरह अपने पति के हर कष्ट में सदैव साथ रहती है, उसका चरित्र आदर्श भारतीय नारी का चरित्र है। वह दासत्व स्वीकार करते हुए भी आर्यादर्श नहीं भूलती। वह कहती है—' पर पुरुष के साथ सम्भाषण और भोजन छोड़कर सब सेवायें करूंगी।' रानी के चरित्र में भी स्वाभाविक स्त्रियोचित चिन्ता, दुख, व्यथा और शोकादि भावों का समावेश कर भारतेन्दु ने उसके चरित्र को नारी समाज के और निकट ला अनुकरणीय बना दिया है।

सभी चरित्र समगति से समस्तर पर चित्रित किये गये हैं। उनमें चरित्र विकास का पक्ष नहीं है। केवल राजा और रानी तथा विश्वामित्र के चरित्र में यत्र तत्र उत्थान और पतन का चित्रण हुआ है और उनके चरित्र में

स्वाभाविक विकास भी दीख पड़ता है।

संवाद और भाषा—नाटक के संवाद सरस और सुन्दर है तथा उद्दिष्ट भाव की अभिव्यक्ति में सहायक हुए हैं उनसे करुण रस की अभिव्यञ्जना सुन्दर रूप से होती है। विश्वामित्र, राजा हरिश्चन्द्र और शैव्या के सम्भाषण अत्यधिक लम्बे हो गये हैं, जिनसे नाटक की गति में शैथिल्य दोष आ गया है। वैसे संवादों में संवादों के सामान्य गुण सजीवना, जिज्ञासा, चरित्र निखार, कथोद्घाटन, कथाविकास, अभिनेयता आदि विद्यमान है। रोहिताश्व के सांप के काटने की कथा का उद्घाटन अत्यन्त नाटकीय ढंग से संवादों के द्वारा ही होता है। 'आकाश भाषित' का समावेश भी स्वाभाविक रूप से हुआ है। पिशाच और डांकिनियों के पद्यमय संवाद रोचकता वर्धक और वातावरण सृजक हैं। संवादों की भाषा सजीव और सरल है। रोहिताश्व की तोतली बोली एवं चंडाल की ग्रामीण बोली संवादों को स्वाभाविकता प्रदान करती है।

गीत—काशी, गंगा वर्णन और मसान पर गाये गये गीत लम्बे हो जाने के कारण कार्यगति रोधक हैं। शेष गीत कथा-अभीष्ट के परिपाक में सहायक हुए हैं।

अभिनेयता—रंगमंच की दृष्टि से यह नाटक सफल है। इसका दृश्य विधान सरल है तथा घटनाएँ तीव्रगति से आगे बढ़ती हैं। केवल अन्तिम दो अङ्क इस दृष्टि से शिथिल हैं। दर्शकों की जिज्ञासा को बनाये रखने की क्षमता नाटक में है। प्रत्येक पात्र के लिये अलग अलग उसके अनुरूप वेश-भूषा का निर्देश भी किया गया है इस नाटक का अनेकबार सफलता पूर्वक अभिनय भी हो चुका है।

इनहीं सों अभिलाख लाख करि।
इक इनहीं कों नितहिं चहौ री ॥
जो नर तनहिं सफल करि चाहौ।
इनहिं के पद - कंज गहौ री ॥

भरत-वाक्य में भी इस युगलमूर्ति के दर्शन से मोक्ष और परमानन्द प्राप्त करने का वर्णन हुआ है—

"हमारी तौ सब इच्छाओं की अवधि आपके दर्शन ही ताँईं है।"

भक्ति के नौ रूप माने गये हैं—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास, सख्य और आत्मनिवेदन। इन सबसे ऊपर बल्लभाचार्य ने दसवीं प्रेम-लक्षणा भक्ति मानी है। इसी को रागानुगा भक्ति भी कहते हैं, और इसमें भी जो कामरूपा भक्ति है, उसे श्रेष्ठ माना है। इसी भक्ति के महात्म्य का प्रतिपादन करते हुए विष्कंभक में नारदजी ने शुकदेव से 'परमप्रेम आनन्दमयी श्री ब्रजवल्लभी लोगों का दर्शन करके अपने को पवित्र करने और उनकी विरहावस्था देखकर वर्षों वहीं पड़ा रहने' की बात कही है।

इस प्रकार इस नाटिका में वल्लभ सम्प्रदायी पुष्टि-मार्गी प्रेम-लक्षणा-रागानुगा भक्ति की कामरूपा भक्ति के अन्तर्गत युगलमूर्ति की उपासना का प्रतिपादन हुआ है; जो स्वयं भारतेन्दु की अपनी भक्ति भावना है।

शृङ्गार-भावना—इस नाटिका में शृङ्गार भावना की अतिशयता दीख पड़ती है। वियोग में संयोग की उत्कट अभिलाषा और संयोग में आलिंगन आदि के वर्णन सामाजिकों की शृङ्गार भावना को उद्दीप्त करने वाले हो गये हैं। यद्यपि भारतेन्दु ने चन्द्रावलीको स्वकीया रूप देकर शृङ्गार को मर्यादित करने का प्रयास किया है। इस शृङ्गार वर्णन पर रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट है। यह नाटिका प्रेम और भक्ति के प्रतिपादन के हेतु भक्ति के मार्ग में और साहित्य में अवश्य उच्च स्थान रखती है। किन्तु रंगमंच पर नाटिका में वर्णित प्रेम को न तो दिखा सकना ही सम्भव है और न प्रभाव की ही दृष्टि से वह भक्ति भावना का उद्बोधक हो सकेगा।

अभिनेयता—इसके अतिरिक्त रंगमंच की दृष्टि से इसमें और भी अनेक दोष हैं जैसे सम्वादों का अति विस्तार, गीतों का लम्बा और अत्यधिक होना आदि। दृश्य विधान भी सरल नहीं। रंगमंच पर वृक्षादि तथा झूला दिखा सकना नितान्त असम्भव है।

भाषा-सम्वाद—विषय-वस्तु के अनुकूल ही भाषा और सम्वाद हैं। प्रेम-नाटिका में भावुकता प्रधान गद्य-गीत मय भाषा स्वाभाविक है। किन्तु रंग-मंच की दृष्टि से वे दोषपूर्ण हैं।

भाषा में कहीं-कहीं ब्रजभाषापन भी आ गया है जो खड़ीबोली के बीच बड़ा अटपटा सा लगता है। प्रथम अङ्क के अन्त में चन्द्रावली से आकर दासी कहती है—

"अरी, मैया खीझ रही है के वाहि घर के कछु और हू कामकाज हैं के हा-हा ठी-ठी ही है, चल उठि, भोर सों यहीं पड़ी रही।"

चन्द्रावली भी कभी शुद्ध खड़ीबोली बोलती है तो थोड़ी देर बाद ही उसके अगले सम्वाद में ब्रजभाषा का पुट आ जाता है—

"प्यारे! देखो ये सब हँसती हैं—तो हँसें, तुम आओ, कहाँ बन में छिपे हो? तुम मुँह दिखलाओ, इनको हँसने दो।"

इसके आगे ही चन्द्रावली कहती है—

"अरी सखियो मोहि छमा करियो, अरी देखौ तो तुम मेरे पास आईं और हमने तुमारो कछू सिस्टाचार न कियौ।......"

अस्तु इस नाटिका को रंगमंच की कसौटी पर कसना उचित नहीं। यह एक सुन्दर साहित्यिक रचना है, और इसी दृष्टि से इसका मूल्य आँकना चाहिये। यद्यपि भारतेन्दु स्वयं इसके अभिनय के लिये उत्सुक थे और कुछ दिल्ली के विद्यार्थियों ने इसका अभिनय किया भी है। फिर भी रंगमंच की दृष्टि से इसको सफल नहीं कहा जा सकता।

—:-*-:—

भारत दुर्दशा

—:**:—

इस नाटक का रचना काल १८७६ ई० है। यह नाटक भारत की तत्कालीन यथार्थ दशा का चित्रण प्रस्तुत करता है। कथा उत्पाद्य और कवि कल्पित है। पात्र, उनका चरित्र और कथा आदि सब प्रतीकात्मक है।

कथानक—पहिले अङ्क में एक योगी लावनी गाता हुआ रंगमंच पर प्रवेश करता है। वह अपने गीत में भारत के प्राचीन गौरव की गाथा का वर्णन कर भारत की वर्त्तमान दुर्दशा के लिए दुख प्रगट करता है और देश की दुर्दशा के कारणों पर प्रकाश डालता है कि आपसी फूट, आलस्य तथा विदेशी गुलामी और उसके कारण जीवन में उत्पन्न विकृतियों तथा आर्थिक शोषण ही उस दुर्दशा में मूल कारण हैं।

दूसरे अङ्क में दीन भारत विलख बिलख कर अपनी दुर्दशा का वर्णन करता है। और अन्त में मूर्छित हो जाता है। निर्लज्जता और आशा प्रवेश कर उसे उसी मूर्छितावस्था में उठा कर ले जाती हैं।

तीसरे अंक में भारत दुर्दैव भारत की दुर्दशा करने में अपनी सफलता पर प्रसन्न होता है और सत्यानाश फौजदार के द्वारा फूट, सन्तोष, डाह, लोभ भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि की सहायता से भारत के धन, बल और विद्या सब के नाश की योजना बनाकर उनका नाश करता है।

चौथे अंक में भी पुनः भारत दुर्दैव रोग, आलस्य, मदिरा अहंकार आदि की सहायता से भारत की रही सही दशा को भी नष्ट करने की योजना बनाता है।

पाँचवे अंक में सात सभ्यों की एक कमेटी भारत दुर्दैव से भारत की रक्षा के उपायों पर विचार करती है। जिस समय वे विचार कर रहे होते हैं, उसी समय डिसालायल्टी प्रवेश करती है और सरकार के प्रतीक भारत दुर्दैव के कार्यों में विघ्न डालने के अपराध में 'इंगलिश पालिसी नामक एक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा से' सबको गिरफ्तार कर ले जाती है।

छठे अंक में भारत भाग्य मूर्छित भारत को जगाने की कोशिश करता है। वह उसे उसके प्राचीन गौरव की स्मृति दिलाकर उसमें पुनः स्फूर्ति का संचार करने का प्रयास करता है। अंग्रेजी राज्य में उन्नति की सम्भावनाओं पर प्रकाश डालता है, पर उधर से भी उसकी आशा निर्मूल हो नष्ट हो जाती है और फिर अन्त में निराश होकर अपने सीने में कटार मार लेता है।

इस कल्पना प्रसूत कथा को प्रतीकात्मक रूप में नाटक का रूप प्रदान किया गया है। तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दुर्दशा ही समग्र रूप से नाटक की कथा वस्तु है। सम्पूर्ण कथा को अमूर्त भावात्मक चित्र की मूर्त प्रतीकात्मतक कल्पना कह सकते हैं।

कथा विन्यास—अमूर्त चित्र की कल्पना-प्रसूत मूर्त प्रतीकात्मक कथा को छोटे-छोटे छः अंकों में नियोजित किया गया है। यह नाटक नाट्य रासक शैली में लिखा कहा जाता है। किन्तु नाट्य-रासक को भारतेन्दु स्वयं एक ही अंक का मानते हैं, जब कि इसमें छः अंक हैं। इसमें नायक और नायिका होनी चाहिये 'इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासक सज्जा, पीठ-मर्द उपनायक और अनेक प्रकार के गान, नृत्य होते हैं।' किन्तु इस कसौटी पर यह खरा नहीं उतरता। इसमें एक नहीं छः अंक हैं।' इसमें नायक तो भारत है; किन्तु नायिका कोई नहीं। निर्लज्जता अथवा आशा को यदि नायिका मानें भी तो कथा में उनका निर्वाह नहीं हुआ है। केवल दूसरे अंक के अन्त में निर्लज्जता के दो छोटे छोटे संवाद हैं और आशा का तो केवल एक ही संवाद है। उपनायक भी पीटमर्द नहीं। अन्त में विजय उसकी ही दिखाई गई है।

श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वाल ने रूपक रहस्य में उपरोक्त विशेषषताओं के अतिरिक्त नाट्य-रासक में हास्य-रस प्रधान माना है। इसमें हास्य रस की प्रधानता तो अलग उसका पुट भी नहीं। इसमें आरम्भ से अन्त तक गम्भीर भाव-धारा बहती है और अन्त सुखान्त है। यदि इसके अंकों को दृश्य भी मानलें, तो भी नाट्य-रासक की अन्य कसौटियों पर यह नाटक खरा नहीं उतरता। अतः इस नाटक पर प्राचीन नाट्य रासक की शास्त्रीय शैली का आरोप करना उचित नही। वस्तुतः यह नवीन शैली पर लिखा गया नितांत कल्पना प्रसूत मौलिक नाटक है। न तो इसमें प्रस्तावना है और न अन्त में भरतवाक्य ही, केवल आरम्भ में मंगलाचरण अवश्य है। अन्यथा कथा-चयन, कथा विन्यास तथा अन्त की दृष्टि से इस नाटक का शिल्प तंत्र सर्वथा नवीन

पाश्चात्य शैली के प्रभावाधार पर निर्मित हुआ है। प्रभावाधार हमने इसलिये कहा, क्योंकि सम्पूर्ण रूप से पाश्चात्य नाटक शैली का भी अनुसरण इसमें नहीं किया गया है जैसे इसमें न घटनाओं और पात्रों का अन्तर्द्वन्द ही है और न पात्रों के चरित्रों का घात-प्रतिघात और विकास ही दिखाया गया है, यह आधुनिक एकांकी नाटकों की शैली के अधिक निकट दीख पड़ता है।

इसकी कथा भारत की यथार्थ दशा के अमूर्त चित्र की मूर्त कल्पनाओं के प्रतीक रूप में चित्रित की गई है। इस प्रतीक कथा को छोटे-छोटे छः अंकों में विभाजित किया गया है। एक के बाद एक अंक की घटनायें कथा की मूल आत्मा का उद्‌घाटन करती हुई अन्त की ओर अग्रसर होती हैं। पहला और दूसरा अङ्क भारत की दुर्दशा का एक मार्मिक चित्र उपस्थित करता है। जिससे नाटक का प्रभाव आरम्भ से ही गम्भीर हो जाता है। तीसरे अंक में भारत की दुर्दशा के कारणों के घात-प्रतिघात आरम्भ हो जाते हैं। पाँचवें अङ्क में कुछ भारतवासी भारत दुर्दशा को दूर करने की बात सोचते हैं; किन्तु डिसलोयल्टी द्वारा गिरफ्तार कर लिये जाते हैं। और अन्तिम अंक में भारत भाग्य आत्महत्या कर लेता है। इस छोटी सी प्रतीकात्मक कथा को इस चातुरी से विन्यसित किया गया है कि भारत की यथार्थ तसवीर, उसकी दुर्दशा के कारणों के घात-प्रतिघात और उसके परिणाम स्पष्ट हो जाते हैं। भारतभाग्य की आत्महत्या से भारत दुर्दशा की चरमसीमा दर्शकों अथवा पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर लेखक उनके मन-प्राण को झकझोरने में सर्वथा समर्थ हो जाता है। इस लघु प्रतीकात्मक कथा का इस लाघव से संगठन किया गया है कि भारत दुर्दशा की यथार्थ तस्वीर अपनी सम्पूर्ण मर्म स्पर्शिता के साथ सजीव हो उठती है और साथ ही भारत दुर्दशा के कारण और उनके द्वारा कैसे भारत दुर्दशा को प्राप्त हुआ, यह भी स्पष्ट हो जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से यदि इसके कथा संगठन की विवेचना करें, तो हमें निम्न तत्व प्राप्त होंगे। दूसरे अंक में जहाँ नैपथ्य में भारत दुर्दैव के गम्भीर कठोर स्वर में सुनाई देता है—"अब भी तुमको अपने नाथ का भरोसा है। खड़ा तो रह। अभी तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं।' इस स्थल पर मुख सन्धि, बीज अर्थ प्रकृति और आरम्भ कार्यावस्था, चौथे अंक में प्रतिमुख सन्धि, बिन्दु अर्थ प्रकृति और प्रयत्न कार्यावस्था, पाँचवें

अंक में गर्भ सन्धि, पताका अर्थ प्रकृति और प्राप्त्याशा कार्यावस्था, अन्त में जहाँ भारतभाग्य आत्महत्या करता है निर्वहण सिन्ध, कार्य अर्थ प्रकृति, और फलागम कार्यावस्था मानी जा सकती है।

इस प्रकार कथानक, कथा विन्यास, तथा अन्त की दृष्टि से इस नाटक की रचना में प्राचीन भारतीय एवं नवीन पाश्चात्य शैली, दोनों का अनुकरण मिलता है। किन्तु नवीन शैली के अधिक निकट है।

व्यंग्य :—व्यंग्य इस नाटक का प्रधान गुण है। समाज व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, सरकारी व्यवस्था देश वासियों तथा समाज सुधारकों सभी पर तीखे व्यंग्य हुए हैं। पहले ही अंक में भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाकर तत्कालीन भारत की दशा का वर्णन कर देशवासियों पर तीखा व्यंग किया गया है कि जहाँ—

'सबसे पहले जेहि सभ्य विधाता कीनौ
+ + +
जहां भये शाक्य हरिचंद नहुष ययाती
+ + +
तहाँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती
अब जहँ देखहु तहँ दुक्खहि दुक्ख दिखाई।'

देशवासी देश की दशा को भूलकर अपने राग-रंग में मस्त हो रहे थे।

सत्या० फौ० :—'महाराज फिर सन्तोष ने बड़ा काम किया सबको अपना चेला बना लिया। अब हिन्दुओं को खाने मात्र से काम देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा पैंशन ही सही रोज़गार न रहा सूद ही सही। वह भी न रहा, तो घर ही का सही। सन्तोषं परमं सुखम्।'

इस छोटे से संवाद में ही राजाओं पर, व्यापारियों तथा सामान्य देश-वासियों पर व्यंग कर दिया गया है। जो देशवासी भारत सुधार की बात करते भी हैं तो पहले देशी के शब्दों में : 'यहीं, मगर जब तक कमेटी में हैं तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं।'

यह देश सुधारक जब डिसलोपल्टी पकड़ने जाती है तो कोई मेज के नीचे घुसता है तो कोई गिड़गिड़ाने लगता है। अन्त में देशवासियों की ऐसी ही दशा के कारण भारतभाग्य को आत्महत्या करनी पड़ती है। यह तो बड़ा तगड़ा साँकेतिक व्यंग है।

इसी प्रकार भारत दुर्दैव के साथियों, जिनके कारण भारत की दुर्दशा हुई,

के सत्य स्वरूप का उद्‌घाटन देशवासियों को उनसे सजग होने की चेतना देता है।

'रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाये।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाये।
जाति अनेकन करीं नीच अरु ऊँच बनायौ।
खान-पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायौ।
जनमपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालक-पन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल वीरज मारौ।
विधवा विवाह निषेध कियो व्यभिचार प्रचारौ।

× × ×

बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
रचि कै मत वेदान्त के सबको ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो तोरि हाथ अरु पाँय।'

अपव्यय, अदालत, फैशन, सिफारिश, फूट डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, निर्बलता और आलस्य आदि ने अन्दर ही अन्दर भारत को जर्जरित कर दिया।

भारत दुर्दैव के प्रतीक रूप में अंग्रेजी सरकार पर भी तीखे व्यंग्य हुए हैं।

अँग्रेज राज सुख साज सजै सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै मंहगी काल रोग विस्तारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई॥

अँग्रेजी सरकार का प्रतीक पात्र भारत दुर्दैव देश के शुभचिन्तकों को डिसलोयल्टी द्वारा इंगलिश पोलिसी नामक एक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से गिरफ्तार करवा लेता है। इस प्रकार इस नाटक में देशवासियों, उनकी दुर्दशा के कारणों और उन कारणों और अपनी दशा के प्रति उनकी अचेतना तथा इस दुर्दशा के मूल कारण विदेशी सरकार-यवन तथा अँग्रेज पर तीखे व्यंग हुए हैं।

भाषा संवाद :--नाटक के मूल व्यङ्ग को उभारने की क्षमता संवादों और उनकी भाषा में है। संवाद लम्बे हैं, किन्तु शिथिल कहीं नहीं। भाषा सरल और पात्रोनुकूल मुहाविरेदार है। नाटक में जो लम्बे लम्बे स्वगत

कथन हैं वे परिस्थितियों के चित्रण और व्यथा के उद्घाटन में सहायक हुए हैं। समस्त नाटक एक गम्भीर व्यङ्ग को लिए हुए हैं और सम्वाद उस व्यङ्ग की अभिव्यक्ति में समर्थ हैं। व्यङ्गात्मकता उनका प्राण है—

'एक चने से भाड़ फोड़ेंगे, ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि उनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मैडिल और खिताब दो।'' सम्वादों में नाटकीय क्रियाशीलता भी अपूर्व है। सम्बाद पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं, उनकी मनोदशाओं तथा घटनाओं के घात-प्रतिघातों पर सुन्दर रूप से प्रकाश डालते हैं।

भाषा सरल है; किन्तु परिमार्जित और सुष्ठ। वह पात्रोनुकूल और व्यङ्ग प्रधान है। भाषा की सजीवता के ही कारण लम्बे सम्वाद भी अरोचक नहीं हुए हैं। महाविरों का प्रयोग बड़ा ही प्रासंगिक और व्यङ्ग को तीखा करने वाला है। कुछ मुहाविरे हैं—'एक चने से भाड़ फोड़ेंगे' 'बम्ब बोल गई बाबा की चरों दिशा,' 'मोटा भाई बनाकर मूड़ लिया,' 'पड़िया के ताऊ' आदि आदि। बीच बीच में कहावतों और प्रसिद्ध उद्धरणों का प्रयोग व्यङ्ग को स्पष्ट करने में और भी सहायक हुआ है।

शैली—इसकी शैली साँकेतिक यथार्थवादी शैली है। कथा पात्र और नाटक का अन्त सभी संकेत में यथार्थता के व्यङ्ग की व्यञ्जना करते हैं।

अभिनेयता :—अभिनय की दृष्टि से नाटक प्रभावशाली है। दृश्य विधान सरल है। कथा—विस्तार अधिक न होते हुए भी उसमें क्रिया-शीलता है। इसलिये अभिनय में शिथिलता दोष नहीं आ सका है। कार्य व्यापार और संवादों की गति-शीलता, अभिनय में सहायक हैं। सम्वादों में चुस्ती और क्रियाशीलता है, हर अंक के अन्त में आगे के अंक की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती है।

चरित्र-चित्रण :—पात्र प्रतीक रूप में हैं। भारत भारतवासियों का प्रतीक चरित्र हैं, जिसमें उनकी तत्कालीन यथार्थ स्थिति का साँगोपाँग चित्रण हुआ है। उसके चित्रण में समस्त भारतीय जनता की तत्कालीन भाव धारा को स्पष्ट किया गया है। जनता किस प्रकार अंग्रेजों से अपने सुधार की आशा करती थी किन्तु उधर से भी उसे निराशा ही हाथ लगेगी; यह तथ्य भी भारत और भारत-भाग्य के चित्रण से लेखक ने स्पष्ट किया है। भारत दुर्दैव आरम्भ में यवनों और बाद में अंग्रेजी सरकार का प्रतीक है। उसकी यह

दुहरी प्रतीकात्मकता भारतेन्दु ने वेश-भूषा से भी स्पष्ट कर दी है। शेष पात्रों की प्रतीकात्मकता स्पष्ट है। पात्र अपने मुख से स्वतः ही अपनी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करते है। भारत दुर्दैव अपने विषय में कहता है—

"छार-खार सब हिन्द करूँ मैं तो उत्तम नहिं नीच"
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे एक राक्षस मानों जी"

उसके ही मुख से उसका प्रतीक रूप स्पष्ट हो जाता है—

'काफिर काला नीच पुकारूँ तोड़ूँ पैर औ हाथ।'

सत्यानाश भी अपना चरित्र स्पष्ट करता हुआ कहता है--

'धर के हम लाखों ही भेस। किया चौपट यह सारा देस।
बहुत हमने फैलाए धर्म। बढ़ाया छूआछूत का कर्म।'

इसी प्रकार आलस्य, मदिरा, रोग आदि प्रत्येक पात्र अपनी विशेषताओं को स्वतः स्पष्ट करता है और सब अपनी विशेषताओं के प्रतीक हैं।

उद्देश्य—भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटक उद्देश्य परक हैं तत्कालीन भारत की दुर्दशा, दुर्दशा के कारणों और दुर्दशा करने वालों का यथार्थ स्वरूप उपस्थित कर जनता में यह चेतना उत्पन्न करना ही इस नाटक में लेखक का मूल अभीष्ट है कि यदि जनता सचेत न हुई तो भारत भाग्य निःसन्देह आत्म हत्या कर लेगा। भारत दुर्दैव को अंग्रेज सरकार का प्रतीक बनाकर अंग्रेज सरकार के प्रति देशवासियों की आशा का वर्णन करके नाटक कार ने जनता की अंग्रेज सरकार के प्रति आशा के थोथेपन को सांकेतिक रूप से स्पष्ट किया है और भारत दुर्दैव को उसका प्रतीक रूप देकर लोगों को सांकेतिक रूप से यह चेतना देने का प्रयास किया है कि अंग्रेजी सरकार जो हमारी दुर्दशा का कारण है, उससे सुधार की आशा करना कैसा? नाटक के अन्त में भारत भाग्य की आत्म हत्या एक सांकेतिक व्यंग है कि अगर भारतवासी समय रहते सचेत न हुए तो अपने हाथों से ही वे अपने भाग्य की हत्या करेंगे। इस प्रकार यह नाटक अत्यन्त ही सजग उद्देश्य को सामने रखकर लिखा गया है, जो उस काल की राष्ट्रीय चेतना के स्वरूप को और भी स्पष्ट करता है।

सन्देश—भारत भाग्य की निम्न पंक्तियों को नाटक का सन्देश अथवा नाटक की शुभ कामना कह सकते है—

"जागो जागो रे भाई !

सोवत निसि बैस गवांई, जागो जागो रे भाई।
निसी की कौन कहै दिन बीत्यौ काल राति चलि आई।
देखि परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बस जाई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहूँ चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वै है रहि जै हौ मुहबाई।
जागो जागो रे भाई।"

भारत जननी

—:-※-:—

इस नाटक का रचना काल सन् १८७७ है । यह नाटक भी भारतीय तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर लिखा गया है ।

'भारत जननी' एक टूटे फूटे खंडहर में बाल बिखेरे शुष्क तन, खिन्न-मना बैठी है । भारत सन्तान उसके चारों ओर प्रगाढ़ निद्रा में सोये पड़े है । भारत सरस्वती, भारत दुर्गा, भारत लक्ष्मी सब एक एक कर उसका परित्याग कर चली जाती है । वह उद्विग्न हो भारत सन्तानो को जगाती है; किन्तु एक जगता है तो दूसरा सो जाता है दूसरा जागता है तो पहला सो जाता है । 'भारत जननी' जब उन्हें जगाती है तो वे जागते ही अपनी क्षुधा निवारण के लिये उससे कुछ खाने को माँगते हैं किन्तु वह दीन हो चुकी है; उसके पास अपनी सन्तानों का पेट भरने को कुछ नहीं । हठात् इंगलैण्ड की रानी विक्टोरिया से सहायता के लिये वह गुहार करती है । अपनी सन्तानों से भी विक्टोरिया से गुहार करवाती है । जब वह गुहार करते हैं तो एक अंग्रेज आकर उन्हें फटकारता है, तभी दूसरा अंग्रेज आकर पहले अंग्रेज को फटकारता है और 'भारत जननी' के दुखों के प्रति सहानुभूति प्रगट करता है । अन्त में धैर्य आकर 'भारत जननी' और 'भारत सन्तानों' से धीरज रख कर अपनी दशा सुधारने के उपाय करने को कहता है ।

वस्तु विन्यास—उपरोक्त कथा के अमूर्त रूप को कल्पना द्वारा मूर्त रूप प्रदान किया गयाहै और प्रतीक रूप में सारी कथा एक ही अंक में विन्यसित की गई है । इसका वस्तु विन्यास, एकांकी शैली का रूप प्रस्तुत करता है । केवल आरम्भ में सूत्रधार इस नाटक के प्रयोजन और उद्देश्यों पर प्रकाश डालता हैं । केवल यह पुरानी नाटकीय परम्परा का तत्त्व इस नाटक में है । अन्यथा यह नाटक नितान्त रूप से नवीन शैली को प्रस्तुत करता है ।

उद्देश्य :—'भारत भूमि' और 'भारत सन्तान' की दुर्दशा दिखाना ही इस 'भारतजननी' की इति कर्तव्यता है और .... एक मनुष्य भी यदि इस भारतभूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करे तो हमारा परिश्रम सफल है ।'

इस नाटक की प्रस्तावना में स्व॰ भारतेन्दु का उपरोक्त कथन इस नाटक के उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है। भारतेन्दु के इस उद्देश्य से स्पष्ट है कि भारत की यथार्थ दशा का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कर भारतवासियों में चेतना की चिनगारी सुलगाना ही इस नाटक का मूल उद्देश्य था।

चरित्र चित्रण :—इस नाटक में चार प्रतीक पात्र हमारे सामने आते हैं—भारत जननी, भारत सन्तान, पहला अंग्रेज और दूसरा अंग्रेज।

भारत जननी :—भारत जननी की अवस्था अत्यन्त दयनीय चित्रित की गई है। वह क्षीणकाय, भग्नाशा, जीवन से विरक्त, व्यथित और उद्विग्न है। वह भरत सन्तानों के लिये कुछ करने के लिये उत्सुक और चिन्तित है; किन्तु क्या करे समझ नहीं पाती। विवश वह भारत सन्तानों को रानी विक्टोरिया से गुहार करने को कहती है। भारत जननी का समस्त चरित्र प्रतीक रूप में उस काल के भारत की यथार्थ अवस्था का दिग्दर्शन कराता है। उस समय देशवासी एक प्रकार से निरीह हो चुके थे और अपनी दशा सुधारने के लिये अंग्रेजी सरकार के सामने हाथ पसारने के सिवाय और कोई मार्ग उनकी समझ में न आता था। देश की यह व्यापक भावना इस चरित्र के प्रतीक रूप से स्पष्टतः व्यंजित होती है।

भारत सन्तान :—भारत सन्तानों में उपरोक्त प्रवृत्ति वस्तुतः उस समय आ गई थी। उनके प्रतीक चरित्र द्वारा उनकी इस सामान्य प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है।

पहला अंग्रेज—किन्तु अंग्रेजी सरकार एक विदेशी सरकार थी जिसे अपने लाभ से काम था। वे भारत सन्तानों की इस गुहार से द्रवित होने वाले न थे, जो अंग्रेज भारत में सरकारी अफसर बनकर आते थे, वे भारत वासियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और भारत का शोषण ही उनका एक मात्र लक्ष्य होता था। पहला अंग्रेज अपने प्रतीक रूप में ऐसे ही अंग्रेज अफ़सरों का चरित्र प्रस्तुत करता है।

दूसरा अंग्रेज—किन्तु अंग्रेज जाति एक सभ्य और संस्कृत जाति है। उस जाति के विद्वान भारत से सहानुभूति रखते थे। दूसरे अंग्रेज का चरित्र ऐसे ही अंग्रेजों का प्रतीक चरित्र है।

नाटक के अन्त में धैर्य आकर जो उपदेश करता है वही वस्तुतः भारतेन्दु का देश सुधार के लिये सन्देश है। उस सन्देश से इस नाटक की मूल आत्मा स्पष्ट हो जाती है कि सामान्यतः भारतवासी अपना गौरव भूलकर शारीरिक

और चेतना रूप से परतन्त्र हो गये थे। वे बारबार अंग्रेजों के सामने गिड़गिड़ाते और अंग्रेज अफसर उन्हें बारबार दुतकारते जाते थे। किन्तु कुछ ऐसे अंग्रेज भी थे जो भारत की इस हीनावस्था से दुखी थे और भारत के प्रति सहानुभूति रखते थे। किन्तु इनसे गुहार करने और उनकी सहानुभूति से तो देश का उद्धार हो नहीं सकता था। उसके उद्धार का तो केवल एक मात्र रास्ता था—धीरज रखकर अपने पौरुष को पुनः सजग करना और अपने खोए हुए आत्म गौरव को प्राप्त कर पुनः उत्थान के मार्ग पर दृढ़ चरण रखते हुए अग्रसर होना। विक्टोरिया से जो गुहार नाटक में कराई गई है वह तो वस्तुतः सामान्य रूप से भारतवासियों में पाई जाने वाली प्रवृत्ति के यथार्थ चित्रण के लिये ही कराई गई है और नाटक में पहले अंग्रेज का प्रवेश इस बात को स्पष्ट करने के लिये ही कराया गया है कि अंग्रेजी सरकार से भारतवासियों की इस प्रकार की अपील कितनी व्यर्थ होती हैं। इस अपील की प्रवृत्ति का थोथापन प्रदर्शित करने के बाद भारतेन्दु ने इस नाटक में धैर्य का प्रवेश इस उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिये ही कराया है कि अपनी दशा को सुधारने का एक मात्र मार्ग स्वयं कटिबद्ध होना है।

'उठो उठो सब कमरन बांधौ शस्त्रन सान धरौरी,
विजय निशान बजाय बावरे आगेइ पाँव धरौरी।'

और—

'हे भ्रातृगण! अब उठो और जननी के दुखानल के निवारण का प्रयत्न करो; अभिमान, लोभ, अपमान-आत्म-समाज, प्रशंसा, परजात निन्दा इन सबका सावधानी पूर्वक परित्याग करो धैर्य का आलम्बन करो।'

भाषा संवाद—संवाद नाटक के करुण रस के परिपाक में सहायक होते हैं। भाषा सरल और गतिशील है। गीत भी रस परिपाक में सहायक ही हुए हैं। यह वस्तुतः काव्य-नाट्य ही है इसलिये गीतों के आधिक्य को दोष नहीं कहा जा सकता।

अभिनेयता—नाटक में कार्य व्यापार विशेष नहीं, इस कारण नाटक के अभिनय में थोड़ी शिथिलता अवश्य आ सकती है; किन्तु समूचे नाटक के प्रदर्शन में अधिक से अधिक आधा घंटा ही लगेगा। अस्तु प्रदर्शन में अरोचकता आने की संभावना नहीं है और सफलता से अभिनय किया जा सकता है।

नील देवी

'नील देवी' नाटक का रचना काल सन् १८८० है। इसका कथा-आधार ऐतिहासिक है।

इस नाटक के वस्तु चयन के सम्बन्ध में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए भारतेन्दु ने स्वयं नाटक की भूमिका में लिखा है। "जिस भांति अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम काज संभालती हैं अपने सन्तान गण को शिक्षा देती हैं अपना सत्व पहचानती हैं अपनी जाति अपने देश की संपति विपत्ति को समझती हैं उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृह दास्य और कलह में नहीं खोतीं उसी भांति हमारी गृह देवी भी वर्त्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्त्तमान कुल परम्परा मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य जन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर कमलों में समर्पित होता है।"

इसी आदर्श को देश की नारियों के सन्मुख उपस्थित करने के लिये इस नाटक की रचना हुई है।

कथावस्तु—राजा सूर्यदेवसिंह पंजाब का एक स्वतन्त्र राजा है जिस पर अब्दुरशरीफ आक्रमण करता है। शरीफ राजा पर खुल कर हमला नहीं करना चाहता; क्योंकि वह जानता है कि खुलकर हमले में राजपूतों से टक्कर लेना लोहे के चने चबाना है। राजा सूर्यदेव छिपकर फरेब के लड़ना नहीं जानते। वह खुले मैदान का शूर है जिसमें जीते तो निज भूमि का उद्धार और मरे तो स्वर्ग। शरीफ अचानक रात के अंधियारे में सूर्य्यदेव की सेना पर आक्रमण कर देता है और राजा कैद हो जाता है। कैद में भी राजा अपने सम्मान और धर्म पर अडिग रहता है। जब वह धर्म छोड़ना अस्वीकार कर देता है तो शरीफ के आदमी उसे अनेक कष्ट पहुँचाते हैं। वह इन कष्टों

में घुल घुल कर निरीह प्राणी की तरह मरना नहीं चाहता। बल पूर्वक कैद के सीखचों को तोड़कर २७ यवनों को धराशायी कर वीर गति को प्राप्त होता है। जब यह समाचार राजपूत सेना के पास आता है तो वे जान छोड़ कर शरीफ की सेना पर आक्रमण करने की सोचते है; किन्तु रानी नीलदेवी उनको रोक देती है और स्वयं चंडिका नर्त्तकी का वेश धारण कर शरीफ के खेमे में आती है और उसको शराब पिलाकर मस्त कर देती है तथा अवसर पाकर शरीफ को कत्ल कर देती है।

वस्तु-विन्यास—की दृष्टि से नाटक उच्चकोटि का है। छोटे-छोटे दस दृश्यों में सारी कथा सुगठित है। एक दृश्य का दूसरे दृश्य से सम्बन्ध-निर्वाह सुन्दर हुआ है। कथा और कार्य व्यापार में गतिशीलता है। आरम्भ में एक छोटा सा स्वतन्त्र दृश्य है। इसके अतिरिक्त न इसमें प्रस्तावना है और न भरत-वाक्य। पहला दृश्य भी प्राचीन लक्षणों के अनुरूप नहीं लिखा गया है। इसका अन्त भी प्राचीन नाट्य कसौटी के विपरीत सुखांत न होकर दुखांत हुआ है। सारा नाटक नवीन शैली पर विनिर्मित है।

भाषा-सम्वाद—इस नाटक के सम्वाद छोटे-छोटे गतिशील और नाटकीय तत्वों से पूर्ण हैं। मुसलमान पात्र उर्दू भाषा और हिन्दू पात्र ठेठ हिन्दी का प्रयोग करता है। ओजपूर्ण प्रसंगों के सम्वादों की भाषा ओजपूर्ण ही है। पागल का सम्वाद लम्बा होते हुए भी अत्यन्त सुन्दर और नाटकीय है। वह क्रिया-शीलता (full of action) से पूर्ण है।

पागल—'मार मार मार हीं हीं हू फट चट पट—जवन पट—चट—छुट पट अ, ई, ऊँ, आकास बाँध पाताल—चोटी कटा निकाल।'

काजी—'काफिर प मुसल्मा को फतहयाब बनाया।'

सब—'अलहम्दउलिल्लाह'

सोमदेव—'भाइयो ! चलो इसी क्षण हम लोग उस पामर नीच यवन के रक्त से अपने आर्य पितरों को तृप्त करें।'

गीत—गीत भी प्रसंगानुकूल ; चरित्रगत विशेषताओं को स्पष्ट करने वाले और प्रसंगानुकूल भावों को उद्रिक्त करने वाले हैं। जैसे नवें दृश्य में राजा की मृत्यु का समाचार सुनकर राजपूतों को शरीफ पर आक्रमण करने को उत्साहित करते हुए सोमदेव का गीत—

'चलहु वीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु मियान सों खंग खींच रन रंग जमाओ॥'

इसी प्रकार राजपूत सैनिक द्वारा पाँचवें अङ्क में गाये गीत अरसे से घर से दूर रहने वाले सैनिक के स्वाभाविक मनोभावों को व्यक्त करते हैं—

'प्यारी बिनु कटत न कारी रैन,
पल छिन न परत जिय हाय चैन ।'

यह गीत साहित्यिक दृष्टि से भी उच्च कोटि का है । इसी दृश्य में इसी राजपूत द्वारा गाया हुआ पहला गीत रात्रि की निस्तब्धता का कितना भावपूर्ण चित्रोपम वर्णन है ।

'सोओ सुख निदिया प्यारे ललन ।
× × ×
भई आधी रात वन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरून हलन,
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत हाय ।'

इस नाटक के गीतों में संगीत भी उच्च कोटि का है । झिझौरी, जल्द तिताला, गजल, राग कलिंगड़ा, लावनी, विहाग, ठुमरी, तिताला आदि राग-रागनियों के सुन्दर गीत हैं ।

चरित्र-चित्रण—इसमें अब्दुरशरीफ, राजा सूर्यदेव और नीलदेवी मुख्य पात्र हैं ।

नीलदेवी—का नाटक के तीसरे दृश्य में थोड़ा सा परिचय मिलता है । उससे ही स्पष्ट हो जाता है कि वह राजनीति और युद्ध के दाव-पेचों में कितनी कुशल है । जब राजा शरीफ से खुलकर लड़ने की बात कहता है तो वह कहती है—'तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिये ।' वह अधर्मियों से कैसे जीता जाय, यह समझती है । इसके बाद अन्त में वह फिर नाटक में आती है और गणिका का वेश धारण कर शरीफ का कत्ल करती है । पूरे नाटक के दस दृश्यों में वह केवल तीसरे, नवें और दसवें दृश्य में ही आती है । तीसरे और नवें दृश्यों में उसका कुछ विशेष योग नहीं; किन्तु दसवें दृश्य में वह नाटक की नायिका बन जाती है । प्रभाव रूप में उसका चरित्र सारे नाटक की आत्मा में व्याप्त है । उसमें प्राचीन क्षत्राणी का गौरव ही भारतेन्दु ने देखा है । किन्तु वह उन क्षत्रियों में नहीं है जो अपनी वीरता

के गर्व में बुद्धि को तिलांजलि दे लड़ने जाते हैं और मात खाते हैं। उसके चरित्र में एक नीति विशारद राजनीतिज्ञ का रूप है।

सूर्यदेव—का चरित्र भी हमारे सन्मुख उन क्षत्रियों की तस्वीर उपस्थित कर देता है जो दुश्मन के सामने सीना तानकर मिटना जानते हैं किन्तु जिन्हें राजनीति के दावपेचों से कोई सरोकार नहीं।

इन दोनों चरित्रों के द्वारा भारतेन्दु प्राचीन इतिहास की घटनाओं पर अपने व्यंग्यपूर्ण विचार प्रगट करते हैं। सूर्यदेव के चरित्र में उन्होंने राजपूतों की उस परम्परा पर व्यंग्य किया है, जिससे वे धर्मयुद्ध के नामपर खुले मैदान में शत्रु से लड़कर शहीद हो जाना ही सब कुछ समझते थे। यदि उन्होंने अपनी वीरता के साथ युद्ध में थोड़ी चतुराई से भी काम लिया होता तो सम्भवतः भारतवर्ष का इतिहास यह न होता जो आज है। नीलदेवी के चरित्र में भी वे क्षत्राणियों के जौहर प्रथा पर व्यंग्य करते हैं। यदि क्षत्राणियों ने नीलदेवी की तरह देश रक्षा में बुद्धिमानी से काम लिया होता और अपने शरीर को जौहर की अग्नि में अर्पित न कर देश-रक्षा में बलि किया होता तो सम्भवतः भारत का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

अभिनेयता—अभिनय की दृष्टि से भारतेन्दु के समस्त नाटकों में यह अत्यन्त सफल नाटक है। दृश्य-विधान सरल और छोटे हैं। लड़ाई का सीन रंगमंच पर नहीं दिखाया गया है। इससे रंगमंचीय विधान बड़ा ही सरल है और रंगमंचीय है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण नाटक भारतेन्दु के सर्वोत्तम नाटकों में विशेष स्थान रखता है।

अन्धेर नगरी

इसका रचनाकाल सन् १८८१ है। इसकी कथा जनता में अनेक रूपों में प्रचलित थी। भारतेन्दु ने इस कथा को नाटकीय रूप 'बिहार प्रान्त के किसी जमीदार के अन्याय को लक्ष्य करके प्रदान किया था।+

कथावस्तु :—एक महन्त अपने दो चेलों गोवर्धनदास और नारायणदास के साथ एक नगर में आता है। दोनों चेले भिक्षाटन के लिये नगर में जाते हैं। गोवर्धनदास को भिक्षा में सात पैसे प्राप्त होते हैं। उन पैसों को लेकर वह बाजार में कुछ खरीदने जाता है। बाजार में देखता है कि सब वस्तुएँ टके सेर हैं। वह आश्चर्य चकित रह जाता है और एक हलवाई से नगर और राजा का नाम पूँछता है। हलवाई बताता है कि राजा का नाम 'चौपट्टराज' और नगरी का नाम 'अंधेर नगरी' है। गोवर्धनदास महन्त से इसी नगर में रहने का आग्रह करता है किन्तु गुरु नहीं रुकते और नारायणदास को लेकर चले जाते हैं। रह जाता है अकेला गोवर्धनदास।

राजा के दरबार में एक फर्यादी आता है कि कल्लू बनिये की दीवार गिरने के कारण उसकी बकरी मर गई है। राजा क्रमशः बनिये, कारीगर, चूने वाले, भिश्ती, कसाई और गड़रिये को पकड़कर बुलाता है; किन्तु सभी दूसरे पर दोष थोप कर अपने को निर्दोष साबित करते हैं और अन्त में बकरी की हत्या के अपराध में कोतवाल को फाँसी की सजा होती है। किन्तु फाँसी का फन्दा बड़ा होने के कारण कोतवाल छूट जाता है। इस अपराध में किसी को फाँसी तो देनी ही है, इसलिये मोटे आदमी की तलाश होती है और सिपाही बिचारे गोवर्धनदास को पकड़ लाते हैं। वह अपने गुरू को याद करता है। गुरू आकर कहते हैं कि इस सायत जो मरेगा उसे स्वर्ग मिलेगा। इस पर राजा स्वयं फांसी चढ़ने को उद्यत हो जाता है।

उद्देश्य :—इसकी कथा से तत्कालीन राजाओं की निरंकुश अंधेरगर्दी, उनकी अराजकता और मूढ़ता पर व्यंग करना ही इस नाटक का उद्देश्य है।

+ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० संख्या १७० बाबू ब्रजरत्नदास

वस्तु-विन्यास :—इस हास्य और व्यंग भरी कहानी को भारतेन्दु ने इस चातुरी से शिल्पित किया है कि आरम्भ से ही हास्य और व्यङ्ग का पुट शुरू होकर कथा-गति के साथ तीव्र होता जाता है। कथा संगठन में कहीं भी शिथिलता नहीं है। कार्य व्यापार की गति अत्यन्त ही तीव्र है। इस नाटक का विन्यास नवीन ढंग से हुआ है, जो आधुनिक एकाँकी का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत करता है। नाटक की समस्त कथा छः अंकों में संगठित हुई है। यह छः अंक वस्तुतः छः दृश्य ही हैं, जो सब मिलकर एक अंक के ही अलग-अलग दृश्य बनते हैं।

इस नाटक की दृश्य योजना बड़ी ही सरल है और स्टेज पर किसी विशेष आयोजन की आवश्यकता नहीं होती। पहिला दृश्य है- वाह्य प्रान्त; दूसरा– बाजार; तीसरा– जंगल, चौथा- राजसभा, पाँचवा– अरण्य, और छठा– श्मशान।

इस नाटक में संस्कृत की टेकनीक का जरा भी सहारा नहीं लिया गया है, नितान्त नवीन पद्धति पर इसकी कथा का विन्यास हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत और नवीन के मिश्रण से हिन्दी नाटक की टेकनीक के निर्माण में भारतेन्दु काफी सफल होगए थे। इस नाटक के कथा-विन्यास को हम आधुनिक नाट्यकला का आधार मान सकते हैं।

हास्य और व्यङ्ग :—इस नाटक में हास्य और व्यङ्ग अत्यन्त ही उच्च-कोटि का और शिष्ट है। हास्य के साथ-साथ विचारोत्तेजक व्यंग भी हैं, जो तत्कालीन देशी राजाओं के दिमागी दिवालियेपन और उनके न्याय पर तीखी चुटकी लेता है। अंग्रेजों पर भी इस नाटक में छिपा हुआ व्यंग हैं, साथ ही देश के बैर और परस्पर फूट तथा ब्राह्मणों की टके टके में जात बेचने की प्रवृत्ति पर तीखे व्यंग हैं। इस नाटक की सबसे बड़ी कलात्मक विशेषता है कि हास्य और व्यङ्ग भोंड़े विद्रूपों और ओछी हास्योत्पादक उक्तियों से नहीं उत्पन्न किया गया, वरन् कथा विन्यास के द्वारा कहानी के गर्भ से ही कलात्मकरूप में ही उसका निखार हुआ है।

भारतेन्दु के प्रहसनों में शिष्टहास्य का अभाव है। जीवन की यथार्थ विकृतियों पर तीखे व्यङ्ग प्रहार ही अधिक हैं; किन्तु इस प्रहसन में शिष्ट-हास्य का सफल और सुन्दर चित्रण है। व्यंग और हास्य दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। प्रथम अंक से ही हास्य का उद्रेक आरम्भ हो जाता है और प्रत्येक दृश्य के साथ वह तीव्र होता जाता है, चौथे अंक में हास्य मुखर हो

जाता है और फूट चलता है, पाँचवें अंक में वह और तीव्र होकर छठे अंक के अन्त तक तो जब राजा स्वयं फाँसी पर चढ़ने लगता है दर्शक ठहाका लगाने लगते हैं।

व्यंग तो प्रहसन के समर्पण से ही आरम्भ हो जाता है—

'जे स्वारथ-रत धूर्त हँस से काक-चरित-रत।
ते औरन हति बंच प्रभुहिं नित होहिं समुन्नत ॥'

तत्कालीन सरकार के चाटुकारों पर करारा व्यंग किया गया है। सरकार और सरकार की नौकरशाही दोनों पर करारे व्यंग हुए हैं—

कुंजड़िन— ··· ··· जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी टके सेर भाजी। ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर।'

हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम।
चूरन जब से हिन्द में आया, इसका धन बल सभी घटाया।
\+ + + +
चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिश्वत तुरत पचावैं ॥
\+ + + +
चूरन साहब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता।
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते ॥

धर्म तथा जाति-पाँति पर व्यंग—

'जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें। टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूँठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से क्रिस्तानी, टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूंटी गवाही दें। ··· वेद-धर्म, कुल-मरजादा, सचाई-बड़ाई सब टके सेर। ····

देश पर किए गए निम्न व्यङ्ग में देश की यथार्थ स्थिति का कितना सुन्दर चित्रण है—

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देश कुदेस में, कबहुँ न कीजे बास ॥
कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
इन्द्रायन दाडिम विषय जहां न नेकु विवेक ॥

बसिए ऐसे देश नहिं, कनक-वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुख पाइए, प्रान दीजिए रोय॥

अंग्रेजी सरकार पर व्यंग—

'भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले और प्यादे।
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहुँ राजा रहत बिदेसा॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहुँ नृपति विधर्मी कोई॥

चरित्र चित्रण—इसमें तत्कालीन राजा-नवाब वर्ग ही राजा के रूप में ान पात्र है और उसकी मूर्खताओं को तथा उसके चरित्र की कमजोरियों दिखाना ही लेखक का अभीष्ट है। प्रत्यक्ष रूप से यह 'राजा' तत्कालीन ती राजा-नवाबों का प्रतिनिधि है, पर अप्रत्यक्ष रूप से कहीं-कहीं उसके साथ अंग्रेजी सरकार पर भी व्यंग हुए हैं। वहाँ वह भारतीय सरकार का प्रतीक ा जाता है। वस्तुतः पूरी राज व्यवस्था का ही वह एक प्रकार से प्रतीक रित्र है। उसकी चारित्रिक विशेषताएँ बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित हुई। चरित्र चित्रण सीधा और सरल होते हुए भी बड़ा विषद् सटीक सजीव ार सुन्दर हुआ है।

नाटक के अन्य सभी पात्र अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि ही हैं। पात्र ाटक में स्टेज पर थोड़ी देर के लिये ही आते हैं पर उतनी देर में ही और क-दो सम्वादों से ही उनकी तथा उनके वर्ग की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती। कबाब वाला, नरंगी वाला, हलवाई, कुँजड़िन, मुगल, जात वाला ब्राह्मण) आदि सभी पात्र एक ही एक सम्वाद बोलते हैं पर उतने से ही नकी जातिगत, व्यक्तिगत और वर्गगत विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। रित्र-चित्रण की यह विशेषता प्रगट करती है कि जीवन-यथार्थ के प्रति ारतेन्दु की दृष्टि कितनी पैनी और सचेत थी।

भाषा-सम्वाद—सम्वाद छोटे, नाटकीय, व्यंग्यपूर्ण, सजीव और गति-ील हैं। उनमें चरित्रगत विशेषताओं और कथा-अभीष्ट को स्पष्ट करने की ामता है। वातावरण की स्वाभाविकता उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। दूसरे अङ्क बाजार का दृश्य बड़ा ही स्वाभाविक बन पड़ा है। बाजार वालों की अपनी ाषा के प्रयोग ने उसकी स्वाभाविकता को और भी बढ़ा दिया है।

भाषा बड़ी ही सजीव और पात्रोनुकूल है—

कबाब वाला—कबाब गरमागरम मसालेदार—चौरासी मसाला बहत्तर

आँच का—कवाब गरमागरम मसालेदार······'

घासीराम—चने जोर गरम—

चने बनावैं घासीराम। जिनकी झोली में दूकान।
चना चुरमुर-चुरमुर बोलै। बाबू खाने को मुँह खोलै॥

नारंगी वाला—नरंगी ले नरंगी—सिलहट की नरंगी, बुटवल की नरंगी। रामबाग की नरंगी, आनन्दबाग की नरंगी········

हलवाई—जलेबियाँ गरमागरम। ले सेब, इमरती, लड्डू, गुलाबजामुन, खुरमा, बूँदियाँ, बरफी, समोसा, पेड़ा, कचौड़ी, दालमोट, पकौड़ी, घेवर, गुपचुप।······मोमनदार कचौड़ी कचाका हलुआ नरम भचाका। घी में गरक चीनी में तरातर चासनी में चमाचम।········

कुँजड़िन—ले धनिया, मेथी, सोआ, पालक, चौराई, बथुआ, करेनू, नोनियाँ, कुलफा, कसारी, चना सरसों का साग। मरसा ले मरसा········

भाषा के बोल-चालपन का बड़ा ही सुन्दर रूप प्रयुक्त हुआ है।

'···भिच्छा-इच्छा मिलै तो ठाकुरजी को भोग लगै।'

साधुओं की भाषा—

'गुरु जी महाराज, नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुन्दर है जो है सो, पर भिच्छा सदा मिलै तो बड़ा आनन्द होय।'

प्रहसन में आए गीत भी कथा अभीष्ट, और व्यंग्य को स्पष्ट करने वाले हैं। गीतों का आधिक्य खटकता नहीं।

अभिनय की दृष्टि से यह प्रहसन भारतेन्दु के नाटकों में सबसे अधिक सफल है। इसका अनेक बार अभिनय हो चुका है और अब भी जहाँ-तहाँ इसका अभिनय होता रहता है।

—::o::—

सतीप्रताप

यह नाटक सन् १८८४ में रचा गया था। भारतेन्दु इसके केवल चार दृश्य ही लिख पाये थे। बाद में बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूरा किया था।

उद्देश्य--भारतीय नारियों के समक्ष सती सावित्री के चरित्र का आदर्श उपस्थित करना ही नाटककार का अभीष्ट है। भारतेन्दु का ध्यान इस बात पर भी गया था कि जहाँ देश के पुरुषों की चेतना में नवीन जागरण और स्फूर्ति की नूतन लौ जलानी है; वहाँ नारियों में भी इस नूतन चेतना के बीज वपन करने हैं; क्योंकि वे ही तो नये अंकुर को जन्म देने वाली उर्वरा भूमि है। इस चेतना से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने एक ओर जहाँ 'नीलदेवी' का सृजन कर भारतीय नारी के समक्ष उसका देश के प्रति कर्तव्य का आदर्श उपस्थित किया वहाँ दूसरी ओर 'सतीप्रताप' का सृजन कर उन्होंने भारतीय नारियों के समक्ष पति परायणता का आदर्श उपस्थित किया, जो अपने स्वस्थ रूप में भारतीय कौटुम्बिक शान्तिपूर्ण प्रेम के जीवन का मूलाधार है।

कथावस्तु—इस नाटक की कथा पुराण प्रसिद्ध सावित्री सत्यवान की कथा है। सावित्री अपनी सखियों के साथ वन में घूमने जाती है। वहाँ सत्यवान को देखकर उस पर आसक्त हो जाती है। नारद बीच में पड़कर दोनों का विवाह करा देते हैं। सत्यवान की आयु केवल एक ही वर्ष शेष रह गई थी। जब यम उसे लेने आते हैं तो सावित्री अपने सतीत्त्व बल से सत्यवान के जीवन को पुनः प्राप्त कर लेती है।

वस्तु-विन्यास—नाटक अपूर्ण होने के कारण इस पर विस्तृत टिप्पणी देना सम्भव नहीं, किन्तु जितना भी भाग भारतेन्दु का लिखा हुआ है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका विन्यास सम्पूर्ण रूप से नवीन नाट्य-पद्धति पर ही होता। न तो इसके आरम्भ में प्रस्तावना है और न मंगलाचरण ही।

चरित्र-चित्रण—भारतेन्दु द्वारा रचित चार दृश्यों के आधार पर ही चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में भी कुछ कहना युक्ति संगत नहीं है केवल इतना कहा जा सकता है कि चरित्रों का उठान-गठन सुन्दर हुआ है।

गीत—चार दृश्यों में ही कई सुन्दर गीत आये हैं जो सभी छोटे, नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त, सारगर्भित और संगीत की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं।

भाषा संवाद—इसके सम्वाद अन्य सब नाटकों की अपेक्षा सुन्दर हैं। भाषा भी अपेक्षाकृत साहित्यिक और परिमार्जित है। यह नाटक भारतेन्दु की नाट्यकला और उनकी भाषा-शैली के विकास का द्योतक है।

अभिनेयता—इस नाटक के लिखने के समय तक भारतेन्दु की रंगमंचीय कला कितनी विकसित एवं परिमार्जित हो गई थी यह बात इसके चार दृश्यों के देखने से ही स्वतः स्पष्ट हो जाती है। वेशभूषा, कथोपकथन तथा अन्य अभिनयात्मक आदेशों के अतिरिक्त इसमें गीतों के गाने तक का भी अभिनयात्मक निर्देश किया गया है जैसे तीसरे दृश्य में--

सावित्री—(ईषत् क्रोध से)

'बस बस ! रसना रोको, ऐसी मत भाखो।'

कोरस का भी इस नाटक में समावेश है। पद्यमय संवाद भी नाटकीय दृष्टि से मनोरंजक और नाटकीय कार्यव्यापार के प्रेरक हैं। दृश्य विधान भी अत्यन्त सरल है, और संवाद भी अधिकतर एक-एक पंक्ति के ही हैं और उनमें पर्याप्त नाटकीयता भी है। यदि भारतेन्दु अपने कलम से इस नाटक को पूरा कर सके होते तो निस्सन्देह इस नाटक की गणना उनके सफलतम नाटकों में होती।

—****—

अनुवादित नाटक

रत्नावली

इस हर्ष कृत संस्कृत नाटिका रत्नावली के हिन्दी अनुवाद का केवल विष्कभंक भाग ही प्राप्त है। यह संस्कृत से उनका प्रथम अनुवाद था, जिसे उन्होंने सन् १८६८ में करना आरम्भ किया था, पर सम्भवतः पूरा नहीं हो पाया था, सम्भवतः बाकी अंश खो गया हो। बाबू व्रजरत्न दास द्वारा संग्रहीत नाटकों में इसके साथ भूमिका है, जिससे प्रगट होता है कि इसका अनुवाद पूरा हो गया था। उस भूमिका से यह भी प्रगट होता है कि यह उनका पहला अनुवाद था न कि 'प्रवास' जैसा अनेक विद्वानों ने माना है। भारतेन्दु लिखते हैं—

"शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।"

इसके अनुवाद में उन्होंने परिश्रम किया था यह बात उनके निम्न वाक्य से प्रगट होती है—

"इस से मूल संस्कृत में जहाँ छन्द थे वहाँ मैंने भी छन्द किए हैं। यदि संस्कृत के छन्दों से उसके छन्दों को मिला के पढ़िए तो इसका परिश्रम प्रगट होगा।"

इतना होने पर भी उन्हें उसके अनुवाद से सम्भवतः सन्तोष नहीं हुआ था तभी उन्होंने लिखा है—

"और निश्चय है कि उसका उल्टा अगर कोई अच्छी हिन्दी जानने वाला करता तो रचना अति उत्तम होती।

—।*।*।—

पाखंड विडम्बन

यह कवि कृष्ण मिश्र विरचित 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तृतीय अङ्क का अनुवाद है। इसका अनुवाद काल सन् १८७२ है।

इस नाटक के तीसरे अङ्क की कथा वस्तु को स्वतन्त्र रूप से नये नाम से अनुवाद करना भारतेन्दु की मौलिक यथार्थवादी दृष्टि का परिचायक है। इसमें तत्कालीन धार्मिक मत-मतान्तरों के पचड़े में पड़ी 'श्रद्धा' की बुरी दशा का चित्रण है। यह चित्रण भारतेन्दुयुगीन धार्मिक स्थिति पर भी सटीक व्यंग करता है। इसी हेतु उन्होंने इसे अनुवाद के लिये चुना।

धार्मिक मत-मतान्तरों के पचड़े में फँसकर 'श्रद्धा' विरुपित हो जाती है। 'शान्ति' अपनी सखी 'करुणा' के साथ अपनी माँ 'श्रद्धा' को खोजने जाती है। वह दिगम्बर जैनियों और बौद्ध भिक्षुओं के बीच अपनी माँ 'श्रद्धा' के तमोगुणी रूप को देखकर अत्यन्त दुखी होती है। दोनों मतों के बीच तथा कापालिकों में झगड़ा होने लगता है। दिगम्बर पर तलवार लेकर आक्रमण करता है। भिक्षुक दोनों में बीच बिचाव करता है। रजोगुणी 'श्रद्धा' कापालिनी वेश में भिक्षुक और दिगंबर का आलिंगन करती है। दोनों उसकी झूंठी मदिरा पीते हैं। दोनों सखियाँ 'श्रद्धा' की इस दशा को देखकर देवी विष्णु भक्ति के पास 'श्रद्धा' की यह दशा बताने जाती हैं। सारी कथा प्रतीकात्मक है जिससे प्रतीक व्यंजना होती है, कि किस प्रकार संसार के लोग सात्विकी 'श्रद्धा' से विमुख होकर तमोगुणी और रजोगुणी श्रद्धा को अपनाते हैं, और इन्द्रिय जनित सुख में ही जीवन का सार समझते हैं।

यह नाटक तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियों की विरुपता का सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। सारे पात्र प्रतीक रूप में उपस्थित हुए हैं और कथा प्रतीक रूप में तत्कालीन परिस्थितियों की यथार्थ तस्वीर उपस्थित करती है कि किस प्रकार धर्म में सतोगुण का अभाव और रजोगुण तथा तमोगुण का प्राधान्य होगया था सारे धार्मिक पन्थों में सांसारिक विषय भोग अनेक रूपों में धर्म के अङ्ग बनकर प्रवेश कर गये थे। प्रत्येक धर्म अपने धर्म की श्रेष्ठता

सिद्ध करता था और वस्तुतः सारे ही धर्म-पन्थ क्रियात्मक रूप से पाखण्ड और आडम्बरों से ग्रसित थे। धर्म के उदात्त रूप का तिरोभाव हो गया था और इन्द्रिय सुख की लिप्सा ने धर्म का सहारा ले लिया था।

ठीक यही स्थिति भारतेन्दु के समय की थी अस्तु उन्होंने इसे अनुवाद के लिए चुना।

प्रस्तुत अनुवाद संस्कृत के नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तीसरे अङ्क का ही अनुवाद है; अतः इसकी नाटकीय विशेषताओं पर विशेष कुछ कहना संगत नहीं है। फिर भी जो भाग भारतेन्दु ने प्रस्तुत किया है वह शैली तथा विषय नाटकीय तथा उद्देश्य दोनों की दृष्टियों से पूर्ण है।

कथानक एक वृहद् कथानक का अङ्ग होते हुए भी अपने में पूर्ण है और उसका विन्यास इस चातुरी से हुआ है कि वह अपनी छोटी सीमाओं में ही घटनाओं और चरित्रों के घात-प्रतिघात से अपने अन्तरस्थ मूल-अभीष्ट को उद्घाटित करता हुआ फल की ओर अग्रसर होता है। सारा नाटक एक अङ्क में समाप्त हो जाता है।

चरित्र चित्रण का आधार प्रतीकात्मक है 'शान्ति' और 'करुणा' मनुष्य की चित्तवृत्तियों की प्रतीक हैं जो 'श्रद्धा' से विरहित होकर निर्जीव हो जाती हैं। 'श्रद्धा' समन्वित 'शान्ति' और 'करुणा' ही मानव की भावनाओं को उदात्त भावभूमि प्रदान करती हैं। 'दिगम्बर' जैनधर्म के ढोंगी साधुओं का प्रतीक है। उसका चरित्र प्रतीक रूप में जैन धर्म के साधुओं के विकृत तामसी चरित्र का रूप है। उसी तरह 'कापालिक' और 'भिक्षु' भी अपने अपने धर्म-गत विकृत चरित्रों के प्रतीक रूप हैं। तीनों के चरित्र इस एक अङ्क में सम्पूर्ण रूप से अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं और कथा विन्यास उनके चरित्रों की विशेषताओं को स्पष्ट उद्घाटित करता है।

नाटक की भाषा अत्यन्त ही सजीव और प्रवाहशील है। उसमें नाटकीयता है। अनुवाद होते हुए भी उसमें प्रौढ़ता और प्रांजलता है और मौलिक सी प्रतीत होती है।

नाटक में कुछ दृश्य सामाजिक दृष्टि से अश्लील हैं। उन्हें दर्शकों के सम्मुख प्रदर्शित करना उपयुक्त नहीं है। इसी कारण यह नाटक अभिनेय नहीं है। अन्यथा कला की दृष्टि से उसकी अभिनेयता में कोई सन्देह नहीं है।

नाटक में प्रयुक्त गीत कथा अभीष्ट को स्पष्ट करनेवाले हैं तथा कथा को गति प्रदान करने वाले हैं। वे छोटे और अत्यन्त ही स्वाभाविक एवं व्यंगपूर्ण हैं।

धनंजय विजय

यह नाटक कांचन कवि विरचित 'धनंजय-विजय' व्यायोग का अनुवाद है। इसका आधार महाभारत की कथा है। इसका अनुवाद काल सन् १८७३ है।

कौरवों ने पाण्डवों को जुए में हरा कर बनवास दिया था। उसी बन-वनवास में एक वर्ष उन्हें अज्ञात वास करना था। पाँडवों ने अज्ञात वास का समय-एक वर्ष राजा विराट के यहाँ रहकर व्यतीत किया था। अज्ञातवास के अन्तिम दिन कौरवों ने राजा विराट की गाएँ बल पूर्वक हरलीं। विराट की ओर से अर्जुन अकेले ही समस्त कौरव-वाहिनी से युद्ध करने जाते हैं; और सबको परास्त कर गाएँ छुड़ा लाते हैं। इससे प्रसन्न होकर विराट अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह कर देते हैं।

केवल इतना ही है इस नाटक का कथानक जिसका गठन व्यायोग शैली में हुआ है। उसमें एक ही अङ्क है जिसमें आधुनिक एकांकियों की कला के दर्शन होते हैं। कथा विन्यास उस नाट्य चातुरी से हुआ है कि दुर्योधन, कृपाचार्य, कर्ण, दुःशासन, भीष्म, अश्वत्थामा आदि अनेक पात्र कथा में स्थान रखते हैं फिर भी बिना किसी रंगमंचीय उलझन से सारा नाटक सफलता से समाप्त हो जाता है और युद्ध भी होता हुआ प्रदर्शित हो जाता है। आरम्भ में सूत्रधार और पारिपार्श्वक कथा का उद्घाटन करते है और रंगमंच पर प्रथम दृश्य में अर्जुन और विराट के आमात्य दिखाई पड़ते है। दोनों का परस्पर कथोपकथन दर्शकों को कथा के मूल से परिचित करा देता है कि कौरवों ने विराट की गायों का हरण कर लिया है और अर्जुन उस समय वीर वेष में उन्हीं की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध है—

गो रक्षन, रिपु मान-व ा, नृप विराट के हेत।
समर हेत इक बहुत सब भाग मिल्यो या ेत॥

तभी एक तीसरा पात्र कुमार रंगमंच ऽर आता है और थोड़ी देर बाद अमात्य चला जाता है और रङ्गमञ्च फिर दो ही पात्र अर्जुन और कुमार रह

जाते है। उनके परस्पर संवादों से तथा अभिनय से ही युद्ध का सारा दृश्य अपने समस्त प्रभावों के साथ उपस्थित हो जाता है और दर्शक एकटक उसे देखते रहने में ऊब का अनुभव नहीं कर सकते। दोनों के संवादों में ही कौरव पक्ष के वीरों का और युद्ध के आवेश का परिचय मिलता चलता है। बीच में रंगमंग के एक पार्श्व से इन्द्र, विद्याधर और प्रतिहारी आकर युद्ध का दृश्य देखते हैं और उस पर परस्पर वार्तालाप करते हैं। इस समय अर्जुन और कुमार निरन्तर युद्ध अभिनय करते रहते हैं। तभी दुर्योधन भी रथ पर बैठा अभिनय करता आता है और फिर दोनों के ही रथ रंगमंच से हट जाते हैं तब रंगमंच पर इन्द्र, विद्याधर और प्रतिहारी ही रह जाते हैं और तीनों का परस्पर वार्तालाप और अभिनय युद्ध का दृश्य तथा उसकी तीव्रता एवं शिथिलता का चित्र उपस्थित करता है। अन्त में इन्द्रादि चले जाते हैं और अर्जुन विजयी होता है। राजा विराट तथा धर्मराज आकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं और अपनी कन्या उत्तरा के अभिमन्यु के साथ विवाह का प्रस्ताव कर देते हैं—

सात चरन हू संग चले मित्र भए हम दोय।
तासों माँगत उत्तरा पुत्र बधू तुम होय॥

और भरत वाक्य के साथ सारा नाटक समाप्त हो जाता है।

कथा-विन्यास की कुशलता के ही कारण इतनी विस्तृत कथा और कठिन दृश्यों का नाट्कीय रूप से सफल निर्वाह हो सका है।

भाषा अत्यन्त ही सजीव और ओज्वसिनी है। संवादों में एक शक्ति है। वे युद्ध के प्रत्यक्ष दृश्य की अनुपस्थिति से ही दृश्य का प्रभाव और वातावरण उपस्थित करने में सशक्त हैं।

गीत भी ओजपूर्ण और उत्साहवर्धक हैं तथा कथा प्रसंग को गति प्रदान करते हैं। गीत नाटक की अभिनेयता को मी उभारते हैं और युद्ध की रंगमंच पर अनुपस्थिति में ही युद्ध के वातावरण को सजीव रूप में दर्शकों के सम्मुख उपस्थित कर देते हैं।

अस्तु यह स्पष्ट है कि यह नाटक अभिनेय है।

इसमें संस्कृत के शास्त्रीय नियमों का सफलता से निर्वाह हुआ है।

आरम्भ में नांदी पाठ है। नान्दी पाठ के बाद ही सूत्रधार प्रातःकाल और शरद् ऋतु के सम्बन्ध में एक गीत गाता है। उसका और पारिपार्श्वक का कथोपकथन तथा गायनप्रस्तावना के अन्तर्गत आता है।

अमात्य के साथ जब अर्जुन रंगमंच पर प्रवेश करता है और उस समय जो दोनों में वार्तालाप होता है वहीं बीज अर्थ प्रकृति है।

जहाँ अर्जुन रथारूढ़ होकर युद्ध के लिए तत्पर होते हैं वहाँ बिन्दु अर्थ प्रकृति मानी जा सकती है।

'बिना परिश्रम तिमि मिल्यौ, कुरुमति आपुहि धाइ'

में पताका है; और दुर्योधन को परास्त कर गायों का छुड़ा ले जाना कार्य है।

जहाँ पर अर्जुन अमात्मा से कहता है कि "आप नगर में जाकर गोहरण से व्याकुल नगर वासियों को धीरज दीजिए।' वहाँ कार्य का आरम्भ माना जायगा। युद्ध स्थल में अर्जुन द्वारा कुमार को शत्रु पक्ष का परिचय, दुर्योधन का रंगमंच पर आगमन, इन्द्र तथा विद्याधर के बीच युद्ध के सम्बन्ध में वार्तालाप आदि स्थल यत्न अवस्था के अन्तर्गत हैं। जिस स्थल पर अर्जुन कौरव पक्ष के विकट अग्नेयास्त्र तथा भुजंगास्त्रों को भी खंडित कर देता है और अर्जुन के नरसिंहास्त्र छोड़ने पर इन्द्र कहता है—'तो अब जय होने में थोड़ी ही देर है।' प्राप्त्याशा का स्थल है। जिस स्थल पर कौरव सेना परास्त हो जाती है और विद्याधर कहता है—

'नाक बोलावत, धनु किए तकिया, मूँदे नैन।
सब अचेत सोये भई मुरदा सी कुरु सैन॥'

वहाँ पर नियताप्ति अवस्था है। और जहाँ पर कुरु सेना को परास्त कर अर्जुन कुमार से कार्य सफलता पर मोद प्रगट करता है, वह फलागम का स्थान है।

जिस स्थल पर बीज अर्थ प्रकृति है वहीं मुख सन्धि है और जहाँ से युद्ध आरम्भ होता है वहाँ प्रतिमुख सन्धि है, और फलागम के स्थल पर निर्वहण सन्धि हैं। गर्भ और विमर्ष सन्धियाँ व्यायोग में नहीं होतीं। इस प्रकार नाटक की कथा शास्त्रीय आधार पर विन्यसित है।

अर्जुन ही इस नाटक का प्रधान नायक है। उसका चरित्र पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है; अन्य पात्रों का चारित्रिक परिचय भी पाँत्रों के कथोपकथन से चल जाता है।

अनुवाद इतना सुन्दर और सजीव है कि यह नाटक मौलिक सा प्रतीत होता है। इसका प्रधान रस वीर रस है।

मुद्राराक्षस

इसके संस्कृत के मूल नाटककार विशाख दत्त थे। यह एक राजनीतिक नाटक है। इसका रचना काल सन् १८७५ है।

चाणक्य अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चन्द्रगुप्त को राज्यासीन करता है और राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने के हेतु षडयन्त्र रचता है। अपनी कूट-नीति द्वारा वह राक्षस की अंगूठी की मुहर प्राप्त कर लेता है और अपने भेदियों को राक्षस और मलयकेतु के पास गुप्तरीति से रख देता है। वे भेदिये राक्षस और मलयकेतु में परस्पर द्वेष भाव उत्पन्न करते हैं। चाणक्य राक्षस के मित्रों—चन्दनदास, शकटदास आदि को कैद कर लेता है। इस प्रकार अपनी कूटनीति से वह राक्षस और मलयकेतु में झगड़ा करा देता है और राक्षस को अन्त में चन्द्रगुप्त का मंत्री बना देता है।

सम्पूर्ण नाटक की कथा ७ अङ्कों में विभाजित है। सारी कथा सुगुम्फित रूप से मुख्य फल प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त की कथा आधिकारिक है तथा मलयकेतु की प्रासंगिक; किन्तु दोनों कथायें प्रगाढ़ रूप से सम्बन्धित है और एक साथ विकसित होती हैं। वस्तु अत्यन्त ही जटिल और विस्तृत है; किन्तु उसका उटन स्वाभाविक और सरल है।

अनेक कथाओं को राक्षस और चाणक्य तथा अन्य पात्रों के स्वगत भाषणों से तथा परस्पर वार्तालाप से उद्घाटित कराया गया; जिससे फैली हुई कथा का सिमटाव नाटक की रंगमंचीय परिधि में सुगमता से हो जाता है। चन्द्रगुप्त का पाटिलपुत्र पर आक्रमण, पर्वतक पर विष कन्या का प्रयोग, राक्षस के गुप्तचर वैरोधक आदि की हत्या, आदि आदि घटनाएं नाटक की मूल कथा के पूर्व की घटनाएँ हैं, पर मूल कथा की गति में सहायक और उसका आवश्यक अङ्ग हैं; अतएव इन सबका उद्घाटन पात्रों के परस्पर वार्ता-लाप से हो जाता है। ऐसी भी अनेक घटनाएँ हैं जो नाटक की मूल कथा के बीच में ही होती हैं पर जिनका होना रंगमंच पर नहीं प्रदर्शित किया

जाता। वे घटनाएँ भी वार्तालाप के द्वारा ही प्रगट होती हैं। यदि इन सबको रंगमंच पर दिखाया जाता तो नाटक बहुत बड़ा और उलझा हुआ हो जाता। नाटककार ने उन सब कथाओं का संवादों द्वारा परिचय देकर गठन चातुरी का परिचय दिया है। जैसे—शकटदास से राक्षस की मुद्रा लेकर पत्र लिखवाना और उस पर मुद्रा अङ्कित कर राक्षस को कैद करने का षड-यन्त्र करना।

सारे नाटक का गठन इस चातुरी से हुआ है कि सारे राज्य में फैली घटनाएँ सिमिट कर एक सूत्र में आ जाती हैं और कथा मूल अभीष्ट की ओर अग्रसर होती है। घटनाओं का घात प्रतिघात तथा कार्य-व्यापार की गति अत्यन्त तीव्र है। पात्रों का चरित्र कहीं पर गिरने नहीं पाया है। घट-नाओं का चक्र जो उनके चरित्र को गिराने वाला है अपना कार्य करता है पर साथ ही पात्र की विशेषताएँ सामने आ जाती हैं। जैसे राक्षस घटनाओं के चक्र में पड़कर अविश्वासी, विश्वासघातक और नीच सिद्ध हो जाता है। पर दर्शकों से उसके चरित्र की महानता भी छिपी नहीं रहती। उसी प्रकार चाणक्य जो इसका सूत्रधार है सारे नाटक में षडयन्त्रकारी के रूप में आता है किन्तु उसका चरित्र भी बड़ा महान हो जाता है, जहाँ वह राक्षस को ही मन्त्री बना देता है, और दर्शकों पर प्रकट होता है, कि वह यह सब षडयन्त्र परहित में ही कर रहा था। उसके गुप्तचर भी इसी हित साधन के लिए ही नीच कर्म करते हैं। इस प्रकार नाटक की उदात्तता कहीं पर भी कम नहीं हो पाई है। दर्शक और पाठक नाटक के हर पात्र के साथ अपने हृदय की सद्-भावनाओं का तादात्म्य कर सकता है।

नाटक की पूर्व पीठिका—प्रत्येक रचना अपने काल से प्रभावित होती है। उससे हम उस काल की प्रति छवि का दर्शन कर सकते हैं। जो रचना ऐतिहासिक होती है। उसमें जिस काल की रचना होती है और जिस काल का रचना कार होता है उन दोनों ही कालों की पीठिका का सम्मिलन प्रति छवित होना स्वाभाविक है।

मुद्राराक्षस में भी यही बात हमें देखने को मिलती है। प्रस्तुत नाटक की कथा वस्तु राजनैतिक है अस्तु उसमें देश की राजनैतिक अवस्था और उससे सम्बन्धित उथल-पुथल का तो मुख्य रूप से चित्रण हुआ ही साथ ही उस काल की सामाजिक दशा का भी चिश्रण हुआ है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यासीन होने से पूर्व देश छोटे छोटे राज्यों में

विभक्त था, जिनमें परस्पर विद्वेष के कारण ही तो पोरस सिकन्दर से पराजित हुआ था। सिकन्दर ने भी उसी समय देश पर आक्रमण किया था। छोटे छोटे राज्यों के अतिरिक्त देश गणराज्यों में विभक्त था। उन सब को एक में संयुक्त कर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की बड़ी आवश्यकता थी। मगध साम्राज्य का नन्दवशींय राजा भी अशक्त था और संयुक्त शक्तिशाली राज्य के निर्माण के योग्य न था। देश में ब्राह्मणों और बौद्धों का संघर्ष भी परस्पर फूट का कारण हो रहा था। ऐसे समय में संयोग से देश को चाणक्य जैसा नीतिज्ञ और चन्द्रगुप्त जैसा पराक्रमी प्राप्त हो गया। चाणक्य ने अपनी नीति चातुरी से चन्द्रगुप्त को राज्यासीन कराया और राक्षस को उसका मन्त्री बनाने तथा उसके राज्य को दृढ़ करने के लिए उसने जो उपाय किए और कूटनीति के पैंतरे चले उन्हीं का इस नाटक में वर्णन है। चाणक्य राक्षस की शक्ति और बुद्धिमत्ता को जानता था और चाहता था कि वह किसी तरह चन्द्रगुप्त के पक्ष में आकर उसका अमात्य हो जाय तो चन्द्रगुप्त का राज्य निष्कंटक हो जाय। इसी हेतु वह राक्षस की मुद्रा के सहारे ही सारा षडयन्त्र करता है। इसी लिए इस नाटक का नाम मुद्राराक्षस पड़ा है।

नाटक का उद्देश्य—इस नाटक का उद्देश्य केवल चन्द्रगुप्त का प्रभाव स्थापित करना है और उसके लिए राक्षस को उसका मन्त्री बनाना। चाणक्य जानता था कि राक्षस राजी से चन्द्रगुप्त का मन्त्री नहीं बनेगा; क्योंकि वह अपने स्वामी के प्रति सच्चा है। इसी हेतु चाणक्य सारा षड्यन्त्र रचता है।

कथा विन्यास—नाटक की मूल कथा अत्यन्त ही संक्षिप्त है किन्तु उसका प्रासंगिक विस्तार अत्यन्त फैला हुआ है। चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट है और अब उसके राज्य को दृढ़ करना है। यह छोटी सी कथा अनेक घटनाओं का केन्द्र है और नाटक के अङ्कों के गठन से पूर्व तथा मूल कथा के साथ की घटनाओं की प्रासंगिक तथा आधिकारिक कथाओं के पर्त पर पर्त खुलते जाते हैं और कहीं भी उलझन नहीं पैदा होती। घटनाओं में अपूर्व एकता है। काल तथा घटनाओं में भी अपूर्व एकता है। स्थान एक्य न होते हुए भी स्थान एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं और पास-पास आते प्रतीत होते हैं। इसमें कथा मुख्य रूप से केवल दो ही स्थलों पर चलती है मगध तथा मलयकेतु के पड़ाव में और मलयकेतु का पड़ाव भी मगध की ओर बढ़ता आता है। अस्तु नाटक में नाटकीय स्वाभाविकता बहुत है।

नाटक के विन्यास में सभी शास्त्रीय लक्षणों का पालन हुआ है। इसके आरम्भ में नान्दी पाठ, प्रस्तावना तथा अन्त में भरत वाक्य है। प्रथम अङ्क में जहाँ चाणक्य कहता है—"जब तक नन्द वंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मन्त्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उसे पकड़ने में हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं," बीज अर्थ प्रकृति है। प्रथम अङ्क में ही जिस स्थल पर दूत हाथ में यम का चित्र लिए आता है, और चाणक्य को राक्षस की मुद्रा देता है, और राक्षस को शकटदास से पत्र लिखवाता है, और वही मुद्रा अङ्कित करता है, यह स्थल बिन्दु अर्थ प्रकृति का माना जायगा। और जो घटना सिद्धार्थक और भागुरायण से सम्बन्ध रखती है वह पताका अर्थ प्रकृति का स्थान है। चाणक्य द्वारा कौमुदी महोत्सव को रोक देने वाली कथा प्रकरी अर्थ प्रकृति के अन्तर्गत है। जहाँ पर षड्यन्त्र कर राक्षस को वध स्थान पर अपने मित्र चन्दनदास की रक्षा के लिए ले जाया जाता है वह स्थल कार्य अर्थ प्रकृति है।

जहाँ पर चाणक्य का दूत राक्षस की मुद्रा लाकर चाणक्य को देता है वह स्थल आरम्भ अवस्था है। राक्षस और मलयकेतु में विरोध उत्पन्न कराने तथा राक्षस के प्रति अविश्वास पैदा कराने, पर्वतेश्वर के आभूषण ले जाकर राक्षस को बेचने, राक्षस के मित्र चन्दनदास की हत्या की सूचना आदि की घटनाएँ जहाँ राक्षस को अत्यन्त निराश, हतप्रभ तथा अशक्त सा कर देती हैं और वह अपने सारे प्रयत्नों से विमुख हो जाता है, प्रयत्न के अन्तर्गत है। मलयकेतु राक्षस पर अविश्वास कर उसे बहिष्कृत कर देता है वह स्थल प्राप्त्याशा का है और जहाँ राक्षस यह भय छोड़कर कि वह बन्दी हो जायगा, अपने मित्र को छुड़ाने जाता है नियताप्ति माना जा सकता है। और अन्त में जहाँ वह तलवार फेंककर आत्म समर्पण कर देता है और चन्द्रगुप्त का आमात्य बनना स्वीकार कर लेता है वह स्थान फलागम है।

जिस स्थल पर बीज है वहीं मुख सन्धि है। इसी प्रकार से अर्थ प्रकृतियों के साथ-साथ ही प्रायः शेष चारों सन्धियों का निर्वाह हुआ है।

चरित्र चित्रण—नाटकों के सभी पात्रों की भूमिका अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है उसे अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। उस कार्य को न कोई अन्य पात्र ही कर सकता है और न उस कार्य को नाटक से अलग किया जा सकता है। प्रत्येक पात्र अपने कार्य में प्रमुखता रखता है और इस प्रकार सारी कथा को फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करने में योग देता है। यदि हम

पात्रों को प्रमुखता की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय श्रेणी में वर्गीकृत करें तो प्रथम वर्ग में चाणक्य, चन्द्रगुप्त और राक्षस आयेंगे तथा द्वितीय वर्ग में शेष सभी। चाणक्य ही नाटक का नायक है।

चाणक्य—समाज में व्यक्ति का चरित्र सामाजिक परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से निखरता है और नाटक में कथा के घात-प्रतिघातों के बीच उसका चरित्र निखरता है। चाणक्य की चरित्रगत विशेषताओं, दृढ़ता, कूटनीतिज्ञता अपराजेयता, आस्थावानता, कर्मठता, चारित्रिकता आदि के बीज उस काल की परिस्थितियों में निहित थे जिन्होंने चाणक्य को जन्म दिया था। नाटककार ने बड़ी चतुराई से मूल कथा के साथ सम्वादों द्वारा सारी ऐतिहासिक परिस्थिति की पीठिका प्रस्तुत कर चाणक्य के चारित्रिक स्वरूप के बीजों को नाटक की कथा में भी डाल दिया है और उनके गर्भ से ही उसके चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप से किया है। यही बात इस नाटक के अन्य चरित्रों के चारित्रिक विकास के सम्बन्ध में भी सत्य है।

चाणक्य एक विद्वान् पुरुष है। चन्द्रगुप्त अपनी बाल्यावस्था से ही उसका शिष्य रहा है। अतः चाणक्य ने अपने मन में जो कल्पनाएँ कर रखी थीं उन्हें सफल बनाने के साधन रूप में उसने चन्द्रगुप्त को आरम्भ से विकसित किया। चाणक्य ने उसे अपनी चातुरी से मगध का सम्राट बना दिया पर उसके साम्राज्य की दृढ़ता अभी शंकित है; क्योंकि मगध का पुराना मन्त्री राक्षस उसका विरोधी है अतः चन्द्रगुप्त सम्राट बनाने के बाद चाणक्य के सम्मुख उसके साम्राज्य को दृढ़ करने के हेतु राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में लाना प्रधान कार्य रह जाता है और अन्त में अपनी कूटनीति से तथा दृढ़ता से वह इसमें भी सफल हो जाता है। वह ऊपर से देखने में अनेक ऐसे कार्य करता है जो जघन्य हैं और जिनके कारण वह दर्शकों के सम्मुख धूर्त कूटनीतिज्ञ के रूप में आता है परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। और जब अन्त होते-होते उसका वास्तविक मन्तव्य प्रकट हो जाता है तो एकाएक नाटकीय ढङ्ग से चाणक्य का उदात्त रूप दर्शकों के सम्मुख प्रगट हो जाता है। नाटककार ने उसकी कूटनीति में उसके चरित्र की महानता के रहस्य को धीरे-धीरे खुलने दिया है जिससे चाणक्य के चरित्र में अतीव रूप से नाटकीय जिज्ञासा का समावेश हो गया है। वह अपनी कूटनीति से राक्षस और मलयकेतु में विरोध उत्पन्न करा देता है, चन्दनदास को फाँसी का भय दिखाता है पर इन सब धूर्तताओं के पीछे उसका हृदय साफ है और भावना निष्कलुष। वह कठोर

है तो कोमल भी है। चाणक्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति था जो निस्सन्देह राजनीति और अर्थशास्त्र का प्रकाण्ड भारतीय पण्डित था और बड़ी प्रतिभा का व्यक्ति था। उसके इस ऐतिहासिक रूप का सच्चा निर्वाह इस नाटक में हुआ है।

चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त चाणक्य का शिष्य है और चाणक्य पर पूर्ण आस्था रखता है। वह पूर्ण रूप से चाणक्य का आज्ञानुवर्ती है। वह चाणक्य के प्रति अपनी आस्था और अनुराग को प्रगट करता हुआ कहता है—"गुरु जी के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतन्त्र हैं।" वह अपने को गुरु के आधीन मानता है पर इस गुरु आधीनता से उसके मन में विक्षोभ नहीं है। वह कहता है—

"जबलौं बिगारे काज नहिं तबलौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाह कुराह तो गुरु सीस अंकुस ह्वै रहै॥
तासों सदा गुरु-वाक्य बस हम नित्य पर-आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से सन्त जन ही जगत में स्वाधीन हैं॥"

नाटक में चन्द्रगुप्त का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं विकसित होता। आरम्भ से अन्त तक वह चाणक्य के हाथ की गोट ही बना रहता है। इसे हम उसकी निर्बलता भी कह सकते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। वह है युद्ध का शूर और चाणक्य है राजनीति का शूर। साम्राज्य को व्यवस्था की दृष्टि दृढ़ करना चाणक्य का काम है और वह इसके लिए पूर्णरूपेण चाणक्य पर विश्वास-पूर्ण आस्था रखता है और निर्भर रहता हुआ, उसका आज्ञानुवर्ती बना रहता है। यह अपने-अपने क्षेत्र की बात है, उसकी निर्बलता नहीं है। नाटक के किसी भी प्रसंग से उसकी अशक्तता नहीं प्रतीत होती। वह दत्त-चित्त होकर सारे रास-रंगों और जीवन-विलासिताओं से विमुख होकर केवल राज्य को दृढ़ करने में ही संलग्न रहता है और उस कार्य के सफल-सम्पादन के लिए हर प्रकार से चाणक्य का हाथ बँटाता है और उसके हर निर्देश का पालन करता है।

राक्षस :—नाटक के उद्देश्य का केन्द्र-बिन्दु राक्षस ही है। नाटक की समस्त घटनाएँ राक्षस को चन्द्रगुप्त का आमात्य बनाने के फल के चारों ओर ही केन्द्रित हैं और सारी घटनाओं का संचालन राक्षस को ही दृष्टि में रखकर होता है। इस तरह वह नाटक का प्रधान पात्र न होते हुए भी प्रमुख और केन्द्रीय पात्र है। अतः चरित्र चित्रण की दृष्टि से उसका चरित्र विशेष

महत्व रखता है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्र में एक समगति है और स्थिरता है। उनके चरित्रों को तो हम स्थिर चरित्र कह सकते हैं। उनके चरित्रों में चरित्रगत घात-प्रतिघात नहीं है केवल घटनाओं का घात-प्रतिघात है। किन्तु राक्षस का चरित्र गतिशील चरित्र है। उसके चरित्र में चरित्रगत घात-प्रतिघात भी है और घटनाओं का घात-प्रतिघात भी। उसके मन में आशा-निराशा का उद्वेलन भी होता है, मानवीय अन्तर्द्वन्द्व भी होता है और वह जीवन की वृत्तियों से संघर्ष भी करता है। उन संघर्षों के बीच से ही उसका निर्मल चरित्र निखरता है। उसका चरित्र अधिक मानवीय है। राक्षस का चरित्र इतना महत्वपूर्ण है कि उसके लिए ही नाटक की सारी कथा का निर्माण हुआ है। चाणक्य और राक्षस के चरित्र तुलनात्मक दृष्टि से समान-स्तर के चरित्र हैं और राक्षस भी उतना ही बुद्धिमान है और नीति निपुण है तथा विवेकी और दृढ़ है जितना चाणक्य। तभी तो चाणक्य उसकी विशेषताओं को पहँचान कर उसके चन्द्रगुप्त के राज्य की दृढ़ता के लिए उसके पक्ष में आने की नितान्त आवश्यकता समझता है और उसके लिए सारे षडयन्त्रों की रचना करता है।

वह सच्चा स्वामिभक्त है। उसकी स्वामिभक्ति तथा मित्रभक्ति का परिचय हमें पल पल पर प्राप्त होता है। उसकी यह विशेषता ही थी जिसने चाणक्य को आकर्षित किया था और जो दर्शकों की सहृदयता को भी आकर्षित करती है। वह स्वामिभक्ति और मित्र प्रेम में अपना सब कुछ कुर्बान करने को उद्यत रहता है। उसका जीवन-कर्तव्य क्षेत्र अधिक व्यापक, विशाल और उदात्त है। जीवन में उसका कोई अपना व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है, वरन परहित के लिए वह सारे कष्ट सहन करता है। वह जब सुनता है कि उसके परिवार को आश्रय देने के अपराध में उसके मित्र चन्दनदास जौहरी को फाँसी हो रही है तो वह अपने प्राणों का मोह त्याग कर उसे बचाने के हेतु आता है। अन्त में वह पराजित होता है किन्तु उसकी महानता में तनिक भी कमी नहीं आती। उसकी पराजय ही उसकी विजय है।

नाटक का कथानक राजनीतिक षड्यन्त्रों का कथानक है, जिसके निर्वाह में वह पूर्ण सफ़ल है।

भारतेन्दु का यह अनुवाद भी उनके अन्य संस्कृत नाटकों के अनुवाद की भाँति ही अत्यन्त सुन्दर हुआ है। वरन् अन्यों से भी सुन्दर हुआ है। इसके

अनुवाद में उन्होंने परिश्रम भी बहुत किया था। अनुवाद में मौलिक का सा ही आनन्द आता है। यत्र-तत्र उन्होंने मौलिक समावेश भी किए हैं जिनकी विवेचना हम अपने एक पिछले लेख में कर आए हैं।*

अभिनय की दृष्टि से भी नाटक सुन्दर है दृश्य-विधान सरल और रंग-मंचीय है। संवाद में नाटकीयता है।

नाटक में आए गीत भी प्रसङ्गानुकूल और नाटकीय हैं। वे नाटक की कार्य-गति के प्रेरक हैं, फालतू भरती नहीं हैं। उनमें साहित्यकता भी है।

नाटक नाटकीय कला तथा साहित्यिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उत्कृष्ट है।

---

* देखिए—अनुवादित नाटकों में मौलिकता लेख।

कर्पूर मंजरी

—*:*—

यह नाटक राजशेखर कवि द्वारा प्राकृत भाषा में विरचित 'कर्पूरमंजरी' सट्टक का अनुवाद है। इसका अनुवाद काल सन् १८७६ है।

कथा अत्यन्त साधारण और सरल है। इसमें राजदरबार का सुन्दर व्यंग-पूर्ण चित्र उपस्थित हुआ है।

एक सिद्ध भैरवानन्द राजा चण्डपाल के विदूषक के कहने पर कि कुछ अपना करतब दिखाओ विदर्भ देश के राजा वल्लभराज की पुत्री कर्पूर मंजरी को अपने योग बल से राज-सभा में बुला लेता है। वह संयोग से राजा की रानी की मौसेरी बहिन निकलती है। कर्पूर मंजरी अतीव सुन्दरी है। राजा उस पर आसक्त हो जाता है। कर्पूर मंजरी भी राजा पर आसक्त हो जाती है। रानी अनेक प्रकार से उसकी हत्या करने का प्रयास करती है, परन्तु राजा हर बार उसे बचा लेता है और रानी से छिपकर कर्पूर मंजरी से मिलता रहता है। रानी को जब यह पता चलता है तो वह अनेक उपायों से दोनों के मिलन को रोकती है, किन्तु सफल नहीं होती। वह राजा का दूसरा बिवाह राजा चन्द्रसेन की कन्या घनसार मंजरी से कराना चाहती है। किन्तु भैरवा-नन्द के चमत्कार से रानी के सामने कर्पूर मंजरी ही घनसार मंजरी हो जाती है। अन्त में राजा और कर्पूर मंजरी का विवाह हो जाता है।

नाटक का कथा विन्यास सट्टक के शास्त्रीय नियमों के आधार पर हुआ है। इसका नान्दीपाठ भारतेन्दु का मौलिक पद है। कथा का बीज उस स्थल पर है जहाँ पर दरबार में भैरवानन्द आकर अपने चमत्कार की बात कहता है और बिन्दु का स्थल वह है जहाँ पर वह अपने चमत्कार से कर्पूर मंजरी को दरबार में बुला लेता है। राजा के साथ कर्पूर मंजरी का विवाह हो जाना कार्य है। प्रथम अंक में ही बीज के साथ ही कार्य का आरंभ और मुख सन्धि है। कर्पूर मंजरी को बुलाया जाना यत्न की अवस्था और प्रतिमुख सन्धि है। जहाँ राजा रानी द्वारा कर्पूर मंजरी को सुरंग में बन्द कर उससे न मिलने देने के प्रयास को भी विफल कर देता है वहाँ प्राप्त्याशा और गर्भ

संधि है। विवाह के अवसर पर जहाँ रानी भैरवानन्दजी के चमत्कार से कर्पूर मंजरी को ही घनसार मंजरी समझ लेती है वहाँ नियताप्ति अवस्था तथा विमर्श सन्धि है। विवाह की फेरियाँ फलागम और निर्वहण सन्धि है। चार अङ्कों में सारी कथा का अत्यन्त नाटकीय ढंग से विन्यास हुआ है। नाटक में कार्य-व्यापार की गति अत्यन्त तीव्र है और घटनाओं के घात-प्रतिघातों का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

नाटक में हास्य और विनोद-व्यंग का सुन्दर निर्वाह है। विदूषक और विचक्षणा, राजा और विदूषक के संवादों से सुन्दर हास्य का सृजन होता है। काम पीड़ित राजा का विदूषक द्वारा उपहास इस सत्य का साक्षी है कि उस समय राजदरबारों के विदूषक राजाओं के कितने मुँह लगे होते थे। विदूषक का स्वप्न-वर्णन भी अत्यन्त रोचक बना है।

भारतेन्दु ने इस नाटक को अनुवाद के लिए छाँटा इससे उनकी श्रृङ्गार प्रियता का परिचय मिलता है। बीच बीच में मूल गीतों के स्थान पर हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के श्रृङ्गारिक गीतों का समावेश भी उनकी मौलिकता है। इस नाटक में कहीं-कहीं श्रृङ्गार अश्लील होगया है।

नाटक की भाषा अत्यन्त ही सुन्दर और सजीव है। वह अनुवाद नहीं वरन मौलिक सी प्रतीत होती है। लोकोक्तियों के प्रयोग ने उसमें और भी सौष्टव ला दिया है। भाषा अलंकारिक है और व्यंजना प्रधान है। विदूषक एक स्थान पर विचक्षणा से कहता है —

"बक बक किए जायगी तो तेरा दाहिना और बायाँ युधिष्ठिर का बड़ा भाई उखाड़ लेंगे।"

नाटक प्रमुख पात्र है राजा, रानी, विदूषक, विचक्षणा, भैरवानन्दजी और कर्पूर मंजरी। कर्पूर मंजरी का योग नाटक की कथा के घात-प्रतिघातों में विशेष नहीं है, वह साध्य मात्र है। शेष पात्रों के चरित्रों में घात-प्रतिघात है। किन्तु चरित्रों में उतार चढ़ाव नहीं है। राजा का चरित्र एक धीर ललित नायक का चरित्र है। वह कलाप्रिय और सौन्दर्यप्रिय है। बसन्त का मनोहारी समा उसके हृदय को अभिभूत कर उसमें कामोद्दीपन करता है और जब ऐसे समा में लावण्यवती कर्पूर मंजरी उसके सम्मुख योग बल से आ उपस्थित होती है, तो वह स्वभावतः उसके रूप सौन्दर्य पर रीझ उठता है और हर सभम्व प्रकार से उसे प्राप्त करना अपने जीवन का उद्देश्य बना लेता है। रानी का चरित्र स्वाभाविक है। वह स्त्री सुलभ स्वभाव का परिचय देती

है। कोई भी स्त्री अपने पति को एक अन्य स्त्री पर रीझा देखकर हर संभव प्रकार से प्रयास करेगी कि दोनों में संयोग न हो सके, वही रानी भी करती है। वह राजा को कपूर मंजरी की ओर से विमुख करने के लिए उसका विवाह घनसार मंजरी से कराने को भी उद्यत हो जाती है और उसका प्रयास भी करती है पर सफल नहीं होती। विदूषक विचक्षणा और भैरवानन्द के चरित्र अपनी अपनी चरित्रगत विशेषताओं को लिए हुए हैं। कपूर मंजरी परकीया नायिका है। उसके हृदय में यौवन की उद्दाम वासना तरंगित हो रही है। उसकी उद्याम यौवन की तरंगें पहली ही हिलोर में राजा की हृदय तरंगों से जा मिलती है और हिलकोरें लेने लगती हैं उसका मन ऊब-डूब हो जाता है।

वैसे तो नाटक अभिनेय है पर उसमें कुछ अस्वाभाविकताएँ हैं जिनका प्रदर्शन रंगमंच पर कठिन प्रतीत है जैसे भैरवानन्द जी का योग बल से कपूर मंजरी को दरबार में बुला लेना, विवाह के समय कपूर मंजरी का घनसार मंजरी हो जाना और पुनः कपूर मंजरी बन जाना। कपूर मंजरी के आलिंगन, दृष्टिपात तथा स्पर्श से कुरबक, तिलक तथा अशोक वृक्षों का फूल जाना आदि।

नाटक का अनुवाद बड़ा ही सुन्दर हुआ है। भाषा में मौलिक रचना की सी ही सजीवता है। मूल ग्रन्थ की अपेक्षा इसमें पद्यों का समावेश भी अधिक है कुछ कवि पद्माकार के पद्यों का भी समावेश कर दिया गया है।

इसका प्रधान रस शृङ्गार है।

दुर्लभ-बन्धु

यह नाटक शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'मरचेन्ट आफ़ वेनिस का भावानुवाद है। इसका अनुवाद काल सन् १८८० है।

इस नाटक के अनुवाद में भारतेन्दु ने पर्याप्त मौलिकता से काम लिया है। पात्रों के नाम, स्थान आदि के परिवर्तन के अतिरिक्त इनके अनुरूप ही कथा तथा संवादों में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया है। इस प्रकार इस नाटक का उन्होंने सर्वथा भारतीय करण ही कर दिया है।

सच्ची मित्रता और धनिकों की क्रूर हृदयता दिखाना और यह दिखाना कि उनमें भी सब एक से ही नहीं होते कुछ सहृदय सच्चे और दयावान भी होते हैं, मूल नाटक का उद्देश्य है। भारतेन्दु ने भी सम्भवतः उसी उद्देश्य को दृष्टि में रख कर ही उसे अनुवाद के लिए चुना था।

कथानक अत्यन्त सरल और सीधा है। अनन्त और बसन्त दो मित्र हैं। अनन्त वंशनगर का एक धनी व्यापारी है जिसके जहाज़ दूर देशों को बहुमूल्य सामान लादकर ले जाते, और वहाँ से लादकर लाते हैं। बसन्त एक साधारण व्यक्ति है। उसने अपनी सारी सम्पत्ति गवाँ दी थी और ऋणी हो गया था। उसे विल्वमठ की सुन्दर धनी स्त्री पुरश्री से प्रेम होगया था। वह उससे अपने साथ विवाह करने का प्रस्ताव करने जाने के लिए अनन्त से और रुपया माँगता है पर अनन्त का सारा माल बाहर गया हुआ है उस कारण उसके पास नकद रुपया भी नहीं है और न माल ही जिसे बेचकर वह अपने मित्र की सहायता कर सके, अतः वह एक अन्य व्यापारी शैलाक्ष से अपनी जमानत पर उसे छः सहस्र रुपया दिला देता है। अनन्त बड़ा ही दयावान व्यापारी है और सूद नही लेता पर शैलाक्ष जो कि जैनी है सूद खोर कंजूस और क्रूर हृदयी शोषक व्यापारी है। अनन्त उसे इसके लिए बड़े अपशब्द कहा करता था। अब जब अनन्त उससे बसन्त के लिए रुपया उधार लेता है तो उसे अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का अवसर मिल जाता है और कर्ज के बदले जो दस्तावेज लिखवाता है, उसमें शर्त रखता है कि यदि

तीन माह के अन्दर रुपया न चुका तो वह अनन्त के शरीर से आधा सेर माँस ले लेगा। अनन्त इस शर्त पर अपने मित्र बसन्त को छः सहस्र रुपया दिलवा देता और बसन्त अपने मित्र गिरीश के साथ अपनी प्रेमिका पुरश्री को प्राप्त करने के उद्देश्य से चला जाता है। पुरश्री के पिता यह वसीयत कर गए थे कि तीन मँजूषाओं—सोने, चाँदी और शीशे की में से जो व्यक्ति उस मंजूषा को खोलेगा जिसमें पुरश्री की तस्वीर होगी, वही उससे विवाह करने का अधिकारी होगा। पुरश्री भी बसन्त से प्रेम करती थी, पर अपने पिता की वसीयत से बाध्य थी। अनेक राजकुमार और धनी उससे विवाह करने आए पर सही मंजूषा भाग्य से बसन्त ने ही खोली और मनमानी मुराद पायी। पुरश्री के साथ उसका विवाह होगया तथा उसके साथ ही गए उसके मित्र गिरीश का पुरश्री की सखी नरश्री से विवाह होगया। उधर तीन माह की अवधि पूरी होगई और अनन्त के व्यापार के लिए गए जहाज दुर्भाग्य से समुद्र में डूब गए और वह निश्चित अवधि तक व्यापारी शैलाक्ष का रुपया न अदा कर सका। परिणाम स्वरूप उसे न्यायालय में प्रस्तुत होना पड़ा। उसने बसन्त के पास सारा समाचार लिख भेजा और अन्तिम भेंट की लालसा प्रगट की। बसन्त ने सारा वृतान्त विस्तार से पुरश्री से कह सुनाया। पुरश्री ने उसे तुरन्त वंशनगर जाकर अपने मित्र की सहायता करने की सलाह दी। बसन्त और गिरीश वंशनगर आए। शैलाक्ष व्यापारी की पुत्री जसोदा का प्रेम लवंग नामक एक युवक से था जिसके साथ वह उसके मित्रों की सहायता से काफी धन लेकर भाग आयी थी। वे दोनों भी भागकर विल्वमठ बसन्त के पास ही आए थे। बसन्त और गिरीश के वंशनगर चले जाने के बाद पुरश्री नरश्री को अपने साथ ले घर का सारा भार लवंग और जसोदा पर छोड़कर और उन्हें यह बताकर कि वे दोनों पास के एक मठ में पूजा के लिए जा रही हैं क्रमशः वकील और लेखक का वेश धारण कर वंशनगर आती हैं। वंशनगर में राजा के सम्मुख अनन्त और शैलाक्ष का मामला पेश होता है। शैलाक्ष को राजा भी अनेक प्रकार से समझाकर हार चुका पर वह तो अपने दस्तावेज के अनुसार अनन्त के शरीर से आधसेर मांस लेने पर तुला है। उसी समय बसन्त भी वहाँ पहुँच जाता है और उसे मूल का दुगुना, तिगुना देने को कहता है पर वह अपनी अड़ नहीं छोड़ता। उसी समय लेखक वेश में नरश्री प्रसिद्ध वकील बलवन्त का पत्र लेकर उपस्थित होती है जिसमें लिखा है कि उसके स्थान पर एक विद्वान नवयुवक वकील इस मामले की पैरवी

करेगा ! राजा द्वारा बुलाये जाने पर वकील वेश में पुरश्री न्यायालय में प्रवेश करती है । अनेक तर्कों के बाद वह शैलाक्ष से कहती है कि तुम अपने दस्तावेज के अनुसार अनन्त के सीने से आधा सेर माँस लेने के अधिकारी हो पर केवल माँस लेने की ही बात दस्तावेज में है इसलिए उनके बदन से रक्त की एक बूँद भी न टपकने पावे । इस तर्क ने पाँसा पलट दिया और शैलाक्ष को उल्टा दण्ड भोगना पड़ा । उसकी आधी सम्पत्ति अनन्त को दिला दी गई और आधी राज्य को जो उसकी पुत्री जसोदा और उसके पति लवंग को मिल गयी । इस प्रकार पुरश्री ने अपने विवेक से अनन्त को बचा लिया और स्वयं नरश्री के साथ तुरन्त अपने स्थान के लिए वापस लौट आई । लौटते समय पारिश्रमिक रूप में पुरश्री अपने पति बसन्त से तथा नरश्री अपने पति गिरीश से वही अँगूठी जिद् कर माँग लाई जो उन्होंने पत्नी रूप से उन्हें दी थी और और शपथ करवाई थी कि वे उन अँगूठियों को कभी भी अपने से अलग न करेंगे । लौटकर वे दोनों पहले विल्वमठ आ जाती हैं और थोड़ी देर बाद ही बसन्त भी अनन्त को अपने साथ लेकर आजाता है । पुरश्री और नरश्री अपने अपने पतियों को अंगूठी के पीछे काफी छका कर और उनसे परिहास कर बता देती है कि वे ही वकील और लेखक बनकर वंशनगर गयी और वे ही अँगूठियाँ माँग लाई थीं । उसी समय पुरश्री एक पत्र अनन्त को देती जिसमें यह सूचना लिखी होती है कि उसके माल से लदे तीन जहाज सकुशल बन्दरगाह पर आगए हैं । बस यहीं नाटक समाप्त हो जाता है ।

यह एक सुखान्त नाटक है और इसमें उतार-चढ़ाव तथा जिज्ञास का तत्व बहुत अधिक है । अन्त तक दर्शक द्विधा में रहता है कि नाटक का अन्त क्या होगा । कथा विन्यास अत्यन्त चातुरी से हुआ है । किसी भी स्थान पर शिथिलता नहीं आने पाई है । हाँ एक दो दृश्य यदि न भी होते तो काम चल जाता, जैसे गोप और वृद्धगोप की वार्तालाप का दृश्य ।

रंगमंच की दृष्टि से नाटक बड़ा ही सुन्दर है । कोई भी दृश्य दुरूह नहीं है । गीतों का समावेश भी कथा-गति के अनुकूल ही है ।

भारतेन्दु ने इसके अनुवाद में पर्याप्त स्वतन्त्रता से काम लिया है । समाज में प्रायः धनी व्यापारी जैन ही होते थे और वे भी प्रायः क्रूर हृदय ही । उन पर आपको विशेष रोष था । इसी कारण शैलाक्ष को जैन धर्मावलम्बी बनाया है, पर उसे अनार्य और बसन्त; अनन्त आदि को आर्य उन्होंने कैसे और क्यों कहा यह एक प्रश्न है । नाटक से इस प्रश्न पर प्रकाश नहीं पड़ता ।

क्या जैनी आर्य नहीं होते ? अनन्त को उन्होंने प्रथम अङ्क के तीसरे दृश्य में शैलाक्ष के मुख से ईसाई कहलाया है—"देखो इसकी सूरत से ही यह बात झलकती है कि यह हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिए जैनियों से शत्रुता रखता है। मैं इससे घृणा करता हूँ क्योंकि यह ईसाई है।" किन्तु अनन्त नाम तो ईसाई नहीं और फिर उसे जैनी शैलाक्ष की तुलना में आर्य कहा है। इस सब गड़बड़ के पीछे क्या बात है यह तो भारतेन्दु ही जानें ; पर दो बातें स्पष्ट हैं (१) अँग्रेजी की कथा को भारतीय रूप में प्रस्तुत करने के मोह से यह तथा कई अनेक भ्रान्तियाँ जिनका हम आगे विवेचन करेंगे, उत्पन्न हो गई हैं। (२) बड़े-बड़े धनी व्यापारी जैन मतावलम्बी होते थे। जैन धर्म के मूल सिद्धान्त हैं अहिंसा, दया, परसेवा और शान्ति किन्तु जैन धर्मी व्यापारी आडम्बरी जैनी होते थे और उनमें इनमें से एक भी गुण नहीं होता था। वे निर्दय होकर गरीबों का सूद-दर-सूद लेकर शोषण करते थे और दान-दया उनके पास नहीं फटकती थी। ऐसे ढोंगी व्यापारियों के प्रति उन्हें बड़ा रोष था। उन्हें सभी पाखण्डियों से रोष था। उन सब पाखण्डियों पर व्यंग करते हुए उन्होंने जैनियों पर भी तीखे व्यंग किए हैं। उनकी कविता में भी इस प्रकार के व्यंग आए हैं। उस समय भारत में अनेक ईसाई भी व्यापारी थे। ईसाई होने के नाते स्वभावतः ही वे जनता की घृणा के पात्र थे। पर उनमें अनेक सहृदय भी होते थे। अतः भारतेन्दु ने एक ईसाई व्यापारी तथा एक जैन व्यापारी का चरित्र तुलनात्मक रूप से लोगों के सामने प्रस्तुत कर दिया।

हम ऊपर कह आए हैं कि भारतेन्दु ने इस नाटक को मौलिक रूप देने का प्रयास किया है। पर इस मोह के कारण अनेक उलझनें पैदा हो गई हैं। केवल एक उदाहरण ही उसके लिए पर्याप्त होगा। पात्रों के नाम, स्थानों के नाम तथा कथा के अन्य उपकरणों से यह स्पष्ट है कि नाटक की कथा का स्थान भारतवर्ष ही है, फिर प्रथम अङ्क के तीसरे दृश्य में शैलाक्ष का यह संवाद—"......क्योंकि उनका एक जहाज त्रिपुल को गया है और एक हिन्दुस्तान को..." कथा के स्थान के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न कर देता है। इस सँवाद से प्रगट होता है कि वंशनगर हिन्दुस्तान से कहीं बाहर स्थित है। किन्तु कथा के अन्य सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वंशनगर हिन्दुस्तान के ही किसी भाग में है ! कथा में भारतीय पुराण-कथाओं के अनेक प्रसंग है—

पुरश्री—"तुम निश्चय जानों कि यदि मुझे मारकंडेय की आयु मिले तो भी मैं अम्बालिका की तरह कुँवारी मर जाऊँगी पर अपने पूज्य पिता की इच्छा के विरुद्ध कभी विवाह नहीं करूँगी।"........

(प्रथम अङ्क—दूसरा दृश्य)।

नाटक की भाषा में मौलिकता का सा आनन्द आता है। अंग्रेजी परम्पराओं के स्थान पर भी भारतीय परम्पराओं का समावेश कर दिया है। अंग्रेजी मुहाविरों के स्थान पर भी हिन्दी के मुहाविरे रखे हैं। जैसे—मुहर्रमी पैदाइश के, जो मजा इन्तजार में देखा वह नहीं वस्लेयार में देखा; आदि। भाषा अत्यन्त सजीव और प्रवाह शील है। कहीं कहीं बड़े अटपटे प्रयोग हुए हैं जैसे—"सब स्वच्छ, स्वच्छ वर्णन करो। संवाद और गीतों का सबसे बड़ा गुण है कि वे अनुवाद नही प्रतीत होते।'

अनंत, बसन्त, शैलाक्ष और पुरश्री के चरित्र महत्वपूर्ण हैं।

अनंत एक सच्चा मित्र है, दया शील व्यापारी है और बात का धनी एवं सत्यवादी है। वह अपने मित्र के लिए अपने शरीर से आधा सेर माँस की शर्त पर भी रुपया उधार दिला देता है। और जब अन्त में वह घड़ी आ जाती है जब उसे माँस देने को विवश होना पड़ता है तब भी उसके चेहरे पर एक भी शिकन नहीं आती और न क्षणमात्र के लिए भी उसे यह पश्चाताप होता है कि क्यों उसने नाहक में अपने सिर यह बला मोल ली। वह अन्त तक सच्चा मित्र बना रहता है। वास्तव में ऐसे व्यक्ति 'दुर्लभ बन्धु ही हैं।' उसके चरित्र की दूसरी विशेषता है कि वह दयाशील व्यापारी है। वह कर्ज में सूद नहीं खाता और ईमानदारी से अपना व्यापार करता है, तभी बाजार में उसकी साख है। इसी कारण से सूदखोर शोषक शैलाक्ष उससे द्वेष रखता है। इन विशेषताओं के साथ ही वह बात का धनो एवं सत्यवादी है। उसने रुपया न अदा करने पर अपने शरीर का आधा सेर माँस देने का बचन दिया था उस वचन पर वह कायम रहता है। अनन्त का चरित्र नाटक का सबसे महान चरित्र है।

बसन्त भी एक सच्चा दोस्त है। वह स्वार्थी नहीं है कि मित्र से अपना काम निकाल कर किनारा कर जाय। जब अनन्त पर मुसीबत आती है तो विवाह के तुरन्त बाद ही वह उसकी रक्षा के लिए चल पड़ता है और दुगुना तिगुना रुपया तक देने में आगा पीछा नहीं करता। वकील के वेश में पुरश्री जब उससे अनन्त के बचाने के मेहनताने में उसकी प्रिया द्वारा दी गई प्रिय

अँगूठी माँगती है जिसे किसी प्रकार भी अपनी उँगली से अलग न करने की शपथ उसने अपनी प्रिया के सम्मुख खायी थी, तो उसे भी दे देता है और पश्चात्तात नहीं करता। वह प्रेमी के रूप में एक सच्चा प्रेमी है।

पुरश्री एक सच्ची प्रेमिका है। उसमें नारी सुलभ, शील, लज्जा और करुणा है। वह जब सुनती है कि उसके प्रिय बसन्त का परम मित्र उसके ही कारण कष्ट में है तो वह अपने आनन्द का विचार न कर विवाह के तुरन्त बाद प्रिय का वियोग सहने पर सहर्ष उद्यत हो जाती है और उसे अपने मित्र की सहायता के लिए भेजती है। वह अनन्त के प्रति इतनी कृतज्ञता का अनुभव करती है कि स्वयं वकील का वेश धारण कर उसकी रक्षा करने के लिये जाती है।

शैलाक्ष एक धूर्त व्यापारी का चरित्र है जो धन को ही सब कुछ समझता है और लोगों का शोषण कर उपार्जित धन को धर्मोपार्जित धन कहता है। शैलाक्ष को छोड़कर नाटक के सभी छोटे-बड़े पात्र सच्चरित्र हैं।

नाटक का आदर्श महान है। वह जीवन में सच्चाई, दया और परहित का आदर्श प्रस्तुत करता है।

अभिनय की दृष्टि से भी नाटक सफ़ल है।

भाग ३

निबन्ध तथा अन्य रचनाएँ एवं पत्र-पत्रिकाएँ

निबंध

निबन्धों में गद्य का पूर्ण विकास प्रस्फुटित होता है। भारतेन्दु ने अपने युग की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना के साथ-साथ हिन्दी भाषा के स्थरीकरण का महती कार्य भी किया था। उस समय हिन्दी भाषा में गद्य ने एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक संक्रान्ति के धुँधलके में आँखें खोली थीं और उसी संक्रांति-संघर्ष के बीच उसने अपना रूप-सँवार किया था। उसमें भारतेन्दु के निबन्धों ने शिलान्यासी-शिल्पी का कार्य किया था।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी गद्य का रूप ही नहीं बन पाया था। भारतेन्दु ही हिन्दी गद्य की विभिन्न शैलियों और साहित्यिक रूपों के मूल कलाकार थे। इस तथ्य पर हमारा पीछे का विवेचन प्रकाश डालता है। उनसे पूर्व निबन्ध लेखन की कला का कोई रूप नहीं था। सर्व प्रथम हिन्दी निबन्धों का रूप हमें भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित-सम्पादित पत्रों में उनके ही द्वारा लिखे गये सम्पादकीय लेखों में देखने को मिलता है।

यह सम्पादकीय लेख सामयिक सामाजिक गतिविधियों पर जनता का मार्ग-प्रदर्शन करने के हेतु लिखे गए थे। उस युग में समाज भी सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्ष से गुज़र रहा था। उस संघर्ष के बीच जनता को सही मार्ग दिखाने की आवश्यकता का अनुभव भारतेन्दु को निःसन्देह युगचेता कलाकार का गौरव प्रदान करता है।

अस्तु हिन्दी के निबन्धों ने सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संघर्षों के बीच जनता के मार्ग प्रदर्शन के महती उद्देश्य से जन्म ग्रहण किया था। अतः उनकी पहली विशेषता थी—समाज सापेक्षता। वे देश की सर्वतोमुखी जन-जागृति के सन्देशक थे।

भारतेन्दु के निबन्धों की दूसरी विशेषता है विषयों की विविधता।

भारतेन्दु ने सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, यात्रा सम्बन्धी, आत्म कथात्मक, धार्मिक, गवेषणात्मक, राजनीतिक, प्रकृति संबंधी, व्यंगात्मक तथा हास्य आदि विविध विषयगत निबन्ध लिखे थे। इन विषयों पर भारतेन्दु द्वारा लिखे गए निबन्धों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नयी चेतना व्यंजित होती है।

भारतेन्दु के निबन्धों ने दो युग-विधायक कार्य किए थे। पहला कार्य विषय से सम्बन्ध रखता है, दूसरा भाषा शैली से। निबन्धों के विविध विषयों ने युग चेतना को एक नयी मोड़ प्रदान की थी और जन-विचारों का परिष्कार एवं संस्कार किया था। दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य इन निबन्धों ने किया भाषा-शैली के स्थरीकरण और निखार-विकास का।

उनके निबन्धों का विषयगत वर्गीकरण निम्न रूप से किया जा सकता है—

१—ऐतिहासिक

२—सांस्कृतिक

३—यात्रा सम्बन्धी

४—हास्य और व्यंग

५—जीवन चरितात्मक

६—साहित्यिक और

७—विविध।

इस विषयगत वर्गीकरण की कोई सीमा रेखा खींचना संगत नहीं, क्यों कि सभी निबन्धों से, चाहे वह ऐतिहासिक हों अथवा यात्रा सम्बन्धी अथवा हास्य-व्यंग से, सभी के नूतन सामाजिक चेतना का व्यापक युगान्तरकारी सन्देश व्यंजित होता है। यह सभी निबन्धों का उद्देश्य है। उनके यात्रा सम्बन्धी लेखों में स्थान विशेष के वर्णन के साथ वहाँ के निवासियों की संस्कृति का भी चित्रण हुआ है, और वह भी इस रूप में कि उनके गुण-दोषों का अलगाव कर पाठक स्वयं के लिए नया सन्देश प्राप्त कर सके। यही बात उनके ऐतिहासिक और अन्य विषयों के निबन्धों के साथ भी सही है। अस्तु उनके निबन्धों को विषयगत वर्गीकरण की कठोर सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। यह वर्गीकरण तो केवल उनके निबन्धों के विषयगत अध्ययन की सुगमता को दृष्टि में रखकर किया गया है। प्रायः सभी निबन्ध विचार प्रधान हैं शैली की दृष्टि से नहीं, चेतना की दृष्टि से। सभी निबन्ध किसी न किसी विशेष

उद्देश्य को सम्मुख रखकर ही लिखे गए हैं, और ये विचार समाज सापेक्षता रखते हैं। यह तथ्य उनके निबन्धों के अध्ययन से साफ स्पष्ट हो जाता है।

ऐतिहासिक लेखों में उनका उद्देश्य था–जनता में फैली ऐतिहासिक भ्रान्तियों और अज्ञान का निवारण ; अपने अतीत के प्रति समाज को चेतना देना ; प्राचीन गौरव की पीठिका पर सांस्कृतिक नव-जागरण का सन्देश देना तथा हिन्दी में इतिहास लेखन की कला का सूत्रपात तथा नेत्रत्व करना।

सांस्कृतिक निबन्धों के सृजन से उनका उद्देश्य स्पष्ट परिलक्षित होता है जनता में फैली सांस्कृतिक भ्रांतियों, अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों के प्रति जनता को नयी चेतना देना, देश की प्राचीन और अर्वाचीन स्वस्थ और अस्वस्थ संस्कृति के बीच अलगाव कर सांस्कृतिक चेतना को एक नयी दिशा देना, पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क से जनता में अपनी सभ्यता-संस्कृति के सम्बन्ध में आयी हीन भावना का परिशोध कर जनता में स्वाभिमान और राष्ट्रीय गौरव की भावना उद्‌बुद्ध करना आदि।

यात्रा सम्बन्धी निबन्धों में उनका उद्देश्य है, स्थान विशेष की प्राकृतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं से अन्य स्थान के पाठकों को परिचित कराना और इस प्रकार देश के विभिन्न स्थानों के बीच सांस्कृतिक एकता की पीठिका प्रस्तुत करना। उनके यात्रा सम्बन्धी लेखों में उन उन स्थानों के जहाँ जहाँ वे गये थे प्राकृतिक सुषमा के साथ-साथ वहाँ के निवासियों के जीवन, रहन-सहन, भाषा, रीति-रिवाज, धार्मिक मान्यताओं आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। इस तरह उन निबन्धों का साहित्यिक महत्त्व के साथ साथ सांस्कृतिक और राष्ट्रीय महत्त्व भी है।

हास्य और व्यंग के निबन्धों में सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अन्ध-विश्वासों, राजनीतिक अव्यवस्था, आर्थिक बदहाली, जनता की अज्ञानता पर करारे व्यंग है, और शिष्ट हास्य हैं। कोरे हास्य का निबन्ध एक भी नहीं है। सभी में हास्य के साथ-साथ व्यंग है और व्यंग के साथ ही साथ हास्य का पुट भी है।

साहित्यिक लेखों में भाषा सम्बन्धी भ्रमों का निराकरण, भाषा का परिमार्जन और उसे एकरूपता, गद्य के विकास, साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा साहित्य के सर्वतोमुखी विकास पर उनकी दृष्टि थी। उनके साहित्यिक लेखों को हम साहित्य की आलोचना के प्रारम्भिक प्रयोग कह सकते हैं।

इनके अतिरिक्त उन्होंने फुटकर रूप से अनेक निबन्ध लिखे हैं। उन निबन्धों में भी उनकी दृष्टि सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक परिष्कार पर रही है। उनके अनेक धार्मिक फुटकर निबन्धों को भी हम इसी वर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं।

भारतेन्दु के निबन्धों का महत्व उनके नाटकों तथा कविता से किसी भी प्रकार कम नहीं है। भारतेन्दु युग गद्य निर्माण का युग था और भारतेन्दु उसके पथ दर्शक भी थे और निर्माता भी। उन्होंने स्वयं भी साहित्य निर्माण का कार्य किया तथा दूसरों का नेत्रत्व भी। इस प्रकार से उन्होंने अपने चारों ओर लेखकों का खासा मंडल संगठित कर लिया था। यह मंडल आज कल की सी संगठित संस्थाओं की तरह से नहीं था वरन समय की मांग ने स्वतः ही कुछ लेखकों को एक पास ला दिया था और देश की भाषा की उन्नति उनके जीवन का मूल उद्देश्य हो गयी थी। लेखकों की इस एकता की स्थापना में भारतेन्दु के निबन्धों का बहुत बड़ा योग था। भारतेन्दु के निबन्ध हिन्दी लेखकों के मस्तिष्क की उलझनों को काट कर प्रकाश देने का कार्य करते थे। भाषा के सम्बन्ध में उस समय वाद विवाद था। इस विवाद को लेकर साहित्यिकों के दो दल हो गए थे। एक आमफ़हम हिन्दी जिसमें अधिकांशतः उर्दू के शब्द थे, का पक्षपाती था और दूसरा दल था जो संस्कृत से विकसित हिन्दी का पक्षपाती था। भारतेन्दु ने इस विवाद को दूर कर भाषा को जो रूप प्रदान किया वही आगे चल कर विकसित हुआ। आज भी वैसे तो हिन्दी के रूप पर पर्याप्त विवाद है। आज भी एक दल है जो संस्कृत गर्भित हिन्दी का पक्षपाती है, एक दल है जो हिन्दुस्तानी अर्थात् आमफ़हम का पक्षपाती है और एक दल है जो सरल हिन्दी का पक्षपाती है। आज के इस विवाद में भी भारतेन्दु द्वारा स्थिर हिन्दी का रूप ही ठीक सिद्ध होता है अर्थात् सरल मुहाविरेदार हिन्दी जो जनता में प्रचलित शब्दों को ग्रहण करती हुई निरन्तर अपना शब्द भण्डार विकसित करती चलती है। भारतेन्दु ने इस मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया था। हर प्रश्न को हल करते समय उनके सामने जनता का हित होता था। विशाल जनता का हित उनके दृष्टिकोण को व्यापकता प्रदान करता था और तभी उनके विचार जनता के लिए ग्राह्य और मार्ग दर्शक हो जाते थे। इसी आधार भूत दृष्टिकोण ने भारतेन्दु के निबन्धों को युग चेतना का संवाहक बना दिया था।

उनके निबन्धों में एक अपूर्व आत्मीयता है। आज के निबन्धों में वह

आत्मीयता नहीं है। तभी वे हमारे विचारों को भले ही उद्वेलित कर सकें पर हृदय को नहीं छू पाते, उनमें हम कुछ अपना पन नहीं अनुभव करते। भारतेन्दु के निबन्धों की यह विशेषता है। उनके निबन्धों में यह विशेषता आ सकी क्योंकि विषय और भाषा तथा शैली की दृष्टि से वे पाठक के हृदय से आत्मीयता स्थापित कर लेते थे। उन्हें पढ़ कर पाठक अनुभव करता था कि उसके ही हृदय के भाव वाणी पा रहे हैं। भारतेन्दु का जनता से निकट का सम्पर्क था। वे उसके विचारों की गतिविधि के माहिर पारखी थे, और उसी विषय पर वे पत्र में तुरन्त सम्पादकीय या स्वतन्त्र लेख लिख दिया करते थे, और वे निबन्ध पाठकों के मन-प्राण को वैसे ही प्रभावित कर एक दिशा प्रदान करने में समर्थ होते थे जैसे गर्म लोहे को सांचे में डालने से या हथोड़े से पीटने से लौहकार एक रूप प्रदान कर देता है।

भारतेन्दु ने अपना समस्त साहित्य, साहित्य सृजन के लिए ही नहीं निर्मित किया, वरन् जनता के लिए; उसकी भाषा शैली में और उसकी चेतना के परिष्कार के व्यापक उद्देश्य से उन्होंने साहित्य सृजन किया था। उनकी दृष्टि में साहित्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। उनके विचार से जन-उपयोगिता, जनता के विचारों का परिष्कार एवं अभिव्यक्ति ही साहित्य का महती उद्देश्य था उनके इस जनपरक दृष्टिकोण ने उनके निबन्धों को सबसे अधिक प्रभावित किया था। विषयगत, भाषागत एवं शैलीगत जन परकता ही उनके निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता थी; जिसने उस युग के ही नहीं आगामी युग के निबन्ध साहित्य को भी प्रभावित किया था।

इनके निबन्ध साहित्य पर अभी और खोज होने की आवश्यकता है। निबन्धों का केवल एक संग्रह ही अभी तक निकला है पर उसमें भी अनेक लेख नहीं है जिनका अन्यत्र अन्य विद्वानों ने उल्लेख किया है।

निबन्धों की भाषा शैली

— ० —

गत लेख में हमने भारतेन्दु के निबन्धों के सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना परिष्कार एवं साहित्य सम्वर्धन और भाषा-शैली के विकास-निखार के दो महत्व पूर्ण क्षेत्रों का विवेचन किया है। यहाँ हम उनके निबन्धों की कलागत अर्थात् भाषा-शैली की परख करेंगे।

भाषा--उनके समस्त निबन्धों की भाषा के सम्बन्ध में एक वाक्य में यों कहा जा सकता है—उनके निबन्धों की भाषा सामान्यतः सरल सुबोध मुहाविरेदार प्रवाह शील सजीव भाषा है, जिसमें बोलचाल के चलताऊ शब्दों का भी प्रयोग है और अन्य भाषाओं उर्दू और अंग्रेजी के उन शब्दों का भी वहिष्कार नहीं है जो जनता की आम बोल चाल के शब्द बन गए हैं।

उनके युग में भाषा सम्बन्धी विवाद दो धाराओं में चल रहा था—'आमफ़हम' और खास पसन्द हिन्दी का, जिसके नेता थे राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और संस्कृत से विकसित शुद्ध संस्कृतनिष्ट हिन्दी का जिसका नेतृत्व कर रहे थे भारतेन्दु। 'शुद्ध हिन्दी' और 'संस्कृत निष्ट' से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे 'रघुवीरी हिन्दी' के पक्षधर थे। नहीं! शुद्ध हिन्दी से उनका अभिप्राय कैसी हिन्दी से था यह उनके 'हिन्दी भाषा' नामक लेख से स्पष्ट हो जाता है। उस लेख में उन्होंने छः प्रकार की हिन्दी के उदाहरण देकर जिसे अपनाने के लिए अपनी राय प्रगट की वह यह हिन्दी है—"सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया। पुल टूट गए, बाँध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई···।

"पर मेरे प्रियतम घर न आए, क्या उस देश में बरसाक नहीं होती या किसी सौत के फन्द में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए······।"

इस प्रकार की हिन्दी जो अपढ़ भी सुनकर समझ सके, पर जिसमें गवांरूपन की कुघड़ता न हो वरन् एक प्रवाह हो, और जो भाव व्यंजना में

सक्षम हो, ही भारतेन्दु की हिन्दी थी; जिसके दर्शन हमें उनके सभी निबन्धों में सामान्यतः हो जाते हैं।

भाषा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था, यह तथ्य उनके निबन्धों से सहज ही स्पष्ट हो जाता है। वे निरन्तर अन्य भाषाओं से शब्दों का ग्रहण कर हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति के सम्वर्धन के पक्षपाती थे और स्वयं इसमें उन्होंने पहल की थी।

किन्तु अध्ययन की दृष्टि से हम उनके निबन्धों की भाषा के तीन वर्ग कर सकते हैं—(i) संस्कृत गर्भित, (ii) चलती हुई भाषा, (iii) बोल चाल की भाषा। सामान्यतः उन्होंने चलताऊ भाषा जो सरल सुबोध और मुहाविरेदार है, को ही अपने निबन्धों की भाषा बनाया है। ऐसी भाषा में ही उनकी सजावट और भाषा पर उनका अधिकार दीख पड़ता है। ऐसी ही भाषा में उनके व्यंगों की तीखी चुटकियों की तिलमिलाहट है। शेष दोनों प्रकार की भाषाओं का प्रयोग भाव, विषय और पात्र की अनुरूपता के अनुसार हुआ है। बोझिल पंडिताऊ पूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने बोझिल संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग किया है और प्रसंग में यदि कहीं कोई ग्रामीण पात्र है तो वह अपनी बोली बोलता है। यहाँ हम उनका उदाहरण देकर लेख को व्यर्थ का विस्तार नहीं देना चाहते क्योंकि हम आगामी लेखों में जो उद्धरण प्रस्तुत करेंगे वे स्वयं ही इस तथ्य को स्पष्ट कर देंगे और भारतेन्दु की भाषा के विभिन्न रूप प्रगट हो जायेंगे।

मुहाविरेदानी और प्रवाह शीलता उनकी भाषा की दो अनुपम विशेषताएँ हैं जो अपना सानी नहीं रखतीं।

अनूठे प्रयोगों के कुछ उदाहरण देखिए—'इस धूम धाम में भी रेल कृष्णाभिसारिका सी अपनी धुन में चली ही जाती थी।' 'निद्रा बधू का संयोग भाग्य में न लिखा था, न हुआ', 'गाड़ी भी ऐसी टूटी फूटी कि जैसे हिन्दुओं कि किस्मत और हिम्मत,'······महानदियों ने मर्यादा ऐसी भंग कर दी और स्वतन्त्रता स्त्रियों की भाँति उमड़ चली,' 'हमारे हिन्दुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी हैं।' ये प्रयोग निहित भावों को सहज ही बोध गम्य बना देते हैं, और साथ में एक निखार और कलात्मक सौष्ठव पैदा कर देते हैं।

उनकी भाषा में मुहाविरेदानी, सुनने वाले या पढ़ने वाले के हृदय को

बाँध रखने की शक्ति, रोचकता, प्रवाहशीलता और बात को दिल में बैठा देने की शक्ति थी—

"हमारे हिन्दुस्तानी लोग तो रेल गाड़ी हैं। यद्यपि फर्स्ट क्लास, सेकेण्ड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी अच्छी और बड़े बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी हैं पर बिना इंजिन सब नहीं चल सकतीं वैसे ही हिन्दुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो क्या नहीं कर सकते। इनसे इतना कह दीजिए "का चुप साधि रहा बलवाना" फिर देखिए हनुमानजी को अपना बल कैसा याद आता है। सो बल कौन याद दिलावै। हिन्दुस्तानी राजे महाराजे नवाब रईस या हाकिम! राज महाराजों को अपनी पूजा, भोजन, झूठी गप से छुट्टी नहीं। हाकिमों को कुछ तो सरकारी काम घेरे रहता कुछ बाल, घुड़दौड़, थियेटर में समय गया कुछ समय बचा भी तो उनको क्या गरज है कि हम गरीब गन्दे काले आदमियों से मिलकर अपना अनमोल समय खोवैं। बस वही मसल है—

"तुम्हें ग़ैरों से कब फ़ुरसत हम अपने ग़म से कब खाली।
चलो बस हो चुका मिलना न हम खाखी न तुम खाली।"

'तीन मेढक एक के ऊपर एक बैठे थे। ऊपर वाले ने कहा जौक शौक बीच वाला बोला गम सम सब के नीचे वाले ने पुकारा गए हम। सो हिन्दुस्तान की प्रजा की दशा यही है गए हम।'

भारतेन्दु की भाषा गद्य के विकासारम्भ की भाषा थी। अस्तु उसमें दोष भी बहुत हैं। शब्दों के प्रयोगों, वाक्य गठन तथा विरामादि चिह्नों के दोष तो प्रायः कुछ न कुछ प्रत्येक निबन्ध में मिल जायंगे। पर यह दोष क्षम्य हैं, क्योंकि उस समय 'नये चाल की हिन्दी' ढल रही थी। हमें उनके निबन्धों में कुछ ऐसे गठे और मजे हुए वाक्य भी मिल जाते हैं जैसे आज की विकसित हिन्दी में देखने को मिलते हैं।

भारतेन्दु सब आग्रहों और संकोचों को दूर हटा कर पाठक से आत्मीयता स्थापित कर निबन्ध लिखते थे; तभी उनके निबन्धों की भाषा में एक स्वच्छन्दता और निःसंकोचता के दर्शन होते हैं।

शैली :—निबन्ध लेखन कला का प्रादुर्भाव उस समय हो ही रहा था। निबन्धों की विभिन्न शैलियों की परम्परा अभी विकसित नहीं हो पाई थी। भारतेन्दु के निबन्धों में हम अनेक प्रकार की शैलियों के प्रथम बार दर्शन करते हैं। यदि यह कहा जाय कि प्रथम बार भारतेन्दु ने अपने निबन्धों के

द्वारा निबन्ध लेखन की शैलियों की परम्परा का सूत्रपात किया था, तो कोई अतिरंजना न होगी। उन्होंने विविध विषयों पर विविध प्रकार की शैलियों में निबन्ध लिखे थे किन्तु उनकी समस्त शैलियों में जो सबसे विशेष बात यह है कि उन्होंने ऐसी शैलियों को रूप दिया जिनके द्वारा वे सब प्रकार के प्रतिबन्धों और संकोचों के आग्रह से मुक्त होकर मुक्त भाव से हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति कर सकें और पाठक के हृदय से निकटता स्थापित कर सकें। निबन्धों में लेखक पाठकों से एक प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करता है। भारतेन्दु के निबन्धों की यही विशेषता है जिसने उनकी विविध शैलियों को जन्म दिया है। हम अपने गत लेख में यह कह आए हैं कि उनके निबन्धों का जन्म सामायिक परिस्थतिजन्य आवश्यकताओ में जनता के मार्ग-प्रदर्शन की दृष्टि से हुआ था। केवल निबन्ध लिखने के लिए ही उन्होंने निबन्ध शैली का सूत्रपात नहीं किया था। इस से उनकी निबन्ध शैलियों में भाषा के चलताऊपन, सजीवता और व्यंग प्रधानता के साथ उद्देश्य की गम्भीरता है। उन्होंने व्यङ्गों, मुहाविरों और वक्रताओं का प्रयोग केवल चमत्कार के लिए नहीं किया था; वरन उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति का सशक्त साधन बनाया था।

उनके निबन्धों में हमें सामान्यतः निम्न प्रकार की शैलियाँ देखने को मिलती हैं—

१—गवेषणात्मक शैली, जो प्रायः ऐतिहासिक निबन्धों की शैली है।

२—वर्णनात्मक शैली, जो उनके 'ग्रीष्मऋतु' आदि निबन्धों की शैली है।

३—डायरी शैली, जिसमें उन्होंने अपने यात्रा सम्बन्धी निबन्ध लिखे हैं।

४—पत्र शैली, जैसे 'हरिद्वार की यात्रा'

५—स्तोत्र शैली; जिसमें कंकड स्तोत्र आदि स्तोत्र सम्बन्धी निबन्ध लिखे हैं।

६—स्वगत कथन की नाटकीय शैली, जिसमें 'पाँचवें पैगम्बर' नामक निबन्ध लिखा गया है।

७—कथा शैली, जिसमें 'स्वर्ग में विचार सभा' आदि कथात्मक लेख लिखे गए हैं।

८—स्केच शैली, जिसमें 'लेबी प्राण लेवी' लेख लिखा गया है।

९—वार्तालाप शैली, जिसमें 'जाति विवेकिनी सभा' और 'सबै जाति

गोपाल की' लेख लिखे गए हैं।

१०--जीवनी शैली, जिसमें महापुरुषों के जीवन चरित लिखे गए हैं।

११—आत्मकथात्मक या कहानी शैली, जिसमें 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' लिखी गई है।

१२—साहित्यिक निबन्धों की शैली को साहित्य विवेचन की शैली का नाम दिया जा सकता है।

इस प्रकार भारतेन्दु ने अपने निबन्धों के द्वारा अनेक शैलियों की परम्परा का सूत्रपात कर दिया था। इन शैलियों ने भारतेन्दु युग के निबन्ध-साहित्य को तो प्रभावित किया ही था; आगे के निबन्धकारों को भी प्रभावित किया है। भारतेन्दु युग के निबन्धकार तो विषय तथा भाषा शैली दोनों ही दृष्टियों से भारतेन्दु के ऋणी थे, और उनके लिए भारतेन्दु के निबन्ध नेतृत्व का काम करते थे। भारतेन्दु युग के बाद निबन्धों पर बौद्धिकता का आरोप अधिक हो गया और उनसे वह जिन्दा दिली और व्यंगशीलता जाती रही, जो भारतेन्दु और उनके युग की विशेषता थी; फिर भी शैलियों का आगे के निबन्ध साहित्य में पर्याप्त अनुकरण हुआ था। आज भी जन-जीवन के अनेक प्रस्तुत प्रश्नों और सामायिक समस्याओं पर सजीव व्यङ्गपूर्ण शिक्षाप्रद लेखों की आवश्यकता है जैसे भारतेन्दु के समय में थी, और भारतेन्दु के निबन्धों की शैली और उनके चुभते व्यङ्ग आज भी अनुकरणीय महत्व रखते हैं।

ऐतिहासिक निबन्ध

——::०::——

भारत में इतिहास लेखन की परम्परा प्रायः नहीं थी। यदि किसी समय किसी राजा या उसके महान् कृत्यों अथवा समय की परिस्थितियों का वृत्त लिखा भी जाता था तो वह एक गाथा बनकर पुराण का रूप धारण कर लेता था और तब वह इतिहास न बनकर एक धर्म ग्रन्थ बन जाता था। हमारा प्राचीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में ही मिलता है। इनके अतिरिक्त हमारा प्राचीन इतिहास विदेशी यात्रियों या विदेशी आक्रमणकारियों के साथ आए इतिहासकारों के ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है।

हिन्दी का आरम्भिक रूप पद्य का था; इसलिये हिन्दी में तो धार्मिक पुस्तकों के रूप में भी इतिहास की सामिग्री नहीं मिलती। १९ वीं सदी में जब गद्य का जन्म हुआ और अंग्रेजों ने शिक्षा के लिये स्कूल आदि की स्थापना की तो स्कूलों में इतिहास पढ़ाने के लिये दो तीन पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ था।

सर्व प्रथम स्वतन्त्र रूप से इतिहास लिखने और इतिहास संबंधी खोज करने का सूत्रपात भी भारतेन्दु ने ही किया। अपने देश की उन्नति के लिये अपने प्राचीन गौरव की परम्परा तथा पतन का इतिहास जानना कितना आवश्यक है, इसे भारतेन्दु ने समझा था और अपने अति व्यस्त जीवन में इतिहास लिखने का अवसर भी उन्होंने निकाला और इतिहास की अनेक निबन्धाकार पुस्तकें और इतिहास सम्बन्धी खोजें भी कीं। इस प्रकार उन्हें हिन्दी के प्रथम इतिहासकार होने का भी श्रेय है।

इन्होंने इतिहास की लगभग एक दर्जन निबन्धाकार पुस्तकें लिखी हैं। इनके युग में इतिहास लेखकों की एक बाढ़ सी आई और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डा० राजेन्द्रलाल आदि अनेक इतिहासकार उस काल में हुए। ये इतिहासकार भारतेन्दु के इतिहास ज्ञान से इतने अधिक प्रभावित थे कि अनेक ऐतिहासिक विषयों में उनसे परामर्श किया करते थे। रॉयल एशिया-

टिक सोसाइटी तथा अनेक पत्र पत्रिकाओं में इनके इतिहास सम्बन्धी लेख प्रकाशित हुआ करते थे। जिन्हें विद्वान मण्डली समादर की दृष्टि से देखती थी।

इनके ऐतिहासिक निबन्धों में हम निम्न निबन्धों की गणना कर संकेत है—

१—काश्मीर कुसुम
२—महाराष्ट्र देश का इतिहास
३—रामायण का समय
४—अग्रवालों की उत्पत्ति
५—खत्रियों की उत्पत्ति
६—बादशाह दर्पण
७—बूँदी का राजवंश
८—उदय पुरोदय
९—पुरावृत्त संग्रह
१०—चरितावली
११—पंचपवित्रात्मा
१२—दिल्ली दर्बार दर्पण
१३—काल चक्र
१४—अकबर और औरङ्गजेब
१५—मणिकर्णिका और काशी

काश्मीर कुसुम :—इस पुस्तक में काश्मीर राज्य का संक्षिप्त इतिहास है। राजाओं की वंशावली है। हर्ष के विषय में भी इसमें कुछ प्रकाश डाला गया है। तथा कल्हण कृत 'राजतरंगिणि' की संक्षिप्त समीक्षा भी इसमें की गई है।+ "इस ग्रन्थ के लिखने में भारतेन्दु जी ने बहुत मनन पथा परिश्रम किया था और इसी से यह ग्रन्थ उन्हें विशेष प्रिय था।"

महाराष्ट्र देश का इतिहास—यह १० पृष्ठों का एक विस्तृत निबन्ध ही है। इसके दो भाग हैं। पहले भाग में शिवाजी और दूसरे में पेशवाओं का वृतान्त है।

रामायण का समय—यह भी एक विस्तृत निबन्ध जैसा ही है। इसमें रामायण के समय की पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजों का कुछ वर्णन है जिन्हें

+ 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' बाबू ब्रजरत्नदास पृ० १९६

विदेशी अपनी बताकर नई वस्तुएँ बताते हैं। उनको वाल्मीकि रामायण के समय का सिद्ध किया गया है। जैसे शिंशिपा को लोग शीशम कहते हैं, किंतु भारतेन्दु ने सिद्ध किया कि यह शरीफे का पेड़ है जो अशोक बाटिका में भी था, इसीसे इसे कहीं-कहीं सीताफल भी कहते हैं।

अग्रवालों की उत्पत्ति—इसमें अग्रवालों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण दिये गये हैं।

खत्रियों की उत्पत्ति—इसमें भी उपरोक्त पुस्तक की तरह खत्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने मत का प्रकाशन हुआ है।

बादशाह दर्पण—इस पुस्तक में मोहम्मद साहब के जन्म से लेकर भारत पर मुसलमानी आक्रमण, भारत में उनके राज्य और अँग्रेजों द्वारा हराये जाने पर उनके राज्य के समाप्त हो जाने तक का विस्तृत वृत्तान्त है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में भारतेन्दु ने स्वयं इसकी भूमिका में लिखा था—"इस ग्रन्थ में तो केवल उन्हीं लोगों का चरित्र है जिन लोगों ने हमको गुलाम बनाना आरम्भ किया। इसमें उन मस्त हाथियों के छोटे-छोटे चित्र हैं जिन्होंने भारत के लहलहाते कमल-वन को उजाड़कर पैरों से कुचलकर छिन्न-भिन्न कर दिया।" इस पुस्तक में मुसलमानी बादशाहों की विस्तृत वंशावली उनके कृत्यों का संक्षिप्त विवरण तथा अनेकों के आज्ञापत्र की प्रतिलिपियाँ भी उद्धृत हैं।

बूँदी का राजवंश—यह भी एक विस्तृत निबन्ध ही है। इसमें हाड़ा वंश तथा कोटा की शाखा की वंशावली दी गई है।

उदयपुरोदय—इसका निर्माण 'टाड' कृत 'राजस्थान' और 'फरिश्ता' के फारसी इतिहास ग्रन्थों की सामिग्री के आधार पर हुआ है। इसमें मेवाड़ राज्य के प्राचीन गौरव परम्परा का इतिहास है।

पुरावृत्त संग्रह—इस पुस्तक में प्राचीन तथा मध्य कालीन प्रशस्तियों, दानपत्र, शिलालेख आदि की मूल प्रतियाँ तथा उनके अनुवाद भी संग्रहीत हैं।

चरितावली—इस पुस्तक में विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदेवाचार्य, सूरदास, सुकरात, नैपोलियन, जंगबहादुर, द्वारिकानाथ जज, राजाराम शास्त्री, लॉर्ड मेयो, लॉर्ड लोरेंस और ज़ार अलैक्जेन्डर द्वितीय की जीवनियाँ हैं। इस पुस्तक के अन्त में फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम तथा नैपोलियन तृतीय, जर्मनी के राजा चार्ल्स पंचम तथा फ्रैडरिक विलियम,

मल्हारराव, टीपू सुल्तान, सिकन्दर और रावण की आठ कुण्डलियाँ भी संग्रहीत हैं।

पंच पवित्रात्मा—इस पुस्तक में इस्लामधर्म के आदि प्रवर्तक मुहम्मद साहब तथा अन्य धार्मिक प्रवर्तकों—अली, बीबी फातमा, इमाम हसन, इमाम हुसैन की जीवनियाँ हैं और अन्त में मोहम्मद साहब से लेकर ग़ौस आज़म तक इक्कीस इमामों का संक्षिप्त जीवन वृत्तांत दिया गया है।

दिल्ली दरबार दर्पण—इसमें सन् १८७७ ई० में हुए दिल्ली दरबार का विस्तृत वर्णन है। यह दिल्ली दरबार सम्राज्ञी विक्टोरिया के भारत-सम्राज्ञी पद धारण करने के उपलक्ष में हुआ था।

कालचक्र---इस खोजपूर्ण पुस्तक में विशेष खोज के आधार पर सृष्टि के आदि से लेकर १८८४ तक की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं का विवरण है।

अकबर और औरंगजेब -इस लेख में भारतेन्दु ने दोनों मुगल शासकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इतिहास में एक ही वंश के ये दोनों मुगल शासक दो विरोधी चरित्रों के व्यक्ति रहे हैं और उनके जीवन के अध्ययन की ओर अनेक इतिहासकार आकर्षित हुए है। 'बादशाह दर्पण' नामक अपने ऐतिहासिक लेख में औरंगज़ेब और अकबर के सम्बन्ध में भारतेन्दु प्रकाश डाल आए थे पर बाद में इन्हें जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह का औरंगजेब के नाम एक पत्र मिला, उसी के आधार पर यह तुलनात्मक लेख प्रस्तुत किया गया है। यह पत्र औरंगजेब कालीन देश की दशा तथा औरंगजेब के राज्य की स्थिति पर और उसकी राजनीति पर खासा प्रकाश डालता है।

मणिकर्णिका और काशी--काशी में मणिकर्णिका नामक एक घाट है इन दोनों लेखों में मणिकर्णिका और काशी के ऐतिहासिक विकास का वर्णन है। अपने वर्णन को उन्होने ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यों से पुष्ट किया है। इस लेख में मणिकर्णिका तथा काशी के प्रति भक्ति पूर्ण श्रद्धा की दृष्टि लेखक की नहीं हैं वरन् लेखक ने निष्पक्ष भाव से ठोस तथ्यों के आधार पर आलोचनात्मक दृष्टि से उनका विवरण प्रस्तुत किया है।

सांस्कृतिक निबन्ध

— ❀ —

सास्कृतिक चेतना तो प्रायः सभी निबन्धों में व्याप्त है, किन्तु अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम निम्न निबन्धों का अध्ययन कर सकते हैं—

१. तदीय सर्वस्व (उपक्रम)

२. वैष्णवता।

३. भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है।

४. ईशू खृष्ट और ईश कृष्ण।

इन निबन्धों में हम सांस्कृतिक रूढ़ियों और उनके समाजगत कुप्रभावों का दो टूक लेखा जोखा है और इनमें भारतेन्दु के विचारों की स्पष्ट झलक मिलती है। जनता के सांस्कृतिक परिष्कार का इन निबन्धों में बड़ा योग रहा है।

तदीय सर्वस्व—हमारा धर्म छुई-मुई का पेड़ होगया था जो परछायीं मात्र से नष्ट हो जाता था। भारतीय धर्म में अनेक धर्मों को अन्तभुक्त करने की कितनी महान क्षमता थी, इतिहास इसका साक्षी हैं पर आज वही "हमारा धर्म ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वा एक चुल्लु पानी से मर जाता है। कच्चे गले सड़े सूत वा चिउँटी की दशा हमारे धर्म की होगई है। हाय !!!"

"कर्मानुष्ठान" में, धर्मों में "वाह्यवेष, वाह्याडम्बर, आचार विचार, पर निन्दादि आग्रह" का इस रूप में समावेश हो गया था कि धर्म की सात्विकता नष्ट हो गई थी। भारतेन्दु ने इस में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—

"... निश्चय रखें कि परमेश्वर के पाने का पथ केवल प्रेम है। और बातें चाहे धर्म की हों या लोक की, दोनों बेड़ी ही है। बिना शुद्ध प्रेम न लोक है न परलोक। जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति या कुटुम्ब से तुम्हारा सम्बन्ध है और जिस देश में तुम हो उससे सहज सरल

प्रेम करो, अपने परम पिता परम गुरु परम पूज्य परमात्मा प्रियतम को केवल प्रेम में ढूंढ़ो। बस और कोई साधन नहीं है।"

व्यक्तिगत स्वार्थ की संकुचित सीमा से ऊपर उठा हुआ देश, जाति और कुटुम्ब प्रेम का सन्देश कितना व्यापक है! यह सन्देश मनुष्य की भावनाओं को उदात्त बनाने वाला है।

इस छोटी सी भूमिका में भी भाषा को वे नहीं भूले हैं। एक वाक्य में ही उन्होंने कहा है—

"हम आर्य लोगों में धर्म तत्व के मूल ग्रन्थों का भाषा में प्रचार नहीं। यही कारण है कि भिन्नता स्थान स्थान पर फैली हुई है।" यहाँ 'भाषा' से तात्पर्य है जन सुबोध सर्वसाधारण की भाषा।

इस निबन्ध की शैली सीधी है। बात को घुमा फिराकर कहना उन्हें नहीं आता था। सीधी दो टूक बात कहना ही वे ठीक समझते थे। अपनी बात उन्होंने सीधी सरल, सहज भाषा में स्पष्ट कर दी है।

वैष्णवता और भारतवर्ष—यह निबन्ध गम्भीर विचारों की भित्ती पर आधारित है और उन्होने अनेक उद्धरणों से अपने तर्कों की पुष्टि की है जिससे प्रकट होता है कि पर्याप्त अध्ययन से उन्होंने इस लेख को लिखा था। इस लेख में उन्होंने वैष्णव धर्म को ही भारतवर्ष का आधार भूत धर्म माना है, और उसे अनेक तर्कों से पुष्ट किया है। वही धर्म हीन होकर नाना मत मतान्तरों में बँट गया है इससे ही सारी उलझनें पैदा हो गई हैं। धार्मिक पतन के साथ साथ भारतेन्दु ने इस निबन्ध में तत्कालीन दुरवस्था, अंग्रेजी पराधीनता, और उससे उत्पन्न दरिद्रता, विचारों की संकीर्णता आदि विचारों पर भी तीखे व्यंगों के द्वारा प्रकाश डाला है और नयी दिशा का निर्देश किया है। इस लेख के अन्त में वे कहते हैं।

"जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है, उस भाव से आगे नहीं चलेगा। हम लोगों के शरीर का बल अब न्यून होगया है, विदेशी शिक्षाओं से मनोवृत्ति बदल गई, जीविका और धन उपार्जन के हेतु अब हम लोगों को पाँच पाँच छः छः पहर पसीना चुआना पड़ेगा, रेल पर इधर से उधर कलकत्ते से लाहौर और बम्बई से शिमला दौड़ना पड़ेगा, सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का, इन्जीनियरी का इम्तहान देने को विलायत जाना होगा, बिना यह सब किए काम नहीं चलैगा, क्योंकि देखिए क्रस्तान, मुसलमान, पारसी यही हाकिम हुए जाते हैं, हम लोगों की दशा दिन-दिन दीन हुई जाती है।

जब पेट भर खाने को न मिलैगा तो धर्म कहाँ बाकी रहैगा, इससे जीवमात्र के सहज धर्म उदरपूर्ण पर ध्यान दीजिए। परस्पर का बैर छोड़िए, शैव, सिक्ख जो हो सब से मिलो। उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्य क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं। वैष्णव, शैव, ब्राह्मण, आर्य समाजी सब अलग-अलग पतली डोरी हो रहे हैं, इसीसे ऐश्वर्य रूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरी को एक में बाँधकर मोटा रस्सा बनाओ तब यह हाथी दिगदिगन्त में भागने से रुकेगा अर्थात् अब वह काल नहीं कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाया करैं। अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अँग्रेजों से जो नौकरी बच जाती हैं, उन पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी ही नहीं केवल नौकरी की थी, सो भी धीरे-धीरे खिसकी, तो अब कैसे काम चलेगा। कदाचित ब्राह्मण और गोसाईं लोग कहैं कि हमको तो मुफ्त का मिलता है, हम को क्या? इस पर हम कहते हैं कि विशेष उन्हीं को रोना है। जो कराल काल चला आता है उसको आँख खोलकर देखो। कुछ दिन पीछे आप लोगों के मानने वाले बहुत ही थोड़े रहेंगे, अब सब लोग एकत्र हो। हिन्दू नामधारी वेद से लेकर तंत्र, वरंच भाषा ग्रन्थ मानने वाले तक सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रक्खो कि आर्य जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है।"

इस उद्धरण में कितनी सरलता से तत्कालीन धार्मिक राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक यथार्थ के प्रकाश में भावी की चेतावनी और नया भविष्यानुरूप सन्देश दिया गया है। कुछ विद्वान इसमें साम्प्रदायिकता की बू पा सकते हैं। इसमें सन्देह नही कि भारतेन्दु का दृष्टिकोण अनेकाँश में हिन्दू हित की सीमा से बंधा था, पर यह नहीं कि वे मुसलमानों के गुणों के प्रशंसक नहीं थे और उन्हें विदेशी मानते थे। उन्होंने मुसलमानों को भी सब के साथ मिलकर देशहित करने का और अपना विकास करने का सन्देश दिया है। उस युग की चेतना को देखते हुए हमें भारतेन्दु के विचारों की जाँच-परताल करनी चाहिए। इस दृष्टि से युग चेतना को देखते हुए भारतेन्दु के ये संकुचित बिचार क्षम्य हैं पर हैं वे संकीर्ण और संकुचित ही इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता।

इस निबन्ध की शैली और भाषा भी सीधी और सरल है। अपनी बात

को उन्होंने कितनी दृढ़ता, सरलता और किस स्पष्टता के साथ रखा है कि वह सीधी हृदय में घुसती है। भाषा में प्रवाह है और ओज भी है।

भारतवर्षोन्नति केसे हो सकती है—यह उनका एक व्याख्यान है जो उन्होंने बलिया में ददरी के मेले के समय आर्य देशोपकारिणी सभा में दिया था। और जो बाद में ज्यों का त्यों 'नवोदित हरिश्चन्द्रचंद्रिका' में तीन दिसम्बर १८८५ के ११ वें अङ्क में प्रकाशित हुआ था। इससे तत्कालीन स्थिति का सुन्दर यथार्थ चित्रण है, और तीखे व्यंग हैं। साथ ही भारत के प्राचीन ज्ञान-गौरव की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित कर उन्हें अपनी दशा के प्रति सचेत किया गया है और उन्हें देशोन्नति का मार्ग दिखाया गया है।

राजा और ब्राह्मणों को धिक्कारते हुए भारतेन्दु कहते हैं—"पहले भी जब आर्य लोग हिन्दुस्तान में आकर बसे थे राजा और ब्राह्मणों के जिम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावें .... पर इन्हीं लोगों को निकम्मेपन ने घेर रक्खा है।.... हम नही समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जब कि इनके पुरुखों के पास कोई भी सामान नहीं था उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ कर बाँस की नलियों से जोताराग्रह आदि बेधकर उनकी गति लिखी है वह ऐसी टीक है कि सोलह लाख रुपये की लागत की विलायत में जो दुरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को वेध करने में भी वही गति टीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंग्रेजी विद्या से और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यन्त्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी की कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं।..."

जनता को उसकी अवनत दशा के प्रति सचेत करते हुए जोरदार शब्दों में वे कहते हैं—

"....हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहां तक शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे उसी तरह इस समय जो जो बातें तम्हारे उन्नति पथ का काँटा हों उनकी जड़ खोद कर फ़ेंक दो।"

इसी निबन्ध में भारतीय त्योहारों की सामाजिकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

"...होली इसी हेतु है कि बसन्त की बिगड़ी हवा स्थान स्थान पर अग्नि बलने से स्वच्छ हो जाय। यही तिहवार तुम्हारी म्यूनिसिपिल्टी है। ऐसे ही

सब पर्व सब तीर्थ व्रत आदि में कोई हिकमत है।"

बिधवाओं और बाल-विवाहों के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

"···बहुत सी बातें जो समाज विरुद्ध मानी जाती हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटे पन ही में ब्याह करके उनका बल वीरज आयुष्य सब मत घटाइये। आप उनके माँ बाप हैं या शत्रु हैं ? वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए, नोन तेल लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए तब उसका पैर काठ में डालिए।····"

स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में कहते हैं—

"लड़कियों को भी पढ़ाइए, किन्तु इस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं, जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखैं, पति की भक्ति करै और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।"

जाति और धर्मों की एकता के सम्बन्ध में कहते हैं—

"वैष्णव शाक्त इत्यादि नाना प्रकार के मत के लोग आपस का बैर छोड़ दें। यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए। जाति में कोई चाहे ऊँचा हो या नीचा हो, सबका आदर कीजिए जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिये। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िये।···मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भाँति हिन्दुओं से बरताव करें। ऐसी बात जो हिन्दुओं का जी दुखाने वाली हो न करें।···जो बात हिन्दुओं को नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उनमें जाति नहीं, खाने-पीने में चौका-चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोकटोक नहीं। फिर भी बड़े ही सोच की बात है कि मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी। अभी तक बहुतों को यही ज्ञात है कि दिल्ली, लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो वे दिन गये। अब आलस, हठधर्मी यह सब छोड़ो। चलो हिन्दुओं के साथ तुम भी दौड़ो। एक-एक दो होंगे।"····

इस उद्धरण से मुसलमानों के प्रति उनके विचार स्पष्ट हो जाते हैं। उनमें साम्प्रदायिकता का लेश भी न था। वे मुसलमानों को भी इसी देश का

वासी अपना भाई ही समझते थे। हिन्दू मुसलमानों का मतभेद उनके लिए वैसा ही था जैसा अनेक हिन्दू धर्मों का परस्पर मतभेद और वे उस खाई को पाटने के हर सम्भव अवसर और उपाय का उपयोग करते थे। इससे यह भी प्रकट है कि उनके विचार कितने-उदार और व्यापक थे।

देश की आर्थिक व्यवस्था पर उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं—

"···वजीफा और नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मेहनत करने की आदत दिलाओ।···· बंगाली, मरहठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मण, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़े, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैंड, फ्रांसीस, जर्मनी, अमरीका को जाती है। दियासलाई जैसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमरीका की बनी है। जिस लंकलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंगलैंड का है। फ्रांस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो, और जर्मनी की बनी चर्बी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है। यह तो वह मसल हुई एक बेफिकरे मंगनी का कपड़ा पहिनकर किसी महफिल में गए। कपड़े को पहचानकर एक ने कहा अजी अंगा तो फलाने का है, दूसरा बोला अजी टोपी भी फलाने की है तो उन्होंने हँसकर जवाब दिया घर की तो मूँछें ही मूँछें हैं। हाय अफसोस ऐसे हो गए कि अपने निज की काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयो अब तो नींद से चौंको। अपने देश की सब प्रकार से उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रक्खो। अपने देश में भाषा की उन्नति करो।"

उपरोक्त विचार स्वयं ही भारतेन्दु के विचारों की व्यापकता, प्रगतिशीलता और उनकी देशभक्ति के परिचायक हैं। उन्होंने जो-जो मार्ग देशोन्नति के बताये वे ही आगे चलकर हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल नारे बने। इससे स्पष्ट है कि उनमें सामयिक परिस्थितियों के बीच दूर की बात सोचने की कितनी दूरदर्शिता थी। जनता को अपनी बात समझाने के ढङ्ग में कितनी आत्मीयता और आत्मविश्वास था यह भी इससे प्रकट होता है। भाषा अत्यन्त सजीव, व्यंगपूर्ण, सरल और मर्म को स्पर्श करने वाली है। तर्कों की

जिन्दादिली उनकी अपनी विशेषता थी।

ईशुरवृष्ट और ईशकृष्ण—यह लेख विचारपूर्ण एवं खोजपूर्ण है। प्राचीन समय में अनेक विदेशी सभ्यताएँ अनेक रूपों में हमारी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुई थीं। इस निबन्ध में अन्य संस्कृतियों के साथ भारतीय संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और खोजपूर्ण उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि वे संस्कृतियाँ हमारी प्राचीन संस्कृति से पृथक नहीं है वरन् एक ही मूल स्रोत से निकली हैं और विभिन्न परिस्थितियों में पृथक-पृथक रूप से विकसित हो गई हैं। अनेक विदेशी धर्मों की मान्यताओं, देवी देवताओं के समानान्तर उदाहरण भारतीय शास्त्रों एवं देवी-देवताओं में खोजकर उन्होंने अपने तर्कों के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। जैसे—

"मिनर्वा नाम्ना योरप की प्राचीन देवी हम लोगों की भगवती दुर्गा हैं। मिनर्वा इन्द्र के कन्धों से प्रकटी है यहाँ भी दुर्गा देवताओं के अंश (अंश कन्धे को भी कहते हैं) से प्रादुर्भूत हुई हैं।..."

"अब अपेल्ली को लीजिए। यह हिन्दुओं के श्रीकृष्ण का चित्र है। इसका सूर्य में निवास है और यहाँ भी नारायण का सूर्य में निवास है। इस नाम के चार देवता थे और यहाँ भी श्रीकृष्ण के चार व्यूह हैं। उसने पाइथन नामक सर्प को मारा और यहाँ भी कालिया दमन हुआ।"

"वैसे ही जुपिटर इन्द्र हैं। और इन दोनों को देवराजत्व प्राप्त है। वहाँ इसको अपने भाई टिटन्स का बड़ा डर था यहाँ हिरण्यकशिपु का। इन्द्र भी बड़ा लम्पट था और जुपिटर भी।..."

इन सांस्कृतिक निबन्धों की सामान्य विशेषताएँ हैं—

१—देशवासियों के सम्मुख प्राचीन स्वस्थ सांस्कृतिक गौरव को प्रस्तुत करना।

२—प्राचीन रूढ़ियों और कुरीतियों से जनता को सचेत करना।

३—प्राचीन स्वस्थ अस्वस्थ का निर्देश कर तत्कालीन परिस्थितियों की अनुरूपता में उनके ग्रहण का निर्देश करना।

४—विदेशी सभ्यता और संस्कृति के कुप्रभावों से जनता को सजग करना और राष्ट्रीय स्वाभिमान का भाव जागृत करना।

५—देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक यथार्थ दुरवस्था का सही चित्र उपस्थित कर जनता को देशोन्नति के मार्ग पर अग्रसर करना और उसमें उसे नयी चेतना देना।

६—देश की विभिन्न जातियों एवं धर्मों में परस्पर एकत स्थापित करना ।

अस्तु इन निबन्धों की राष्ट्रीय चेतना के उन्मेष में बड़ी दैन औ महत्व है ।

—|*|*|—

यात्रा संबंधी निबंध

—S:*:S—

इस शीर्षक में हम भारतेन्दु के उन निबन्धों को ले सकते हैं जो उन्होंने अपनी यात्रा के समय उन-उन स्थानों के सम्बन्ध में लिखे हैं जहाँ-जहाँ वे गए थे। ये निबन्ध उनकी सूक्ष्म निरीक्षणी दृष्टि के परिचायक हैं। जहाँ कहीं वे गए हैं वहाँ की छोटी से छोटी बात पर भी उनकी दृष्टि गई और प्राकृतिक सौन्दर्य से लेकर रीति-रिवाज और खान-पान, बोल चाल तक सबका वर्णन उन्होंने अत्यन्त ही रोचक ढङ्ग से किया है। भारतेन्दु ने यात्राएँ बहुत की थीं और यात्राओं में अनुभव भी बहुत प्राप्त किया था। उस सब को समेटकर उन्होंने अपने इन निबन्धों में समो दिया है।

इन निबन्धों की भाषा ठेठ, चलताऊ और शुद्ध हिन्दी है पर संस्कृत के शब्दों से बोझिल नहीं। इन निबन्धों की भाषा से शब्द-चित्र उपस्थित करने की उनकी क्षमता प्रकट होती है। भाषा में अभिव्यक्ति की क्षमता है, सरलता है, मुहाविरेदानी है, प्रवाहशीलता है और व्यंग भी है।

इस शीर्षक में उनके निम्न यात्रा सम्बन्धी निबन्ध लिए जा सकते हैं—

१. सरयूपार की यात्रा
२. मेहदावल की यात्रा
३. लखनऊ की यात्रा
४. हरद्वार की यात्रा
५. वैद्यनाथ की यात्रा।

सरयूपार की यात्रा—यह निबन्ध डायरी शैली में लिखा गया है। भाषा में चित्रोपमता है। शाम को यात्री रात हो जाने के कारण एक गाँव में ठहर गए हैं उसका कितना सुन्दर और सजीव चित्र है—

"चूल्हे जल रहे हैं। सैकड़ों अहरे लगे हुए हैं, कोई गाता है, कोई बजाता है, कोई गप हाँकता है।"....

वहाँ के लोगों का कितना सजीव वर्णन निम्न पंक्तियों में किया है—

"....बैसवारे के पुरुष अभिमानी, रूखे और रसिकमन्य होते हैं।...

नई सभ्यता अभी इधर तक नहीं आई। रूप कुछ ऐसा नहीं, पर स्त्रियाँ नेत्र नचाने में बड़ी चतुर। यहाँ के पुरुषों की रसिकता, मोटी चाल, सुरती और खड़ी मोंछ में छिपी है और स्त्रियों की रसिकता मैले वस्त्र और सूप ऐसी नथ में। अयोध्या में प्रायः सभी स्त्रियों के गोल गाते हुए मिले। उनका गाना भी मोटी सी रसिकता का। मुझे तो उनके सब गीतों में 'बोलो प्यारी सखियाँ सीता राम राम राम' यही अच्छा मालूम हुआ।...."

बाजार और बनिया तक भी उनकी दृष्टि से नहीं बचे—

"यहाँ के बाजार का हम बनारस के किसी भी बाजार से मुकाबिला नहीं कर सकते। महज बहैसियत महाजन एक यहाँ है, वह टूटे खपड़े में बैठे थे। तारीफ यह सुना कि साल भर में दो बार कैद होते हैं, क्योंकि महाजन का जाल करना फर्ज है और उसको भी छिपाने का शऊर नहीं।..."

मेंहदावल—यह निबन्ध भी डायरी शैली में ही लिखा गया है। इससे इस स्थान के रहने वालों का स्वभाव, पहिनावा-उढ़ावा, बोलचाल, रहन-सहन, रीति-रिवाज, धार्मिक मान्यताओं आदि पर प्रकाश डाला गया है। जिससे वस्तुतः उस स्थान की संस्कृति का दिग्दर्शन हो जाता है। स्थान विशेष की संस्कृति में यहाँ तक गहरे गए हैं कि औरतों और मर्दों के नामों के आधारों तक पर भी प्रकाश डाला है।

"यहाँ की औरतों का नाम श्यामतोला, रामतोला, सामतोला, मनतोरा इत्यादि विचित्र-विचित्र होता है।"

धार्मिक पाखंड का हाल लिखा है—

"एक का बाप डूब कर मर गया। उसके बाप का पिण्डा इस मन्त्र से कराया गया 'आर गंगा पार गंगा बीच में पड़ गई रेत। तहाँ भर गए गाय का चले बुजबुजा देत। धर दे पिण्डवा।"

इस निबन्ध में मेंहदावल के धर्म तथा लोगों के रहन-सहन पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

भाषा अत्यन्त ही सरल है और चलताऊ शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे 'डाक्तरखाना'। भाषा में प्रवाह और मुहाविरेदानी है। इस लेख के अन्त में गोरखपुर निवास का वर्णन काव्य में किया गया है।

लखनऊ—यह निबन्ध पत्र शैली में लिखा गया है जो 'कविवचन-सुधा' के सम्पादक महोदय के नाम लिखा गया था। उसमें लखनऊ का वर्णन है

और यात्रा के मार्ग का भी वर्णन है। भाषा सरल और प्रवाहशील है। निबन्ध अत्यन्त ही सामान्य है।

हरिद्वार—यह निबन्ध भी पत्र शैली में ही लिखा गया है जो 'कवि-वचन सुधा' के सम्पादक महोदय के नाम से लिखा गया था। इसमें हरिद्वार की प्राकृतिक सुषमा और गंगा की नहर के उद्गम स्थान और ढङ्ग की विचित्रता का वर्णन है और कुछ नहीं। निबन्ध अत्यन्त ही सामान्य है। इसके दो खंड हैं। दूसरे खंड में वहाँ की धार्मिक दशा का वर्णन है और वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन है।

"····वर्षा के कारण सब ओर हरियाली ही दृष्टि पड़ती है। मानो हरे गलीचे की जात्रियों के विश्राम के हेतु बिछायत बिछी थी। एक ओर त्रिभुवन पावनी श्री गंगाजी की पवित्र धार बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता सी दीखती है जल यहाँ का अत्यन्त शीतल है। ··· जल के वेग का शब्द बहुत होता है और शीतल वायु नदी के उन पवित्र छोटे-छोटे कनों को लेकर स्पर्श ही से पावन करता हुआ संचार करता है। ···"

भाषा में माधुर्य है और चलताऊ शब्दों का प्रयोग है जैसे 'बिछायत', 'जल के छल के'।

वैद्यनाथ की यात्रा—यह निबन्ध भी डायरी शैली में लिखा गया है। इसमें मार्ग का सुन्दर व्यंगपूर्ण वर्णन है जो तत्कालीन रेल व्यवस्था तथा स्टेशनों का सजीव चित्र उपस्थित करता है। वैद्यनाथ के मन्दिर के इतिहास के साथ उसके शिल्प, उसकी धार्मिक मान्यता आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। इस निबन्ध की भाषा में भावाभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए अमूर्त उपमाओं का सुन्दर प्रयोग हुआ है जो व्यंजना द्वारा अपनी यथार्थता पर भी व्यंग करती हैं जैसे 'गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत।' यह वाक्य जहाँ रेल के टूटे-फूटे डिब्बों की बात को स्पष्ट करता है वहाँ हिन्दुओं की फूटी किस्मत अर्थात् बुरे दिनों की यथार्थता को भी व्यंजित कर देता है। इसी तरह 'परलोकगत सज्जनों की कीर्ति की भाँति सूर्यनारायण का प्रकाश पिशुन मेघों के बाघाडम्बर से घिरा हुआ दिखलाई पड़ने लगा।'

इस निबन्ध में प्राकृतिक चित्र बड़े ही सुन्दर बने हैं जिनके वर्णन में अलङ्कारिकता है—

"प्रकति का नाम काली से सरस्वती हुआ। ठण्डी-ठण्डी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी। दूर से धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहलापन आ चला। कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुईं और कहीं चारों ओर से उन पर जलधारापात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे।"

—:-※-:—

हास्य और व्यंग पूर्ण निबन्ध

— :*: —

इन निबन्धों में देश की कुरितियों, लोगों के अज्ञान, अन्धविश्वासों, अंग्रेजी सरकार और उसके कारण देश की दुरवस्था पर हास्य और व्यंग की शैली में तीखे व्यंग किए गए हैं। इन निबन्धों से भारतेन्दु के विनोदी स्वभाव का परिचय भी मिलता है। पर उनके विनोद में भी एक गम्भीरता है, उनके व्यंगों में भी गहराई है और सत्य है और हास्य में भी कटु यथार्थ है। इन निबन्धों की भाषा विषयानुकूल व्यंग प्रधान और हास्य पूर्ण है; पर उसमें हलकापन नहीं है; बल्कि एक चुभन है, जो हृदय के मर्म पर जाकर चुभती है। निबन्धों के व्यंग का उद्देश्य व्यापक और पवित्र है। प्रायः सभी निबन्धों के पीछे जनता को नई चेतना देने, उसका संस्कृतिक परिष्कार करने और उसके अज्ञान को दूर करने की महती भावना परिलक्षित होती है। भाषा में मुहाविरेदानी, जिन्दादिली, व्यंगशीलता, बाँकपन और प्रवाह शीलता एवं सरलता है। इन लेखों में उनके भाषाधिकार का पता चलता है।

इस स्तम्भ के निबन्धों में हम निम्न निबन्ध परिगणित कर सकते हैं:—

१. कंकड़ स्तोत्र
२. अंग्रेज स्तोत्र
३. मदिरा स्तोत्र
४. स्त्री सेवा पद्धति
५. पाँचवे पैगम्बर
६. स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन
७. लेवी प्राण लेवी
८. जाति विवेकनी सभा
९. सर्वे जाति गोपाल की
१०. अद्भुत स्वप्न

कंकड़ स्तोत्र—इस निबन्ध में काशी की म्यूनिसिपिल्टी की कुव्यवस्था पर व्यंग के छींटे हैं। यह निबन्ध कंकड़ को सशोधन करके लिखा गया है और उसकी महिमा के कल्पना द्वारा अनेक रूप उपस्थित कर उसका गुण गान किया गया है। इस निबन्ध से यह पता लगता है कि कंकड़ जैसी सामान्य वस्तु पर भी लेखक कैसा सुन्दर रोचक और भावपूर्ण निबन्ध लिख सकता है। दो एक उदाहरण देखिये—

"कंकड़ देव को प्रणाम है। देव वही महादेव वही क्योंकि काशी के कंकड़ शिव शंकर के समान हैं॥ १॥

हे कंकड़ समूह! आज कल आप नई सड़क से दुर्गा जी तक बराबर छाए हो इससे काशी खण्ड 'तिले तिले' सच हो गया है अतएव तुम्हें प्रणाम है॥ ५॥

हे सुन्दरी सिंगार! आप बड़ों के बड़े हो क्योंकि चूना पान की लाली का कारण है और पान रमणी गण के मुख शोभा का हेतु है, इससे आपको प्रणाम है॥ ५॥

हे शस्त्र समष्टि! आप गोली गोला के चचा, छर्रों के पर दादा, तीर के फल तलवार की धार और गदा के गोला हो, उससे आपको प्रणाम है॥ १०॥

इस निबन्ध की शैली को स्तोत्र शैली कह सकते हैं।

अंग्रेज़ स्तोत्र—इस निबन्ध की शैली भी स्तोत्र शैली है। इसमें अनेक वाक्य ऐसे हैं जो ऊपर से तो अंग्रेजों की स्तुति प्रतीत होते हैं पर उस पूरे निबन्ध का अर्थ गर्भत्व व्यंग में है। यह व्यंग प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है।

"तुम इन्द्र हो—तुम्हारी सेना बज्र के समान है—इनकम टैक्स तुम्हारा कलंक है; तुम वायु हो—रेल तुम्हारी गति है, तुम वाण हो—जल में तुम्हारा राज्य है; अतएव हे अंग्रेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं॥ ६॥

अंग्रेजों की चाटुकारिता पर व्यंग करते हुए लिखा है—

"हे वरद! हमको वर दो; हम सिर पर शमला बाँध के तुम्हारे पीछे पीछे दौड़ेंगे; तुम हमको चाकरी दो; हम तुमको प्रणाम करते हैं।

"हे शुभंकर! हमारा शुभ करो; हम तुम्हारी खुशामद करेंगे, तुम्हारे जी की बात कहेंगे, हमको बड़ा बनाओ, हम तुमको प्रणाम करते हैं।

"हे मानद! तुम हमको टाइटल दो, खिताब दो, खिलद दो, हमको

अपना प्रसाद दो, हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।

"हे भक्त वत्सल ! हम तुम्हारा पात्रावशेष भोजन करने की इच्छा करते हैं,...तुम्हारे स्वहस्तलिखित दो एक पत्र बक्स में रखने को स्पर्द्धा करते हैं,...हम बूट पतलून पहिरेंगे, नाक पर चश्मा देंगे, काँटा और चिमचे से टिबिल पर खायेंगे,......हम मातृ भाषा त्याग करके तुम्हारी भाषा बोलेंगे।...''

नीचे की पंक्तियों में अंग्रेजों का जो रूप भारतेन्दु ने उपस्थित किया है वह व्यंग को और भी स्पष्ट कर देता है—

"तुम मूर्तिमान हो; राज्य प्रबन्ध तुम्हार अङ्ग है, न्याय तुम्हारा शिव है, दूर दर्शिता तुम्हारा नेत्र है; और कानून तुम्हारे केश हैं, .. कौंसिल तुम्हारा मुख है, मान तुम्हारी नाक है, देश पक्षपात तुम्हारी मौछ हैं, और टैक्स तुम्हारे कराल द्रष्टा है;....चुंगी और पुलिस तुम्हारी दोनों भुजाएँ हैं, अमले तुम्हारे नख हैं; अन्धेर तुम्हारा पृष्ठ है, और आमदनी तुम्हारा हृदय है; खजाना तुम्हारा पेट है; लालच तुम्हारी क्षुधा है; सेना तुम्हारा चरण है; खिताब तुम्हारा प्रसाद है; अतएव हे विराट रूप अंग्रेज ! हम तुमको प्रणाम करते हैं।''

इस निबन्ध की भाषा संस्कृत गर्भित और समास प्रधान है जैसे "तुम्हारी हरित कपिश पिंगल लोहित कृष्ण शुभ्रादि नाना वर्ण शोभित, अतिशय रंजित, भल्लुकुमेद्मार्जितकुंतावलि...।''

मदिरास्तवराज—भारतेन्दु ने मदिरा पर अपने नाटकों और कविता में भी सुन्दर व्यंग किए हैं। इस निबन्ध में भी मदिरा और मद्यपान पर स्तोत्र शैली में सुन्दर व्यंग किए गए हैं। मदिरा को जिन विशेष सम्बोधनों से स्मरण किया गया है वे ही व्यंग व्यंजना को स्पष्ट कर देते हैं—"हे सकलमादकसामग्रीशिरोरत्ने, हे कुल मर्य्यादासंहारकारिणी, हे प्रेजुडिस विध्वंसिनि, हे सर्वानन्दसार भूते, हे मुखकज्जलावलेपके। हे पूर्वपुरुषसंचित-विद्याधनराजसंपदर्कादिजन्यकठिनप्राप्य प्रतिष्ठासमूहसत्यानाशिनि ! तुम्हे बारंबार प्रणाम करना योग्य है।''

भाषा संस्कृत गर्भित और समास प्रधान है।

स्त्री सेवा पद्धति—इस निबन्ध में स्त्रियों के गुण दोषों का व्यंगात्मक विवेचन है। स्त्रियों की चारित्रिक तथा स्वभावगत विशेषताओं के सुन्दर चित्र उपस्थित किए गए हैं और साथ ही अनेक चरित्र निर्माण की ओर

तथा पारिवारिक कर्तव्य की ओर भी संकेत है। इस निबन्ध की भी भाषा संस्कृत गर्भित है और शैली स्तोत्र-शैली है।

"मान खण्डन के लिए निद्रा स्वाहा, बात बनाने के लिए माँ-बाप बन्धन स्वाहा, वस्त्रालंकारादि के लिए सर्वस्व स्वाहा, मन प्रसन्न करने के लिए यह लोक परलोक स्वाहा···।"

पाँचवे पैगम्बर—यह निबन्ध स्वगत कथन की नाटकीय शैली में लिखा गया है। कहा जाता है कि भारतेन्दु स्वयं चूसा पैगम्बर का स्वांग कर रंग-मंच पर आए थे। चूसा से अंग्रेजी राज्य के शोषण और पाश्चात्य सभ्यता से तात्पर्य है और उसमें उन्हीं पर तीखे व्यंग हैं '···मेरे तीन नाम हैं। मुख्य चूसा पैगम्बर, दूसरा डबल और तीसरा सुफेदा····तू आप अपनी रौशनी से जमाने को जला कर काला करैगा!···मैंने हाफ सिविलाइज्ड किया दुनिया को।···"आदि वाक्यों से अंग्रेजों के प्रति व्यंग स्पष्ट है।

स्वर्ग में बिचार सभा का अधिवेवन—इसमें कहानी के गुण हैं। लेखक ने स्वर्ग में विचार सभा की कल्पना की है जिसमें विचारार्थ प्रश्न है कि दयानन्द और केशवचन्द्र सेन को स्वर्ग में स्थान है या नहीं। इस प्रश्न पर इस कल्पना प्रसूत सभा में विचार कर दोनों विद्वानों के कार्यों के औचित्य और अनौचित्य के पक्ष-विपक्ष को स्पष्ट कर दिया है, और उन दोनों के विषय में अपने विचारों को स्पष्ट किया है। भारतेन्दु आर्य समाज को नहीं मानते थे और केशवचन्द्र सेन की भी अनेक बातों से उन्हें मतभेद था। पर हम पीछे भी इस पर प्रकाश डाल आए हैं कि भारतेन्दु का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदार था। वे सभी के गुणों के प्रशंसक थे और दोषों के कट्टर आलोचक। उनके गुण दोष की विवेचना में उनका दृष्टिकोण देश की गौरवशाली परम्परा और सर्वक्षेत्रीय देशोन्नति का होता था। वे स्वयं सनातन धर्मी थे पर उसकी बुराइयों की जितनी कटु आलोचना उन्होंने की है उससे स्पष्ट है कि वे संकुचित आग्रहों से ऊपर थे, और हर बात को देश हित की कसौटी पर ही आंकते थे। इस में भी उन्होंने इसी उदार दृष्टिकोण के आधार पर दोनों विद्वानों के कृत्यों और सिद्धांतों को आँका है।

स्वर्ग में जिस रूप में उन्होंने कंजरवेटिव, उदार और रेडिकल दलों की कल्पना की है उससे भी उनके विचारों की व्यापकता स्पष्ट होती है। कंजर-वेटिव दल में ऋषि मुनि हैं जो व्यक्तिगत साधना-यज्ञ, तपस्यादि से स्वर्ग पहुँचे थे। उदार दल में वे लोग हैं जो अपनी भक्ति—जिसका सामाजिक हेतु

भी है, और सामाजिक कार्यों से अपनी आत्मा की उन्नति करके स्वर्ग पहुँचे थे। इस दल-विभाजन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु भारत के गत मनीषियों और महात्माओं में उनको अधिक ऊँचा स्थान देते थे जिनकी भक्ति समाज सापेक्ष थी और जिन्होंने व्यक्तिगत मोक्ष के स्वार्थ से ही साधना नहीं की थी वरन् जिनकी भक्ति और सिद्धान्तों में समाज हित की भावना निहित थी। कंजर-वेटिव की अपेक्षा उदार दल अधिक उदार और प्रगतिशील है।

स्वर्ग में कंजरवेटिव दल का जोर था क्योंकि जमीदार दल उसके पक्ष में था और जमीदार वर्ग में थे बड़े बड़े देवता इन्द्र, गणेश आदि। 'उस दल में 'देवताओं के अतिरिक्त बहुत लोग थे, याज्ञवल्क्य प्रभृति कुछ तो पुराने ऋषि थे और कुछ नारायण भट्ट, रघुन्दन भट्टाचार्य, मंडन मिश्र प्रभृति स्मृति ग्रन्थकार थे।... लिबरल दल में चैतन्य प्रभृति आचार्य, दादू, नानक, कबीर प्रभृति भक्त और ज्ञानी लोग थे।''

दोनों दल अधिवेशन में दयानन्द और केशवचन्द्र के पक्ष विपक्ष में घोर बहस करते हैं और अन्त में 'दोनों दलों ने मेमोरियल तैयार कर स्वाक्षरित होकर परमेश्वर के पास' भेजा। ईश्वर ने उन्हें उत्तर दिया—''बाबा अब तो तुम लोगों की 'सेल्फ गवर्नमेण्ट' है। 'अब कौन हमको पूछता है, जो जिसके जी में आता है करता है। अब चाहे वेद क्या संस्कृत का अक्षर भी स्वप्न में भी न देखा हो पर लोग धर्म विषय पर वाद करने लगते हैं। हम तो केवल अदालत या व्यवहार या स्त्रियों के शपथ खाने को ही बुलाए जाते है।... भूत, प्रेत, ताजिया के इतना भी तो हमारा दर्जा नहीं बचा। ईश्वर के इस उत्तर में लोगों की तत्कालीन धार्मिक आस्था की यथार्थता का कटु सत्य भी व्यंजित होता है।

ईश्वर ने दोनों दलों के बहुत 'निवेदन सिवेदन' करने पर मामला 'सिलेक्ट' कमेटी के सुपुर्द कर दिया है। सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट बड़ी महत्व पूर्ण है और दयानन्द तथा केशवचन्द्र सेन के सम्बन्ध में भारतेन्दु के विचारों को स्पष्ट करती है। रिपोर्ट में दोनों के ही उन कार्यों की प्रशंसा की गई है जिसके द्वारा उन्होंने राष्ट्र के अतीत गौरव के प्रति देश वासियों को सचेत किया, उनके अन्ध विश्वासों और रूढ़िगत विचारों के अज्ञानों को दूर किया। रिपोर्ट में समाज की कुरीति ग्रस्त यथार्थ दशा का भी सुन्दर चित्रण है—

''... हम लोगों की सम्मति में इन दोनों पुरुषों ने प्रभु की मङ्गलमयी

सृष्टि का कुछ विघ्न नहीं किया वरंच उसमें सुख और संतति अधिक हो इसी मैं परिश्रम किया। जिस चाण्डाल रूपी आग्रह और कुरीत के कारण मनमाना पुरुष धर्मपूर्वक न पाकर लाखों स्त्री कुमार्गगामिनी हो जाती हैं, लाखों विवाह होने पर भी जन्म भर सुख नही भोगने पातीं, लाखों गर्भ नाश और लाखों ही बाल हत्या होती हैं, उस पापमयी परमनृशंस रीति को इन लोगों ने उठा देने में अपने शक्य भर परिश्रम किया। जन्म पत्री के अनुग्रह से जब तक स्त्री पुरुष जिएँ एक तीर घाट एक मीर घाट रहैं, बीच मैं इस वैमनस्य और और असन्तोष के कारण स्त्री व्यभिचारिणी और पुरुष विषयी हो जाँय, परस्पर नित्य कलह हो, शान्ति स्वप्न में भी न मिलै, वंश न चलै, यह उपद्रव इन लोगों से नहीं सहे गए।...''

हम पहले कह आए हैं कि भारतेन्दु दयानन्द के आर्य समाजी आन्दोलन के पक्ष में न थे पर उसकी अनेक बातों का वे स्वागत करते थे। इस कहानी में उन्होंने उन सब का जो समाज सुधार के विरोधी थे विरोध किया है। कंज़रबेटिव दल के साथ जमीदारों का गठ-बन्धन दिखाकर उन्हें प्रतिक्रियावादी सिद्ध किया है और समाज सुधार की आवश्यकता तथा अच्छाई को स्पष्ट कर दिया है।

इस कहानी का अन्त अत्यन्त ही कलात्मक ढंग से हुआ है। सिलेक्ट कमेटी अपनी रिपोर्ट परमेश्वर के विचारार्थ प्रस्तुत कर देती है पर परमेश्वर ने विचार कर दोनों विद्वानों को स्वर्ग में क्या स्थान दिया यह स्पष्ट नहीं किया है। दोनों के विषय में सिलेक्ट कमेटी की विस्तृत रिपोर्ट उपस्थित करने के बाद उन्होंने यह निश्चय पाठकों पर छोड़ दिया है कि उन्हें स्वर्ग में क्या स्थान प्राप्त हो।

भारतेन्दु के समय तक कहानी कला का विकास क्या; रूप रेखा भी नहीं बन पाई थी। भारतेन्दु ने भी कहानी का कोई रूप प्रस्तुत नहीं किया था। कुछ उपन्यासों पर उन्होंने कलम चलाई थी, जिनका हम अन्यत्र विवेचन करेंगे। किन्तु यह निबन्ध, निबन्ध शैली में नहीं है। इसमें हम कहानी-कला के बीज पा सकते हैं। कल्पना के द्वारा उन्होंने एक कथा का निर्माण किया है और उसे विन्यसित भी कथा के आधार पर ही किया है। भाषा अत्यन्त ही सजीव, व्यंगपूर्ण और सरल एवं प्रवाहशील है।

लेवी प्राण लेवी :—इसमें हम आधुनिक स्केच की शैली के दर्शन कर सकते हैं। एक बार लार्ड म्यौ काशी गए थे। उनके स्वागत में एक सभा

हुई थी उसी सभा का व्यंगपूर्ण चित्र इस स्केच में उपस्थित किया गया है। इस स्केच में सरकारी चाटुकार और सरकारी वाहवाही के लालची रईसों का खूब मखौल उड़ाया गया है। इस वर्णन में एक चित्रोपमता है जो रूपकों और उपमाओं के द्वारा सजीव हो उठी है।

"श्रीमन्महाराजाधिराज काशीराज की कोठी में इस 'लेवी' के हेतु एक डेरा दल बादल खड़ा किया गया था जो सूर्यनारायण और श्रीयुत लार्ड साहब के तेज और प्रताप से परम सुशीतल खसखाने की भाँति होगया था और गरमी भी इसी खसखाने में आ छिपी थी। डेरे के बीच चंदवा के नीचे एक सोने की कुर्सी धरी थी। नाम लिखने वाले मुन्शी बद्रीनाथ फूलेफाले अबा पहिने पगड़ी सजे पुराने दादुर की भाँति इधर-उधर उछलते और शब्द करते फिरते थे और बाबू भी वैसे ही छोटे छोटे तेंदुए बने गरज रहे थे।··· इतने में बंगाली बबू सब का नम्बर लगाने लगे और पण्डितों की दक्षिणा बंटने वाली सभा की भाँति एक एक का नाम लेकर पुकार के बल्लमटेर की पल्टन की चाल से सबको खड़ा कर दिया। बनारस के रईस भी कठपुतली बने हुए उसी गत से नाचते रहे।···· लार्ड साहिब की 'लेवी' समझ कर कपड़े भी सब लोग अच्छे-अच्छे पहिन कर आए थे, पर वे सब उस गरमी में बड़े दुखदाई होगए, जामे वाले गरमी के मारे जामे से बाहर हुए थे और पगड़ी वालों को पगड़ी सिर का बोझ सी हो रही थीं ··· सब के अङ्गों से पसीने की नदी बहती थी मानों श्रीयुत को सब लोग आदर से "अर्घ्य पाद्यं" देते थे।···"

"इसी "अर्घ्य पाद्यं" शब्द पर आपको सरकार का कोप भाजन बनना पड़ा था। बात बात में सरकार की और अफसरों की चाटुकारी कर उन्हें प्रसन्न करने की प्रवृत्ति से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। यह बात दूसरी है कि वे अंग्रेजों की बुद्धिमत्ता और उनके ज्ञान की श्रद्धा करते थे, पर वह उसी उदार भाव से जैसे उदार भाव से वह अपने देशवासियों के गुणों की श्रद्धा करते थे। उनमें अंग्रेजों से स्वप्रशंसा प्राप्त करने या स्वहित साधने के लिए चाटुकारी की प्रवृत्ति न थी। वे अत्यन्त ही खरी प्रकृति के व्यक्ति थे और उनकी प्रवृत्ति स्थान-स्थान पर उनके निबन्धो से व्यक्त हुई है। इसीलिए उन्हें धर्माधीशों, सरकार और अनेक व्यक्तियों का कोपभाजन बनना पड़ा था।

जाति विवेकिनी सभा :—इसकी शैली वार्तालाप शैली है और विषय विन्यास नाटक जैसा है और रोचकता कहानी जैसी।

धार्मिक पण्डे अपने यजमानों को जैसे चाहते थे वैसे बनाते थे, उन्हें मन-मानी ढंग से उच्च और नीच वर्ण प्रदान कर देते थे। धन उनका एकमात्र धर्म था और धर्म एक व्यवसाय बन गया था। इसी तत्कालीन यथार्थ को इसमें व्यंग रूप में स्पष्ट किया गया है। विपिनराम शास्त्री के 'पुस्तैनी यज-मान गड़रिए लोग जो परम सुशील और सत्कर्म लयलीन हैं, उन्हें किस वर्ण में दाखिल किया जाय यही इस कहानी का आधारभूत विषय है। विपिनराम शास्त्री यह समस्या अन्य धर्म के अपने ही जैसे ठेकेदारों के सन्मुख प्रस्तुत करते हैं। वे सब से अपनी सम्मति को स्वीकृत कराने के लिए सब के सम्मुख तर्क रखते हैं—"आज की हमारी कल की तुम्हारी।" इस व्यवसाय स्वार्थ से वे अन्य पण्डितों को गड़रियों को उच्च कुलीय मानने के लिए राजी कर लेते हैं। वे कहते हैं—"मैंने कलियुग पुराण का आकाश खंड और निघण्ड पुराण का पाताल खंड देखा तो मुझे अत्यन्त खेद भया कि यह हमारे यजमान खासे अच्छे क्षत्री अब कलिवशात् शूद्र कहलाते हैं।...इनके नामार्थ से ही क्षत्रि-यत्व पाया जाता है। गढ़ारि अर्थात् गढ़ जो किला है उसके अरि तोड़ने वाले। यह काम सिवाय क्षत्री के दूसरे का नहीं।"

निम्नसंवादों में कितनी यथार्थता है—

कलऊ :— सब महरजनन से इन्हें विनती है। कि जवन किछु किहा करावा है। तौन पक्का पोढ़ा कर दिहः। हाँ महरज्जा जेहमा कोऊ दोषै न।

विपिनराम :—दोषै का सारे ?

कलऊ :—अरे इहै कि धरमसास्तरवा में होहू तौने एइमाँ लिखहः

विपिनराम :—अरे सखा धरमसास्तर फास्तर का नाँव मत लेइ, त इ तोय के काम चलाउ, सास्तर का परमान ढूँढ़ै सरऊ तौ तोहार कतहूँ पता न लागी और फिर धरम सास्तर को पूछत को है।"

इसमें इनकी नाटकीयता है कि यदि इसे उनके नाटकों में परिगणित कर लिया जाय तो अधिक उपयुक्त हो। इसमें जो रंगमंचीय दिर्देश दिए गए हैं— (i) 'तदनन्तर गरुड़वंशियों के सम्मुख होकर; (ii) कलऊ गड़ेरिया दक्षिणा देता है पण्डित लोग लेते हैं, (iii) और अन्त में 'सबका प्रस्थान भया।' इससे भी इसके नाटक होने का प्रमाण मिलता है।

भाषा पात्रोनुकूल और प्रवाहशील तथा मुहाविरेदार है।

सबै जाति गोपाल की :—इसकी शैली भी वार्तालाप की और विषय विन्यास नाटकों जैसा है। इसे भी हम 'जाति विवेकिनी सभा' की ही भाँति

नाटक कहना ही अधिक युक्ति संगत मानेंगे। इसमें भी 'सबै जाति गोपाल की' के आड़ में मनमाने ढंग से लोगों को जाति बाँटने और रुपया ऐंठने का व्यंग चित्र उपस्थित किया गया है। पण्डित लोग अपनी तर्कों की पुष्टि के लिए शब्दों तथा शास्त्र के सिद्धान्तों का मनगढ़न्त अर्थ अनर्थ किया करते थे, इसका इसमें सुन्दर वर्णन है।

भाषा अत्यन्त सजीव और चलताऊ है।

एक अद्‌भुत स्वप्न :—इसमें एक स्वप्न का वर्णन है। वर्णन में स्वप्न की स्वाभाविकता है। आरम्भ गम्भीर शैली से होता है और बीच बीच में व्यंग्य की मीठी-मीठी चुटकियाँ हैं तथा हास्य का पुट है—"...देखो समय सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। कालवश शशि सूर्य भी नष्ट हो जायंगे।"...."फिर पड़े पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बड़े काँटे निकले। क्योंकि बनाने की देर न होगी कि कीट-क्रिटिक आधी से अधिक निगल जायंगे।" स्वप्न में प्रायः मनुष्य जमीन आसमान के कुलावे मिला देता है, उसी तरह इस निबन्ध में भी स्वप्न की अतिरंजना की स्वाभाविकता का निर्वाह किया गया है। इस निबन्ध में भी अवसर मिलते ही पुलिस, कचहरी आदि पर तीखे व्यंग करने में भारतेन्दु नही चूके। इस लेख की शैली को हम कथा कहने की शैली कह सकते हैं।

जीवन चरितात्मक निबन्ध

—???:*:???—

यह अत्यन्त ही साधारण निबन्ध है—विषय और कला दोनों ही दृष्टियों से। कुछ महापुरुषों का जीवन चरित जनता के सामने प्रस्तुत करना, ताकि वह उनके जीवन के प्रकाश में अपना पथ खोज सके; ही इनका एकमात्र उद्देश्य प्रतीत होता है। जीवन चरित्रों में भी भारतेन्दु अधिक गहरे नहीं गए हैं; अत्यन्त सामान्य रूप से जन्म स्थान, मरण स्थान उनकी तिथियाँ और जीवन की सामान्य घटनाओं का सतही वर्णन मात्र इन लेखों में कर दिया गया है। साहित्य, राजनीति और धर्म के क्षेत्रों के अनेक महापुरुषों ने लेखक के व्यक्तित्व को अनेक रूप से प्रभावित किया था और उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप लेखक के व्यक्तित्व पर दीख पड़ती है। वह जीवन में जिस-जिस महा व्यक्ति से प्रभावित हुआ है उन सबका जीवनचरित तो सम्भवतः यह नहीं है पर कुछ के जीवनचरित यह अवश्य हैं। उनके जीवन की किन घटनाओं से वह प्रेरित हुआ है, आकर्षित हुआ, चमत्कृत हुआ आदि बातें इन निबन्धों में प्रसंगानुकूल स्पष्ट हो जाती हैं। इस स्तम्भ में केसरीनारायण शुक्ल ने सूरदास और जयदेव की जीवनियों को भी सम्मिलित कर लिया है, पर हम उन दोनों की जीवनियों को इनके साहित्यिक निबन्धों के स्तम्भ में सम्मिलित करना अधिक संगत समझते हैं; क्योंकि उनमें उनकी जीवनी के साथ-साथ काव्यगत सौन्दर्य का भी विवेचन है; यद्यपि यह विवेचन अत्यन्त ही अल्प और सतही है पर फिर भी उन निबन्धों को साहित्यिक कोटि प्रदान कर देता है। हम इस स्तम्भ में केवल निम्न जीवन चरितों का ही अध्ययन करेंगे—

१—मुहम्मद

२—फातिमा

३—लार्ड मेयो

४—राजाराम शास्त्री

५—एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती।

प्रथम चार किसी विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते। उनमें ऐसी कोई विशे-

षता भी नहीं है। चारों में ही सामान्यतः जीवन की घटनाओं का ऐतिहासिक आधार पर वर्णन है। अन्तिम निबन्ध अवश्य विवेचना की अपेक्षा रखता है पर इस पर भी कुछ अधिक कहना इसलिए संगत नहीं क्योंकि यह पूरा नहीं हो पाया। फिर भी—

एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती :—यह भारतेन्दु की ही जुबानी भारतेन्दु की ही कहानी है। एक प्रकार से यह उनका आत्मचरित है जो उनके जीवन की अनेक घटनाओं पर प्रकाश डालता है। इसकी शैली आत्मकथात्मक शैली है। उसमें एक अनूठापन और प्राँजलता है; अन्त में आते आते उनकी शैली कितनी मंज-संवर गई थी। यह इससे स्पष्ट हो जाता है।

भारतेन्दु एक दरबारी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और रीतिकाल की तथा बादशाही दरबारगीरी की याद अभी लोगों की स्मृति में ताजी थी। लोग बाग चारों ओर से भारतेन्दु को घेरे रहते थे और मुँह पर ठकुर सुहाती की झड़िएं लगा देते थे और उन्हें हाथोंहाथ लिए रहते थे। इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

"कोई कहता था आप से सुन्दर संसार में नहीं, कोई कसमे खाता था आपसा पण्डित मैंने नहीं देखा, कोई पैगाम देता था चमेली जान आप पर मरती है,··· कोई बोला हाय! आपका फलाना कवित्त पढ़कर रात भर रोते रहे। एक मीर साहब चिड़िया वाले ने चोंच खोली, बेपर की उड़ाई बोले कि आपके कबूतर किससे कम हैं बल्लाह कबूतर नहीं परीजाद हैं खिलौने या तस्वीर हैं। सिद्धान्त यह कि मैं बिचारा अकेला और वाह वाहें इतनी कि चारों ओर से मुझे दबाए लेती थीं और मेरे ऊपर गिरी क्या फिसली पड़ती थीं।

"यह तो दीवान खाने का हाल हुआ अब सीढ़ी का तमाशा देखिए। चार पाँच हिन्दू, चार पाँच मुसलमान सिपाही, एक जमादार, दो तीन उम्मेदवार, और दस बीस उटल्लू के चूल्हे कोई खड़ा है, कोई बैठा है। हाय रुपया, हाय रुपया सब की जुबान पर। कोई रंडी के भंडुए से लड़ता है, रुपए में दो आना न दोगे तो सरकार से ऐसी बुराई करेंगे कि फिर बीबी का इस दरबार में दर्शन भी दुर्लभ हो जायगा।···"

इसका विकास आगे चलकर कैसा होता कहा नहीं जा सकता, पर बंदिश ऐसी बाँधी है कि उससे पता लगता है कि इसका रूप आत्मकथात्मक उपन्यास का होता।

आरम्भ का वाक्य यह स्पष्ट करता है कि कथा के अनेक सूत्र आगे चल कर खुलेंगे—"हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हैं आप लोग पीछे जानेंगे।" इसी तरह अन्तिम पैराग्राफ का यह वाक्य भी यही स्पष्ट करता है--"इन सबों में से एक मनुष्य को आप लोग पहचान रखिए, इससे बहुत काम पड़ेगा। यह एक नाटा छोटा अच्छे हाथ पैर का साँवले रंग का आदमी है।"

इस निबन्ध की भाषा बड़ी परिमार्जित और सुष्ठ है। वाक्यों के गठन में भी पिछले निबन्धों की अपेक्षा सौन्दर्य है—"मैं भी जबानी के उमङ्गों में चूर जमाने की ऊँच नीच से बेखबर, अपनी रसकाई के नसे में मस्त दुनियाँ के मुफ्तखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ, अपनी तारीफ सुन रहा था, पर छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भाँति पहँचानता था।

—::०::—

साहित्यिक निबन्ध

इस स्तम्भ में हम उनके उन निबन्धों का ही अध्ययन करेंगे जिनमें साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर उनके विचार प्रकट हुए हैं। यह निबन्ध हैं—

१. नाटक

२. हिन्दी भाषा

३. सूरदास

४. जयदेव

५. सम्पादक के नाम पत्र।

नाटक—इस लेख में उन्होंने विस्तार के साथ प्राचीन भारतीय नाट्य-कला के सिद्धान्तों तथा पाश्चात्य नाट्यकला के सिद्धान्तों का गम्भीर तात्विक विवेचन किया है तथा गम्भीर विवेचना से हिन्दी नाट्यकला के समयानुकुल सिद्धान्तों का निर्माण किया है, जो उनकी मौलिक देन है। नाटक कला के सम्बन्ध में उनकी स्थापनाओं का विवेचन तथा उल्लेख हम उनके नाटकों की विवेचना के साथ विस्तार से कर आए हैं। उन्होंने विषय निर्धारण, चरित्र-चित्रण, विषय-विन्यास आदि के सम्बन्ध में मौलिक स्थापनाएँ इस लेख में प्रस्तुत की हैं। हम यहाँ व्यर्थ विस्तार के लिए उन सबका पुनः उल्लेख नहीं करेंगे। नाटक कला के सम्बन्ध में उनकी स्थापनाएँ हिन्दी साहित्य को एक अनूठी देन हैं।

हिन्दी भाषा—भारतेन्दु के समय तक हिन्दी-गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। उसके सम्बन्ध में अनेक विवाद चल रहे थे। भारतेन्दु ने सर्व प्रथम भाषा के इस उलझाव को दूर कर उसे स्थिरता प्रदान की थी। उन्होंने भाषा को स्थिरता देने के लिए जो प्रयास किए थे, यह लेख उन्हीं का एक चरण है।

वे भाषा के तीन रूप मानते थे—घर में बोलने की भाषा, कविता की भाषा और लिखने (गद्य) की भाषा।

घर में बोलने की भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि वह तो स्थान

स्थान में बदलती है। कविता की भाषा उन्होंने ब्रज को ही माना है यद्यपि अन्य भाषाओं में भी कविता होती थी और स्वयं उन्होंने भी की है। सब के उदाहरण देकर उन्होंने ब्रजभाषा को ही कविता की उपयुक्त भाषा सिद्ध किया है।

"· · · कविता की भाषा निःसन्देह ब्रजभाषा ही है और दूसरी भाषाओं की कविता चित्त को नहीं पकड़ती।"

लिखने कीभाषा की विवेचना करते हुए उन्होंने छः तरह की भाषाओं के उदाहरण गिनाए हैं और अन्त में कहा है--

"हम इस स्थान पर वाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिए पर हाँ मुझसे कोई अनुमति पूछे तो मैं यह कहूँगा कि नम्बर २ और ३ लिखने के योग्य हैं।

यहाँ उनके थोड़े उदाहरण दे देना उचित होगा।

(१) 'जिसमें संस्कृत शब्द बहुत हैं'—

"अहा पर कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु साम्प्रत प्राप्त हुई, अनवर्त्त आकाश मेघाच्छन्न रहता है · · · "

(२) 'जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं'—

"सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया, पुल टूट गए, बाँध खुल गए · · · "

(३) 'जो शुद्ध हिन्दी है—'

"मेरे प्रीतम अब तक घर न आए। क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फेर में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए · · · ।"

(४) 'जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है –

"ऐसी तो अंधेरी रात उस में अकेली रहना कोई हाल पूछने वाला भी नहीं,रह रह कर जी घबड़ाता है · · ·"

(५) 'जिसमें फारसी शब्द विशेष हैं—

"खुदा इस आफत से जी बचाए प्यारे का मुँह जल्द दिखाए कि जान में जान आए।

(६) जिसमें अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है—

"वहाँ हौसों में हजारों बक्स माल रक्खे हैं—कम्पनियों के सैकड़ों बक्स इधर से उधर कुली लोग लिए फिरते हैं···"

भारतेन्दु के निबन्धों में प्रायः इन सभी प्रकार की भाषाओं के उदाहरण

मिल जाते हैं। पर उन्होंने दूसरे और तीसरे नम्बर की भाषा को मान्यता दी है। वही भारतेन्दु के हाथों अधिक मंजी-संवरी और उस युग के सभी लेखकों की भाषा बन गई थी। आगे भी विशेषकर इसी भाषा में हिन्दी साहित्य विकसित हुआ फला-फूला, और परवान चढ़ा है।

सूरदास और जयदेव :—यह दोनों ही लेख विशेषकर जीवन चरितात्मक लेख हैं। उनके काव्यगत सौंदर्य का विवेचन इन लेखों में विशेष नहीं हैं। केवल उनके थोड़े से पदों के उद्धरण देकर उनकी प्रशंसा कर दी गई है जो कि अत्यन्त सतही है। पर हम इन्हें साहित्यिक आलोचना का प्रारम्भिक रूप मान सकते हैं जो आगे चलकर इसी युग में बालकृष्ण भट्ट के हाथों पूर्ण रूप से विकसित हुई।

सम्पादक के नाम पत्र :—भारतेन्दु ने चार नए रसों का प्रतिपादन किया था—भक्ति, सख्य, वात्सल्य और आनन्द। उनकी इस स्थापना की अनेक विद्वानों ने आलोचना की थी। उनकी आलोचना का ही उत्तर इस पत्र में दिया गया है। यह पत्र श्री ताराचन्द तर्करत्न के नाम लिखा गया था और पत्र में प्रकाशित हुआ था। इसका साहित्यिक महत्व भी है क्योंकि भारतेन्दु ने अपने प्रतिपादित रसों की स्थापना के सम्बन्ध में इसमें अनेक पुष्ट तर्क दिए हैं। वे लिखते हैं—

"वाह वाह। रसों का मानना भी मानों वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और उसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव सिद्ध है इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं। यदि अनुभव में आवैं मानिए न आवैं न मानिए।"

अपनी स्थापनाओं की पुष्टि में तर्क देते हुए लिखा है—

"भक्ति—कहिए इसको आप किसके अन्तर्गत करते हैं क्योंकि इस रस की स्थाई श्रद्धा है और इसके आलम्बन भक्त और इष्ट देवता हैं और उद्दीपन पुराणादिक भक्तों का प्रसंग तथा सत्संग है अब जो इसे शान्त के अन्तर्गत कीजिएगा तो शान्त का स्थाई वैराग्य है…।

सख्य के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के पुष्ट प्रमाण दिए हैं— "सख्य—इस रस को लोग शृङ्गार के अन्तर्गत करते हैं, हम उन लोगों से पूछते हैं कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन का प्रसंग और इसी भांति अनेक मित्रों की बिपत्ति में मित्रों के संग देने के प्रसंग में शृङ्गार रस किस भांति आवेगा

क्योंकि शृङ्गार की स्थाई रति है और यहाँ मित्रता में रति का क्या कार्य है।''

इसी प्रकार के पुष्ट गम्भीर प्रमाणों से उन्होंने वात्सल्य और आनन्द रस की युक्तियुक्तता को भी सिद्ध किया है। इस पत्र से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि भारतेन्दु केवल इसी तर्क से कि 'यह तो पूर्वजों ने कही है' की सी बात को नहीं मान लेते थे। वे स्वयं उसके सत्यासत्य पर तात्विक विवेचन कर, तब अपनी सम्मति देते थे।

विविध निबन्ध

— ० —

इस स्तम्भ में हम भारतेन्दु के उन निबन्धों का अध्ययन करेंगे जो अन्य स्तम्भों में नहीं आते। इस स्तम्भ में निम्न निबन्धों को परिगणित कर सकते हैं--

१. मदालसोपाख्यान

२. संगीत सार

३. खुशी

४. जातीय संगीत

५. ग्रीष्म ऋतु

मदालसोपाख्यान—इसमें एक पौराणिक कथा का वर्णन है। इस कथा का आधार मार्कंडेय पुराण है। उसमें की ही एक कथा का इसे रूपान्तर कहा जा सकता है। इसकी शैली कहानी की है। इसे निबन्ध के स्थान पर पौराणिक कहानी ही कहना ही उचित है। राधा कृष्णदास ने इसे भारतेन्दु के उपन्यासों में गिनाया है जिसका वर्णन हम उपन्यासों के प्रकरण में करेंगे।

सँगीतसार—भारतेन्दु को संगीत का ज्ञान भी पर्याप्त था। उनके संगीत ज्ञान का परिचय हमें उनकी कविता में मिलता है जहाँ उन्होंने अनेक राग रागनियों का प्रयोग किया है। इस लेख में संगीत की उत्पत्ति का, और प्राचीन शास्त्रीय संगीत का विस्तृत वर्णन है। इस लेख में संगीत के साथ ही नृत्य कला का भी वर्णन है। लेख के अन्त में उन्होंने भारत के अमीरों से संगीत प्रचार और उन्नति के लिए मार्मिक अपील की है—

"···सब जानकार लोग मिलकर एक एक बेर इस लुप्त हुए शास्त्र का भली भांति मंथन करके इसकी एक सनियम उज्वल परिपाटी बना डालैं। नहीं तो यह शास्त्र कुछ दिनों में लोप हो जाएगा। और हमारे हिन्दुस्तानी अमीरों को चाहिए कि वारवधू के मुखचन्द्र की सुन्दरता ही पर इस विद्या की इतिश्री न करैं, कुछ आगे भी बढ़े।"

अन्य विद्वानों से भी उन्होंने इस शास्त्र पर और प्रकाश डालने का आह्वान किया था।

खुशी—यह एक भाव प्रधान निबन्ध है। खुशी जैसी हृदय की सूक्ष्म भावना के ऊपर भावना और विचारों से ओतप्रोत गम्भीर पर रोचक निबन्ध प्रस्तुत करना भारतेन्दु की निबन्ध कला की क्षमता का द्योतक है। इसकी भाषा उर्दू गर्भित है, जिससे प्रकट होता है कि वे उर्दू भाषा का गद्य लिखने में भी कितने पटु थे। भाषा भावों की गहनता को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। के निम्न उद्धरण में उन्होंने खुशी की परिभाषा प्रस्तुत की है—

"हरदिल ख्वाह आसूदगी को खुशी कह सकते हैं—याने जो हमारे दिल की ख्वाहिश हो वह कोशिश करने से या इत्तफाकियः बगैर कोशिश किए बर आवे तो हमको खुशी हासिल होती है। खुशी जिन्दगी के फल को कहते अगर खुशी नहीं है तो जिन्दगी हराम है।"

खुशी की तीन किस्में मानी हैं—दीनी खुशी यानी अलौकिक खुशी, दुनियाबी खुशी यानी लौकिक खुशी और गलत खुशी। इन तीनों खुशियों का और इनके विभिन्न स्तरों का इस लेख में विस्तृत विवेचन किया गया है।

ज़ातीय संगीत—इस लेख में जातीय संगीत के प्रचार और प्रसार की बात कही गई है। जातीय संगीत से भारतेन्दु के दो अर्थ थे—(i) लोक गीत व जन राग-रागनियों का संगीत, (ii) जन राग-रागनियों और लोक गीतों द्वारा नई चेतना के प्रचार-प्रसार का संगीत। यह बात हम पीछे भी अनेक स्थलों पर कह आए हैं कि भारतेन्दु की दृष्टि सदैव उन साधनों की खोज में चौकन्नी रहती थी जिनके द्वारा अधिक से अधिक जनता में नई चेतना का बीजारोपण किया जा सके। वे यह बात भली भांति समझ सके थे कि इसके लिए सबसे उपयुक्त ढंग है जनता की भाषा में जनता की राग-रागनियों में नई चेतना से ओतप्रोत गीतों का प्रचार करना। गीत सीधे मनुष्य की रागात्मक वृत्ति से अपना सम्बन्ध स्थापित कर उसके हृदय को हिल्लोहित कर देते हैं। इस लेख में उन्होंने लिखा है—

'-भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मा गण आज कल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जन साधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी छोटी

पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जांय। सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदैशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। उससे साधारण लोगों के चित्त पर भी उन बातों का अंकुर जमाने को उस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संसार बदल जाने की आशा है। ... इस हेतु से गीत बहुत छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें, वरंच गवाँरी भाषाओं में, और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कँहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लंबे, लावनी, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल; इत्यादि ग्राम गीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में उनका प्रचार हो अर्थात् पंजाबी, में पंजाबी बुन्देलखंड में बुन्देलखंडी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।

इन गीतों के लिए भारतेन्दु ने निम्न विषयों का सुझाव भी इस लेख में दिया है—

बाल्य विवाह, जन्मपत्री की विधि, बालकों की शिक्षा, बालकों से बर्ताव अंग्रेजी फैशन, स्वधर्म चिन्ता, भ्रूण हत्या और शिशु हत्या, फूट और बैर, मैत्री और एक्य, बहुजातित्व और बहुभक्तित्व, योग्यता, पूर्वज आर्यों की स्तुति, जन्म भूमि, आलस्य और सन्तोष, व्यापार की उन्नति, नशा, अदालत हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दुस्तानियों को व्यवहार करना, भारतवर्ष में दुर्भाग्य का वर्णन। इन विषयों से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु की दृष्टि कितनी पैनी थी और देशोन्नति की उनकी चेतना कितनी व्यापक थी, कि जन जीवन का कोई भी पहलू उनके इन विषयों से बच नहीं पाया है। भारतेन्दु ने इसी प्रकार व्यावहारिक सुझावों और सक्रिय मार्ग दर्शन से साँस्कृतिक एवं साहित्यिक अभ्युत्थान का नेतृत्व किया था। इन विषयों पर गीत किस प्रकार लिखे जाँय इसका भी उन्होंने व्यवहारिक सुझाव दिया था—

"ऐसे गीतों में रोचक बातें जो स्त्रियों और गवाँरों को अच्छी लगें होनी चाहिए और शृङ्गार, हास्य आदि रस इसमें मिले रहें जिससे इनका प्रचार सहज हो जाय।" इससे स्पष्ट होता है कि जन साधारण के स्वभाव और रुचि का कितना ज्ञान उनको था, जो जनता से उनकी निकटता का द्योतक है।

उनके इस लेख का जन आन्दोलन की दृष्टि से बड़ा महत्व है। उस युग में और आज भी जनता को सचेत करने की सबसे बड़ी आवश्यकता थी और है। हमारे देश की ८०, ८५ प्रतिशत जनता अपढ़ है। उसके पास नई चेतना का सन्देश पहुँचाने का सबसे उत्तम साधन ये ही माध्यम हैं जो उसके अपने हैं और बिना उस जनता को जागृत किए देश की उन्नति होना असम्भव है। यह लेख कितना दूरदर्शी और युग महत्व का है यह इसी बात से स्पष्ट होता है कि जितनी उपादेयता इसकी उस काल में थी उतनी आज भी है और उस समय तक रहेगी जब तक देश का जन जन शिक्षित नहीं हो जाता।

ग्रीष्म ऋतु—यह लेख अधूरा है। उस लेख में ग्रीष्म ऋतु की विशेषताओं का प्रवाहशील, मुहाविरेदार शुद्ध हिन्दी में वर्णन है। गर्मी की ऋतु में लोगों की कैसी बेहाली हो जाती है, उसका सुन्दर चित्र इसमें उपस्थित है। इस लेख से भारतेन्दु की गद्य में शुद्ध प्राकृतिक वर्णन करने की क्षमता प्रगट होती है। गर्मी से व्याकुल पशु पक्षी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं रहे हैं। लेख अधूरा है अतः इस पर कुछ और अधिक कहना संगत नहीं है।

—।*।*।—

उपन्यास

—:**:—

भारतेन्दु ने हिन्दी नाट्य कला का प्रवर्त्तन किया उसी प्रकार उपन्यास तथा आख्यायिका कला का भी सुचारु तथा सुविन्यसित ढङ्ग से सूत्रपात करने का श्रेय भी इन्हीं को है। यद्यपि इनके पूर्व इन्शाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी', 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'रानी सारंधा' आदि जैसी आख्यायिकाएँ प्राप्त होती हैं; किन्तु सुष्ठ और परिमार्जित भाषा में इस कला के सँवारने का आरम्भ भारतेन्दु से ही होता है। किन्तु इस कला रूप को भारतेन्दु के हाथों सँवरने का अवसर नहीं मिला। इनके लिखे हुए अपूर्ण अथवा पूर्ण जो भी उपन्यास या आख्यायिकायें प्राप्त होती हैं उनसे यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य के इस अङ्ग की जीवनोन्मुखी महत्ता को इन्होंने समझा था। वे हर अवसर, जहाँ से भी नई वस्तु अथवा नया भाव पाते उससे हिन्दी भाषा-साहित्य का सम्बर्द्धन करने को सदैव सजग और उत्सुक रहते थे। पाश्चात्य तथा बँगला साहित्य के सम्पर्क में आने से उन्हें हिन्दी साहित्य में साहित्य के इस अङ्ग की कमी खटकी और इस अङ्ग की वृद्धि के लिये भी उन्होंने अपने व्यस्त जीवन में समय निकाल ही लिया। ऐसा था उनका हिन्दी भाषा के प्रति उत्कट प्रेम। वे हिन्दी साहित्य के किसी भी अङ्ग को अविकसि नहीं देखना चाहते थे। खेद है कि असामयिक मृत्यु के कारण वे अपना कोई उपन्यास पूरा न कर पाये। साहित्य सम्वर्द्धन की उन्हें इतनी बेकली रहती थी कि एक साथ ही नाटक, कविता, इतिहास, लेख, उपन्यास आदि अनेक चीजें लिखना आरम्भ कर देते थे। इसी कारण उनकी अनेक कृतियाँ अधूरी रह गईं।

भारतेन्दु ने अपने उपन्यासों और आख्यायिकाओं के लिये पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक क्षेत्र से वस्तु चयन किया। इनके पूर्व परियों अथवा राजकुमार और राजकुमारियों की चमत्कारपूर्ण शृङ्गारिक कथा-कहानियाँ ही प्राप्त होती हैं। इनकी उपेक्षा कर उन्होंते मानव को नई चेतना देने वाली वस्तु को ही विशेष रूप से अपने नाटकों की भाँति उपन्यासों का

भी आधार बनाया। उपन्यासों की भाषा भी सरल, प्रचलित और मँजी हुई होती थी। भाषा को जहाँ वे एक ओर सरल रूप देने के पक्षपाती थे वहाँ दूसरी ओर उसे परिमार्जित कला रूप देने में भी सचेत रहते थे।

रामलीला—यह गद्य-पद्य मय उपन्यास है। इसमें अयोध्याकांड तक की कथा का चलती भाषा में वर्णन किया गया है आज की दृष्टि से देखने में यह हमको उपन्यास नहीं प्रतीत होता।

हम्मीरहठ—इस उपन्यास का केवल वे एक ही परिच्छेद लिख पाये थे कि बीच में ही वह रुक गया।

राजसिंह—यह वंकिमचन्द कृत बँगला उपन्यास है। इसका अनुवाद भारतेन्दु ने आरम्भ किया था, किन्तु यह भी अधूरा रह गया, जिसे बाद में राधाकृष्णदास ने पूरा किया।

एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती—इसमें सम्भवतः भारतेन्दु अपने जीवन के कटु अनुभवों का संस्मरण लिख रहे थे। किन्तु यह भी अपूर्ण रह गया। यह आत्मकथात्मक सरल शैली में लिखा गया है। इसकी भाषा व्यंगात्मक है। इसका विस्तृत अध्ययन हम निबन्धों के प्रकरण में कर आए हैं।

मदालसोपाख्यान—यह उपन्यास पूरा छपा हुआ प्राप्त होता है। बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि—"भारतेन्दुजी ने एक भी पूरा उपन्यास नहीं लिखा।" हो सकता है कि बाद में इसे किसी ने पूरा किया हो। राधाकृष्ण दास ने भारतेन्दु के लिखे उपन्यासों की सूची में इसे गिनाया है। यदि यह डा० केसरी नारायण शुक्ला द्वारा संग्रहीत निबन्धों में परिगणित 'मदालसो-पाख्यान' ही है तो यह उपन्यास नहीं प्रतीत होता। यदि कोई और कृति है तो उस सम्बन्ध में उसकी खोज होने की आवश्यकता है।

सुलोचना और सावित्री चरित्र का भी बा० राधाकृष्णदास ने उल्लेख किया है; किन्तु इनके सम्बन्ध में उन्होंने अपना सन्देह भी प्रकट कर दिया है।

इनके अतिरिक्त 'शीलवती' और 'चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकास' भी इनके लिखे बताये जाते। बा० ब्रजरत्नदास ने इन्हें अनुवादित बताया है। किन्तु खंग विलास प्रेस से प्रकाशित इस उपन्यास पर लेखक के रूप में भारतेन्दु का नाम छपा है। यह मूल मराठी से अनुवादित है। इसका कथानक सामाजिक

है और इसमें लड़के लड़कियों की शिक्षा पर जोर दिया गया है। इसमें एक बूढ़े का नवयुवती से विवाह करने पर उस पर व्यंग किया गया है और उसका मजाक बनाया गया है और अन्त में यह विवाह नहीं हो पाता। इसमें समाज सुधार की प्रगतिशील चेतना दी गई है।

गद्य-गीत

—!!!*!!!—

हिन्दी साहित्य में गद्य गीतों का जन्म हिन्दी की गद्य-शैली के जन्म-विकास-निखार के साथ साथ ही हुआ है। इसके परम्परा-पृष्ठ पर संस्कृत की मधुर, सरस, भावात्मक गद्य की भाषा-शैली थी। छान्दोग्योपनिषद्, वृहदारण्यकोपनिषद्, तथा दण्डी के दशकुमार चरित् और बाण की कादम्बरी की सरस, मधुर, भावुकतापूर्ण प्रवाहशील भाषा में आधुनिक गद्य-गीतों की भाषा-माधुरी, सरसता और भावुकतापूर्ण प्रवाहशीलता के स्रोत खोजे जा सकते हैं। किन्तु गद्य-गीतों की शैली का रूप कहाँ और किस स्रोत से हिन्दी में विकसित हुआ, यह एक खोज का विषय है।

वेदों में ईश्वर के प्रति भावुक अभिव्यक्ति के स्थल आते हैं। हिन्दी-साहित्य के रहस्यवादी काव्य की परम्परा भी अनन्त, अज्ञात् प्रियतम को सम्बोधित कर हृदयोद्‌गारों को अभिव्यक्त करने की रही है। हिन्दी गद्य-गीतों में भी अज्ञात् ईश्वर-रूप-प्रियतम को सम्बोधित कर सरस, मधुर, भावुक गद्य में हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति की परम्परा रही है। हिन्दी गद्य के जन्म के साथ काव्य की वह रहस्यवादी परम्परा गद्य में भी अभिव्यक्ति प्राप्त करने लगी।

मध्ययुगीन भक्ति-भावना की भी यह देन हो सकती है। भक्ति काव्य की भावुक अभिव्यक्ति ने गद्य शैली के रूप में सम्भवतः गद्य-गीतों को जन्म दिया हो।

अस्तु यह कहा जा सकता है कि अज्ञात् ईश्वर-रूप-प्रियतम को सम्बोधन कर पद्य रूप में अभिव्यक्त भावनाओं की परम्परा ने गद्य-शैली के विकास के साथ-साथ हिन्दी में गद्य-गीतों की शैली को जन्म दिया है। गद्य-गीतों को रहस्यवादी कविता की भाँति रहस्यवादी गद्य कहा जा सकता है।

संस्कृत से इस शैली की भाषा-रूप के स्रोत ही खोजे जा सकते हैं। संस्कृत में भी गद्य गीतों की कोई विशिष्ट शैली नहीं थी। हिन्दी में इसका विकास सर्वथा मौलिक ही कहा जा सकता है।

भारतेन्दु कृष्ण-भक्त कवि थे। उनके समस्त गद्य-गीत कृष्ण को प्रियतम रूप में सम्बोधन कर लिखे गए हैं। जब मनुष्य अपने प्रिय के प्रति इतना भावुक हो जाता है तो उसकी भावना का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और उसका ईश्वर के साथ तदाकार हो जाता है और हृदय की भावधारा उमड़ पड़ती है। वही भावधारा हमें भारतेन्दु के गद्य-गीतों में देखने को मिलती है।

जिस समय भारतेन्दु ने गद्यगीत लिखने आरम्भ किए थे, उस समय तक इस शैली के सम्बन्ध में किसी अन्य भाषा का प्रभाव हिन्दी पर नहीं पड़ा था। अस्तु भारतेन्दु के गद्य-गीतों की शैली उनकी अपनी मौलिक शैली कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह भी विवादास्पद है और खोज की वस्तु है कि जिस समय भारतेन्दु ने अपने गद्य-गीत लिखे थे, उस समय इन्हें एक शैली के रूप में माना गया था या नहीं और या इस शैली का नामकरण आगे चलकर हुआ! या उस समय यह भावना प्रधान गद्य के रूप में ही माने जाते थे!

हिन्दी में मधुर भावुक भाषा में लिखने की शैली का रूप तो हमें 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा 'प्रेमसागर' में भी मिलता है, पर उसे गद्य-गीत नहीं कहा जा सकता, वह मधुर सरस भाषा में लिखा गया गद्य ही है।

गद्य-गीतों के लक्षण हैं—

१—गीतों की भाँति इसमें भी एक सम्पूर्ण भाव कुछ पंक्तियों में अभिव्यक्त हो जाता है।

२—इसकी भाषा सरस, मधुर, और भावना प्रधान होती है।

३—इसमें किसी अनन्त प्रियतम को सम्बोधन कर हृदयाभिव्यक्ति होती है।

४—इसकी भाषा में गीतों की सी प्रवाह शीलता होती है।

यह चारों लक्षण भारतेन्दु के गद्य-गीतों में प्राप्त होते हैं, भले ही उन्हें उस समय मान्यता प्राप्त न हुई हो। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने भारतेन्दु के गद्य-गीतों को इतिहास में स्थान नहीं दिया है। कुछ आलोचकों ने अवश्य उन्हें मान्यता दी है।

यह सही है कि भारतेन्दु ने भी उन्हें सम्भवतः एक स्वतन्त्र शैली के रूप में नहीं लिखा था। उन्होंने उन्हें अपनी रचनाओं के भावुक समर्पण या

भूमिका के रूप में लिखा था। फिर भी वे आधुनिक गद्य-गीत की शैली का रूप प्रस्तुत करते हैं; इसलिए हमें हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्हें गद्य-गीतों के विकास क्रम की प्रथम सीढ़ी मानना चाहिए।

उनकी कविता संग्रहों—प्रेम सरोवर, प्रेमा-श्रवर्षण, जैन कुतूहल, होली, फूलों का गुच्छा, प्रेम-फुलवारी तथा नाटकों—पाखंड विडम्बन, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, धनंजय विजय, सत्य हरिश्चन्द्र, तथा चन्द्रावली के जो समर्पण या भूमिकाएं हैं उन सबको उनके गद्य-गीत साहित्य का माना जा सकता है।

भारतेन्दु के गद्य-गीत गद्य-गीतों की कसौटी पर खरे उतरते हैं यह परखने के लिए हम यहाँ पर उनके कुछ उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

''आज अक्षय तृतीया है, देखो जल-दान की आज कैसी महिमा है! क्या तुम मुझे फिर भी जल-दान दोगे? कहाँ! वरंच जलांजलि दोगे; देखो कैसा प्यासा हूँ और प्यास में भी चातकाभिमानी हूँ। हाँ! जिस चातक ने एक श्यामघन की आशा पर परिपूर्ण समुद्र और नदियों तथा अनेक उत्तम मीठे-मीठे सोते, झील, कूप, कुंड, बावली और झरनों को तुच्छ करके छोड़ दिया उसे पानी बरसना तो दूर रहे, जो मधुर घन की ध्वनि भी न सुन पड़े तो कैसे प्रान बचे?' · · '' (भारतेन्दु ग्रन्थावली, खण्ड २ पृ० १०१--समर्पण प्रेम सरोवर)

''कितव,

यह प्रेमाश्रु की वर्षा है। इससे नहा के मुझे छुओ, क्योंकि बहुत धूर्तता करने से तुम अशुद्ध होगए हो। क्या कहूँ बहुत कुछ कहने को जी चाहता है और लेखनी कहनी-अनकहनी सभी कहना चाहती है, पर क्या करे, अदब का स्थान है, इससे चुप है और चुप रहेगी। हाय, हाय, कभी मैं इस दुष्ट लेखनी को अपने प्यारे जीवितेश, मेरे सर्वस्व की कुछ निन्दा कैसे लिखने दूँगा। और जो लिखा भी हो तो क्षमा करना।

यह बखेड़ा जाने दो आज क्यों नहीं मिले?

ले इन्ही लक्षणों से तो कुछ कहने को जी चाहता है। न कहूँगा, रूटने का डर तो सबसे बड़ा है न! जैसा कुछ हूँ, बुरा भला तुम्हारा हूँ। लो इस वर्षा से जी बहलाओ पर प्यारे, तुम भी कभी बरसो।

बरसि नदी नदसर समुद पूरे करुना-भौन।
हम चातक लघु चंचु-पुट पूरन में श्रम कौन॥"
(वही पृ० ११०—'प्रेमाश्रु वर्षण' का समर्पण)

"मेरे प्राण प्रिय मित्र !

क्या तुमने यह नहीं सुना है "रिक्त पाणिनपश्ये द्वै राजनं भेषजं गुरु" अर्थात् राजा और वैद्य और गुरु को कोरे हाथों नहीं देखना। तो मैं आज अनेक दिन पीछे तुम्हारा दर्शन करने आया हूँ, उससे यह "फूलों का गुच्छा" तुम्हारे जी बहलाने के लिए लाया हूँ जो अङ्गीकार करो तो परिश्रम सफल हो। यह मत सन्देह करना कि मैं राजा व वैद्य वा गुरु इनमें कौन हूँ, क्योंकि मेरे तो तुम्हीं राजा और तुम्हीं वैद्य और तुम्हीं गुरु हो।!' (वही; पृ० ५५८ 'फूलों के गुच्छे' का समर्पण।)

"मेरे प्यारे.

तुम्हें कुंजों वा नदियों के तटों पर फिरते प्रायः देखा है और इससे निश्चय होता है कि तुम बड़े सैलानी हो। पर यों मन-मानी सैल करने में तुम्हारे कोमल चरनों में जो कंकरिया गड़ती हैं, वह जी में कसकती हैं। इससे मैंने रच रच कर यह फुलवारी बनाई है, सींचते रहना, यह भला मैं किस मुँह से कहूँ। पर जैसे इधर-उधर सैल करते फिरते हो, वैसे ही कभी कभी भूले भटके इस फुलवारी में भी आ निकलोगे तो परिश्रम सफल होगा।" (वही; पृ० ५७६—'प्रेम फूलवारी' का समर्पण)

"मेरे प्यारे !

भला इससे पाखंड का विडम्बन क्या होना है ? यहाँ तो तुम्हारे सिवा सभी पाखंड है, क्या हिन्दू क्या जैन ? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाए मन की प्रवृत्ति ही क्यों है, तुम्हें छोड़कर मेरे जान सभी झूँटे हैं, चाहे ईश्वर हो, चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इंजील। तो इससे यह शङ्का न करना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह उलथा किया है, क्योंकि सब तुम्हारा है। इस नाते से तो सभी अच्छा है और तुमसे किसी से सम्बन्ध नहीं इस नाते सभी बुरे हैं। इन बातों को जाने दो।

क्यों जी इतने निष्टुर क्यों हो गए हो ? क्या तुम नहीं हो ? इतने दिन पीछे मिलना उस पर भी आँखें निगोड़ी प्यासी ही रहें। मुँह न छिपाओ, देखो, यह कैसा सुन्दर नाटक का तमाशा तुमको दिखाता हूं क्योंकि जब तुम अपने नेत्रों को स्थिर करके यह तमाशा देखने लगोगे तो मैं इतना ही अवसर

पाकर तुम्हारी भोली छवि चुप-चाप देख लूँगा।" (भारतेंदु ग्रंथावली भाग १ पृ० ५०—पाखण्ड-विडम्बन का समर्पण)

"प्यारे !

मैं तुम्हें क्या तमाशा दिखाऊँगा, हाँ धन्यवाद करूँगा क्योंकि निस्संदेह तुमने ऐसा तमाशा दिखाया कि सब कुछ भूल गया। अहा! स्त्री-पुरुष, पण्डित-मूर्ख, अपना बिगाना और छोटे बड़े सबका तमाशा देखा पर वाह ! क्या ही तमाशा है—तमाशा तो है पर देखने वाले थोड़े हैं, न हो तुम देखो मैं देखूँ, उन्हीं तमाशों में से यह भी एक तमाशा है, देखो !

चश्मै मन् बर चश्मेत् चश्मात् तू जाए दिगर।
मन तमाशाए तू बीनम् तमाशाए दिगर ॥१

"प्यारे !

लो, तुम्हारी चन्द्रावली तुम्हें समर्पित है। अंगीकार तो किया ही है, इस पुस्तक को भी उन्हीं की कानि से अङ्गीकार करो। इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है। हाँ, एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि यह प्रेम की दशा छापकर प्रसिद्ध की गई है। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो अधिकारी नहीं हैं उनकी समझ में ही न आवेगा।

तुम्हारी कुछ विचित्र गति है। हमी को देखो। जब अपराधों को स्मरण करो तब ऐसे कि कुछ कहना ही नहीं। क्षण भर जीने के योग्य नहीं। पृथ्वी पर पैर धरने को जगह नहीं। मुँह दिखाने लायक नहीं। और जो यों देखो तो ये लंबे लंबे मनोरथ। यह बोल चाल। यह ढिठाई कि तुम्हारा सिद्धाँत कह डालना। जो हो, इस दूध खटाई की एकत्र स्थिति का कारण तुम्हीं जानो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसे हों तुम्हारे बनते हैं। अतएव क्षमा समुद्र ! क्षमा करो। इसी में निर्वाह है। बस—"२

उपरोक्त उद्धरणों से भारतेन्दु के गद्य गीतों की भाषा-माधुरी, भावुकता आदि का पता लग जाता है और यह कि वे गद्य-गीतों की कसौटी पर खरे उतरते हैं। ये गद्य-गीत भले ही कलात्मक रूप से सुन्दर न हों फिर भी ये हिन्दी गद्य-गीत की शैली का आरम्भिक रूप प्रस्तुत करते हैं, इस दृष्टि से

१ (वही; पृ० ६८—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का समर्पण)
२ (वही; पृ० ४११—चन्द्रावली का समर्पण)

इनका महत्व अपार है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु के उन समर्पणों ने आधुनिक गद्य-गीत की शैली को जन्म दिया है। यह रचनाओं के समर्पण के रूप में लिखे गए हैं; अस्तु अपनी रचनाओं के प्रति भारतेन्दु के स्वयं क्या विचार थे, इस पर भी इनसे प्रकाश पड़ जाता है। इनसे भारतेन्दु की मधूर गद्य लिखने की शक्ति का भी पता चलता है।

—::०::—

पत्र पत्रिकायें

— * —

अनेक कलाकार केवल कलाकार होते हैं, भले ही उनके काव्य में युग विधायक तत्व हों, पर भारतेन्दु कलाकार होने के साथ साथ बहुमुखी युग नेता भी थे। उन्होंने समाज में, साहित्य में और राष्ट्रीय जागरण में अपना नेतृत्व प्रदान किया था। साहित्यिक प्रतिभा के साथ साथ उनमें वे व्यवहारिक प्रतिभाएँ भी थीं जो एक नेता में होनी चाहिए। सत्रह वर्ष की आयु में ही उन्होंने समय की गति को देख-परख कर यह समझ लिया था कि यदि राष्ट्रीय उत्थान की गति को आगे बढ़ाना है, तो जनता को सांस्कृतिक और राजनैतिक रूप से चेतन करना—पहला काम है; और उसका मात्र रास्ता है—प्रचार; और उसका अस्त्र हैं—पत्र पत्रिकाएँ। इस छोटी सी आयु मैं पत्र-प्रकाशन पर उनकी दृष्टि जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि वे जनजागरण के प्रति कितने सचेत थे, और उसे ही सर्वोपरि स्थान देते थे, और उसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने नाटकों और कविताओं को सफल साधन बनाना चाहते थे।

पत्र-पत्रिकाएँ जन-जीवन को प्रभावित और उद्वेलित करने में कितना महत्व पूर्ण स्थान रखती है, इस बात की ओर उनका ध्यान सबसे पहले गया था। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने अपना प्रथम पत्र 'कविवचन सुधा' निकालना आरम्भ किया था। इस पत्र के प्रकाशन से ही उनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ होता है। यह हम पहले ही कह आए हैं कि वे साहित्य का महत्व 'स्वान्तः सुखाय' की संकुचित सीमा से बाहर जीवन की उपयोगिता के लिए समझते थे। इस मानी में वे एक जनवादी कलाकार थे। साहित्य जनता तक ले जाना, जनता के लिए साहित्य लिखना, और जनता की भावनाओं को ही साहित्य में व्यंजित करना, उनके जीवन का महती कार्य था और इस उद्देश्य की पूर्ति उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से की। उन्होंने न सिर्फ स्वयं पत्र प्रकाशित किए, वरन् अन्य साथियों को भी पत्र-प्रकाशन के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन तथा प्रकाशन में

अपने सहयोग से जो कार्य किया उसे अध्ययन के लिए हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

१—पत्रों के द्वारा उन्होंने जनता को नई चेतना का सन्देश दिया।

२—जनता में साहित्यिक रुचि उत्पन्न कर उसका साँस्कृतिक संस्कार किया।

३—नये लेखकों को जन्म दिया तथा साहित्य संवर्धन कर भाषा का परिमार्जन किया और साहित्य को व्यापकत्व प्रदान किया। उनके सहयोग से हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में पत्र पत्रिकाओं की एक धूम सी मच गई।

इनका प्रकाशित एवं स्वसम्पादित सबसे पहला पत्र 'कविवचन-सुधा था। यह पहले मासिक, फिर पाक्षिक और फिर साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता रहा। इसके मुख पृष्ट पर निम्न लिखित-वाक्य छपता था—

"खल जनन सों सज्जन दुखी मति होहिं हरि पद रति रहैं।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै कर दुख बहैं।
कुल तजहिं मत्सर नारिनर सम होहिं जग आनन्द लहैं।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं॥"

इस सिद्धांत वाक्य से पत्र का सर्वतोमुखी उद्देश्य स्पष्ट है। इसमें 'तजि ग्राम कविता' जो कहा गया है, इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि वे ग्राम गीतों के विरोधी थे। यहाँ ग्राम कविता से अभिप्राय कला-विहीन कविता से है। इस पत्र में प्राचीन, नवीन कविताएँ सामयिक विषयों पर लेख, नाटक आदि प्रकाशित होते थे। यह जनता की नयी चेतना का अग्रदूत था। राधाकृष्ण गोस्वामी जैसे लेखक के हृदय में उसी पत्र के द्वारा नयी चेतना का संचार हुआ था। इसी प्रकार इस पत्र ने नये लेखकों को जन्म देने तथा साहित्य संवर्धन में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया था। पर यह पत्र नियमित रूप से प्रकाशित न हो सका। भारतेन्दु ने कुछ समय बाद इसे पं० चिंतामणि को सौंप दिया था; किन्तु उनके हाथों में जाकर यह पत्र अपने उद्देश्य से नीचे गिर गया, और इसका कलेवर भी वह न रहा जो भारतेन्दु के सम्पादन काल में था। थोड़े दिन तक तो भारतेन्दु इस पत्र में लेखादि देते रहे, पर बाद में उन्होंने इसमें लेख देना भी छोड़ दिया था।

इस पत्र के पश्चात् सन् १८७३ के अक्टूबर से भारतेन्दु ने एक दूसरा पत्र 'हरिचन्द मैगज़ीन' के नाम से प्रकाशित करना आरम्भ किया। भारतेन्दु इसी मैगज़ीन के प्रकाशनारम्भ से 'नयी हिन्दी' का आरम्भ मानते हैं। इस

मैगज़ीन में साहित्य, विज्ञान, राजनीति, धर्म, इतिहास, नाटक, उपन्यास, कविता, पुरातत्व, हास्य-विनोद, सब प्रकार की रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। इस मैगज़ीन के मुख पृष्ठ पर निम्न मोटो छपता था—

"A monthly gournal published in connection with the Kavi Vachan Sudha containing articles on Literary, Scientific, Political and Religious subjects, antiquities, reviews, gramar, history, novels, poetical, selection, gossip, humour and wits."

'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के नाम से इस पत्रिका के आठ अङ्क प्रकाशित हुए। इसके बाद उस मैगज़ीन का नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया और फिर उसके मुख पृष्ठ पर निम्न कविता मोटो रूप से प्रकाशित होने लगी—

"विद्वत्कुलामलस्वांत कुमुदामोददायिका।
आर्यज्ञान-तमोहंत्री श्रीहरिश्चन्द्र चन्द्रिका॥
कविजन-कुमद-गन हिय विकासि चकोर,
रसिकन सुख भरै।
प्रेमिन सुधा सों सींचि भारत भूमि,
आलस तम हरै।
उद्यम सुऔषधि पोखि विरहिन ताप,
खल चोरन दरै।
हरिश्चन्द्र की यह चन्द्रिका परकास,
जग मंगल करै॥"

इस पत्रिका के सन् १८७४ के नवम्बर मास के अङ्क में इकत्तीस सहायक सम्पादकों के नाम छपे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इसे देश के अनेक विद्वानों के सहयोग का गौरव प्राप्त था। इस पत्रिका को स्वामी दयानन्द और ईश्वरचन्द जैसे विद्वानों और समाज-सेवियों का भी सहयोग प्राप्त था। इसने अपने चारों ओर विद्वानों और लेखकों का एक मण्डल एकत्रित कर लिया था।

सन् १८८० में भारतेन्दु ने इस पत्रिका के सम्पादन का भार प्रसिद्ध इतिहासकार पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को सौंप दिया था और तब यह पत्रिका 'मोहन चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। किन्तु पंड्या जी इसे सुचारु रूप से न चला सके; अस्तु भारतेन्दु १८८४ से पुनः इसे 'नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित करने लगे। इसके दो ही अंक

निकल पाये थे कि भारतेन्दु का स्वर्गवास हो गया।

भारतेन्दु ने स्त्रियोपयोगी एक पत्रिका 'बालबोधिनी' नाम से प्रकाशित की थी। इसका प्रकाशन जनवरी सन् १८७४ से आरम्भ हुआ था। इसमें स्त्रियों के सम्बन्ध में लेखादि के अतिरिक्त साहित्यिक लेख नाटक, कविता आदि भी प्रकाशित होते थे। इसके मुख पृष्ठ पर उद्देश्य वाक्य छपता था—

"जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष यामैं कछु न विभक्ति॥
सीता, अनसुइया, सती, अरुन्धती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण लहौ सकल जग नारि॥
पितु, पति-सुत करतल कमल लालित ललना लोग।
पढ़ैं; गुनैं, सीखैं, सुनैं, नासैं सब जग सोक॥
वीर प्रसविनी बुध बधू होइ हीनता खोय।
नारी नर अरधंग की साँचेहि स्वामिन होय॥

इस पद्यांश से भारतेन्दु के नारी समुदाय के सम्बन्ध में प्रगतिशील विचारों का परिचय मिलता है। भारतीय नारी अरसे से समाज में पुरुष द्वारा शासित रही है। भारतेन्दु ने उसे नर की समानता में ठहराकर नारी मुक्ति का नारा दिया था, जिसके लिए हमारे देश की नारियाँ आज भी संघर्ष कर रही हैं। इस पत्रिका में सरल भाषा में स्त्रियों को सुगृहणी बनाने के लिए सुन्दर उपदेशपूर्ण निबन्ध होते थे—

"हे सुमति! जब बालक तुम्हारा भली प्रकार बातचीत करने लगे तो उसको वर्णमाला याद कराती रहो। फिर उन्हीं को पट्टी पर लिखके अभ्यास कराओ और रातों को गिनती और सुन्दर सुन्दर श्लोक वा छोटे स्तोत्र याद कराओ। इस व्योहार में कई एक सुन्दर बातें प्राप्त होंगीं। प्रथम तो बालक को खेल ही खेल में अक्षर ज्ञान हो जावेगा, दूसरे उसका काल भी व्यर्थ न जावेगा। फिर इस अवसर का पढ़ा-लिखा विशेष कर याद रहता है।"

यह पत्रिका चार वर्ष तक प्रकाशित होती रही। अन्त में अंग्रेजी सरकार की कोप दृष्टि के कारण इसे बन्द होना पड़। अंग्रेजों की यह अनीति देख कर भारतेन्दु ने म्यूनिसिपिल कमिश्नरी तथा आनरेरी मजिस्ट्रेटी से भी त्याग-पत्र दे दिया था।

उन्होंने इन पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी लेखकों का एक विशाल मंडल तैयार किया था और सब के हृदयों में देश-प्रेम और भाषा-प्रेम की लौ

लगाई थी। इन्हीं के प्रभाव से कार्तिक प्रसाद खत्री इन्हीं की तरह अपने तन-मन-धन से हिन्दी प्रचार में रत हो गए थे और वर्षों अपने धन को 'सदुपयोग' में व्यय करते हुए जंगलों की खाक छानकर हिन्दी भाषा का प्रचार करते रहे। उन्हीं के प्रभाव से बनारस, कलकत्ता, बम्बई और इनके बीच के प्रान्त से दर्जनों पत्र प्रकाशित होंने लगे। 'काशी पत्रिका' 'भारत जीवन', 'सरस्वती विलास', 'आर्यमित्र', 'तिमिर नाशक', आदि पत्र तो काशी से ही ही निकलने लगे थे। इनके अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' प्रयाग से 'प्रेम विलासिनी', कलकत्ता से, 'उचित वक्ता' आसाम से, 'हिंदुस्थान','दिनकर प्रकाश', 'हिन्दी बंगवासी', 'आर्यावर्त', 'रसिक पंच', काव्यमृत वर्षिणी, 'भारतभानु' आदि आदि अनेकों पत्र इनके सहयोग से प्रकाशित हुए जिन्होंने देश में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण की लहर उत्पन्न करने में सराहनीय कार्य किया था।

भारतेन्दु ने अपने पत्रों के द्वारा सम्पादन कला, और पत्रकारिता का जो नेतृत्व किया, उनके द्वारा जो साहित्य संवर्धन किया और भाषा परिष्कार किया तथा जनता में जो नई चेतना का उभार उत्पन्न किया, उसके लिए पत्र-के इतिहास में उनके पत्रों द्वारा किए गए कार्य का स्थान सदैव ऊँचा रहेगा।

—::०::—

भाग-४

काव्य खण्ड

प्रकृति चित्रण

—❀—

हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण की अपनी विशिष्ट और महान परम्परा है। हिन्दी के आदि कवि चन्द वरदाई से लेकर आज तक छोटे-बड़े सभी कवियों के काव्य में प्रकृति के सतरंगी आभायुक्त प्रांगण में नाना सुमनों की भाव-क्रीड़ा के दर्शन होते हैं।

प्रकृति और मानव-जीवन का सम्पर्क अनन्त काल से अनवरत चला आ रहा है और चलता जायगा। उसी के क्रोड़ में मानव जीवन उससे संघर्ष करता हुआ, उससे नाना वस्तुएँ ग्रहण करता अपने जीवन को संवारता सतत्‌गति से विकास करता रहा है। प्रकृति ने जहाँ मानव के वाह्य जीवन को सभ्यता के अनेक उपकरण प्रदान किए हैं; वहाँ प्रकृति ने मानव-मानस के नूतन नूतन भाव-प्रसून भी खिलाए हैं। उसके जीवन और विचारों में संस्कार और परिष्कार कर उसे संस्कृत बनाया है। उसने प्रकृति से राग-विराग, हर्ष-विषाद के सन्देश पाए हैं; करुणा, शान्त, रौद्र, भयानक आदि अनेक भाव प्राप्त किए हैं।

मानव, जीवन की नित नवीन मोड़ पर प्रकृति से नूतन भावों की प्रेरणा प्राप्त करता रहा है, और नये नये रूपों में प्रकृति उसे दिखाई पड़ती रही है। जब जब वह नये जीवन की नई मोड़ पारकर नये युग में पदार्पण करता है और नई सभ्यता और सस्कृति से अपने जीवन को सजाता है; तब वह प्रकृति अपना समस्त वैभव-भंडार लिए उसके वाह्य तथा अन्तस को आभूषित करने के लिए उद्यत रहती है। प्रकृति मनुष्य के भग्नाश हृदयों को भी निराश न हो सतत् संघर्ष से जीवन को गतिशील रखने का संबल और प्रकाश प्रदान करती रही है। आदि कवि बाल्मीक के मानस को प्रकृति ने ही हिल्लोलित कर भाव-सरणि प्रवाहित की थी, जो कवि के मुख से कविता-रूप से बह चली थी। तब से प्रकृति कविता का अभिन्न अंग बन गई, और काव्य में उसका चित्रण नाना रूपों, विविध रङ्गों, विभिन्न भावों में हुआ है।

बाल्मीक ने प्रकृति में अपने हृदय की करुणा का तादाम्य पाया और

उनके हृदय से करुण रस की धारा बह उठी। कालिदास ने उसमें योवन-तरंग की संयोग-लीला के भी दर्शन किए, और तापस-बाला शकुन्तला के हृदय में योवन तरंग उद्दीप्त हो उठी। भवभूति ने प्रकृति की विशालता और सुषमा के भी दर्शन किए और आलम्बन रूप में प्रकृति काव्य कानन में सुभासीन हो गई। जायसी ने प्रकृति में मानव सापेक्षता भी देखी, और वियोग और संयोग की रागिनी झंकृत हो उठी। तुलसी के काव्य में प्रकृति का मानव वृत्ति-संस्कारक-रूप में भी हमारे सामने आया। सूर ने रास लीला की सुरम्य कुंजों के रूप में उसे देखा, और वह संयोग में सुखदायिनी और वियोग दुखदायिनी बन गई। रीति कालीन कवियों ने प्रकृति का शृङ्गार सज्जित कामोद्दीपक सौदर्य-रूप देखा और शृङ्गार रस की धारा उमड़ पड़ी तथा प्रकृति नायक-नायिका की अभिसार कुंजे बन गई। भारतेन्दु ने प्रकृति का यथार्थ भौतिक मानव-परक प्रयोजनीय रूप भी देखा और उनके काव्य में प्रकृति अपने यथार्थ मानव उपयोगी रूप में चित्रित भी हुई है।

कवि प्रकृति चित्रण की गत-परम्परा के साथ-साथ अपनी प्रतिभा से उसमें नूतन रंगों से नूतन भाव-प्रसूनों का अंकन करता है। प्रत्येक महान काव्य-शिल्पी के प्रकृति चित्रण में प्राचीन परम्परा के निर्वाह के साथ-साथ अपनी विशिष्ट विशेषता भी होती है।

एक प्रकार से देखा जाय तो सभी कवियों ने प्रकृति को मानव उपयोगी रूप में ही देखा है, चाहे वीर-रस के उद्रेक में उसका उपयोग देखा हो, चाहे भक्ति-भाव अथवा शृङ्गार-रस के उद्दीपन में उसकी उपयोगिता देखी हो, और चाहे मानव के भौतिक उपयोग के रूप में देखा हो। भिन्न भिन्न कालों के दृष्टि भेद के कारण काव्य में प्रकृति चित्रण नाना रूपों में हुआ है।

मनुष्य ने आदिकाल से ही प्रकृति से संघर्ष कर उससे अपने जीवन की भौतिक उपयोगिता के साधन प्राप्त किए हैं, और प्रकृति का उपयोग अपने भौतिक जीवन को सुखी और समृद्धशाली बनाने में किया है। भारतेन्दु से पूर्व के कवियों की दृष्टि प्रकृति के इस रूप की ओर प्रायः नहीं गई है। भारतेन्दु ने प्रकृति के इस रूप को भी देखा, और प्रकृति-चित्रण की गत परम्परा पर चलते हुए उन्होंने प्रकृति के इस रूप का भी चित्रण किया है।

उस समय की जो राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ थीं उनसे

नूतन विचारों के संघर्ष से मानव जीवन के हर क्षेत्र में एक नवीनता आरही थी। एक नई चेतना का उदय हो रहा था और वह चेतना थी—विशाल मानव की चेतना, जो पुराने संकीर्ण घेरे को तोड़कर विशाल क्षेत्र में पदार्पण कर रहा था और जनता की भाव-धारा आकाश से नीचे उतार कर जीवन के ठोस सत्य से संघर्ष कर अपने लिए नया मार्ग बना रही थी। अस्तु मानव की कला में भी महान परिवर्तन आया और वह ठोस वास्तव-जीवन के और अधिक निकट आगई। साहित्य को भाषा तथा शिल्प के इस नये धरातल पर आसीन कर विकसित करना भारतेन्दु और उनके मंडल की सबसे बड़ी देन थी। इसलिए उन्हें नये युग का प्रवर्तक कहा जाता है। इस विषय पर हम पीछे उनके नाटकों और निबन्धों का विवेचन करते समय प्रकाश डाल आए हैं।

यही बात प्रकृति चित्रण के सम्बन्ध में भी है। प्रकृति अब मानव के ठोस जीवन के निकट की वस्तु होकर काव्य में चित्रित होने लगी। जिस प्रकार हम भारतेन्दु के समस्त साहित्य में दो धाराएँ पाते हैं—परम्परागत और नूतन; उसी प्रकार उनके प्रकृति चित्रण में भी स्पष्ट रूप से दो धाराएँ लक्षित होती हैं।

भारतेन्दु युग सक्रान्ति युग था। उस युग के पृष्ठ पर काव्य में प्रकृति चित्रण की परम्पराभुक्त रीति कालीन शृङ्गार परक धारा थी। इस धारा के प्रवाह से भी भारतेन्दु का बच सकना सम्भव न था और तब, जब कि वे स्वयं दरबारी संस्कारों में पले थे। अस्तु जहाँ हम उनमें एक ओर प्रकृति चित्रण में नई चेतना-परक दृष्टि देखते हैं, वहाँ उनकी कविता में पुरानी परिपाटी का चित्रण भी हमें देखने को मिलता है। और उसका पलड़ा ही भारी है।

अध्ययन की दृष्टि से हम दोनों का विश्लेषण अलग अलग ही प्रस्तुत करेंगे।

परम्पराभुक्त रूप—प्रकृति चित्रण का परम्पराभुक्त रूप विशेषतः उद्दीपनकारी रहा है और भारतेन्दु का परम्पराभुक्त चित्रण भी सर्वथा उद्दीपनकारी ही रहा है। वह उनके नायक-नायिका कृष्ण-राधा के संयोग-वियोग-प्रसूत राग-विरागों की संगिनी है।

भारतेन्दु की चन्द्रावली कृष्ण वियोग में विह्वल हो जायसी की नागमती तुलसी के राम और सूर की गोपियों की भाँति वृक्षों से अपने प्रियतम की बात पूछती है—

"अहो अहो बन के रुख,
कहूँ देख्यो पिय प्यारौ;
मेरो हाथ छुड़ाय,
कहौ वह कितै सिधारौ।'

प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति को अपने नायक-नायिका के वियोग-जनित दुख का साथी बनाया है और उससे सन्देश वाहक का काम लिया है। कालिदास ने मेघों से, जायसी ने पक्षी से, सूर ने भौंरे से और भारतेन्दु ने वायु, भँवर, सारस, राजहंस, कोकिल और सूर्य आदि तक से सन्देश वाहक का काम लिया है—

'अरे पौन सुख भौन सबै तल गौन तिहारौ;
क्यों न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारौ।
अहे भँवर तुम श्याम रंग मोहन ब्रत धारी;
क्यों न कहौ वा निठुर श्याम सो दसा हमारी।
अहे हंस तुम राजबंस सरवर की सोभा;
क्यों न कहौ मेरे मानस सों यों दुख के गोभा।
हे सारस तुम नीके बिछुरन वेद न जानौ;
तौ क्यों नहिं मेरे पीतम सों मेरी दसा बखानौ।
हे कोकिल-कुल तुम श्याम रंग के अनुरागी;
क्यों नहिं बोलहु तहँ जाय जहँ हरि बड़भागी।
हे पपिहा तुम पिउ-पिउ पिय-पिय रटत सदाई;
आजहु क्यों नहिं रटि-रटि के पिय लेहु बलाई।
अहे भानु तुम तो घर-घर में किरिन प्रकासो;
क्यों नहिं पियहिं मिलाइ हमारो दुखतम नासो

सूर और जायसी की परम्परा में प्रकृति में वियोग जनित दुख की प्रतिछाया देखने के तो उदाहरण भारतेन्दु के काव्य में जहाँ तहाँ अनेक स्थलों पर बिखरे पड़े हैं।

प्रकृति वियोग-दुख की सहचरी ही नहीं है, वरन् सुख की वर्धक भी है। बिहारी की नायिका की ही भाँति भारतेन्दु की नायिका का भी सौन्दर्य प्रकृति के साहचर्य से उद्भासित हो उठता है—

"ऊनरी घटा में देखि दूनरी लगी है अहा;
कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गौरे पै।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सत्य है कि भारतेन्दु का हृदय प्रकृति के सौन्दर्य में अधिक नहीं रमा था। वे तो राधा-कृष्ण के मांसल सौन्दर्य में ही अधिक विभोर रहे-विद्यापति की तरह। यदि कहीं प्रकृति चित्रण मिलता भी है, तो राधा तथा अन्य गोपियों के मन में कृष्ण के प्रति शृंगार भावना के संयोग-वियोग-प्रसूत सुख-दुख के उद्दीपन के रूप में या राधा-कृष्ण के रास-बिहार के प्रसाधन जुटाने के रूप में। प्रकृति का यह रूप प्रेमाश्रु वर्णन, मधुमुकुल, वर्षा विनोद आदि संग्रहों में वर्णित हुआ है। ऋतुओं में भारतेन्दु ने शिशिर, हेमन्त, बसन्त; और पावस आदि तथा महीनों में फागुन और सावन को ही विशेष रूप से अपने प्रकृति चित्रण का विषय बनाया है। उनका मूल अभीष्ट प्रकृति-चित्रण नहीं था, वरन् राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के संयोग-वियोग पक्षों का वर्णन था। इसीलिए स्वभावतः उनके प्रकृति-चित्रण में उन्हीं ऋतुओं और महीनों को विशेष स्थान मिला है, जो विशेष रूप से प्रेमी-युगल के हृदयों को उद्दीप्त करने वाले होते हैं।—

'भई सखि साँझ फूल रही बन द्रुम बेलि,
चलै किन कुंज कुटीर।
हरे तरोवर भये सुनहरे,
छिरकी मनहुँ अबीर।
झुकि रहे रंग रंग के बादर,
मनु सुखए बहु चीर।
+ + +
हरीचन्द इक तुव बिनु फीकौ,
सब मानत बलबीर।

सान्ध्य बेला के मिस सखी नायिका को प्रिय की याद दिलाती है और उसे प्रिय के पास जाने के लिए उद्दीप्त करती है। प्रकृति जहाँ नायिका के हृदय में प्रिय से मिलन की लालसा जागृत करती है, वहाँ उसके पास जाने का मार्ग भी प्रशस्त करती हैं।

'सखी री साँझ सहायक आई,
मेट्यो भय बैरी प्रकास को, सब कुछ दीन दुराई॥

+ + +

गरज बुलावत तोहि चंचला, चमकत राह दिखाई।
औरन को चकचौंधा लावत, तेरी करत सहाई॥
तैसेहि झींगुर झनकत नूपुर जासों नाहिं सुनाई।
वायु सुखद ता दिसि तोहिं भेजत तरु हिल रहत बुलाई॥

+ + +

हरीचन्द चलि उत किन भामिन रहु पिय अंकम लाई॥

काव्य में प्रायः नायिका का पद नायक की विवाहिता पत्नी नहीं अपितु अन्य सुन्दरी ही पाती रही है। इसके पीछे सामन्तीशौर्य प्रदर्शन की भावना हो तो आश्चर्य नहीं। परकीया से छुप छुप कर प्रेम करना विशेष आनन्द का विषय समझा जाता रहा है। वीर गाथा काल में पुरुष की रुमानी शौर्य प्रदर्शन की भावना का प्रदर्शन युद्ध में स्त्रियों को जीतकर लाने के वर्णन से प्रकट हुआ। भक्तिकाल के सूर साहित्य और रीतिकाल के शृङ्गार साहित्य तथा इसके भी पूर्व विद्यापति में यह भावना परकीया प्रेम के रूप में प्रकट हुई, जो नायक-नायिका के अपने प्रेम के हेतु लोक-लाज, समाज-बन्धन आदि को उत्सर्ग के वर्णन से प्रकट हुई है। यह परम्परा साहित्य में इतनी विकसित हुई कि नायिका का पर स्त्री होना एक काव्य-लीक सा बन गया, और यह लीक इतनी गहरी बनी की उसने भक्ति में भी प्रवेश पा लिया, वरन् यों कहा जाय कि वह भक्ति की धारा से ही जन्मी है। इसीलिए इस प्रकार के साहित्य के विषय में वर्तमान आलोचकों के दो मत होगए हैं। एक पक्ष तो ऐसे साहित्य को भक्ति के नाम पर अश्लीलता के पोषक साहित्य की संज्ञा देता है और दूसरा पक्ष इसे शुद्ध भक्ति का साहित्य कहता है। वैसे तो यदि भारतीय भक्ति आन्दोलनों का इतिहास देखा जाय तो प्रायः हर धर्म-मार्ग का अन्त अश्लीलताओं में ही जाकर हुआ है और वह भी विशेषकर विकृत कामवासनाओं की अश्लीलता में और ऐसे समय भी रहे हैं जब इन अश्लीलताओं को अश्लीलता नहीं समझा जाता रहा है। इतिहास इसका साक्षी है।

भारतेन्दु इस काव्य परम्परा के ही कवि थे जिसमें नायिका पर स्त्री ही होती थी। अस्तु उसे अपने प्रिय के पास समाज की आँख बचाकर ही जाना होता था। जिस प्रकृति ने नायिका को प्रिय का स्मरण दिलाया और प्रिय के पास पहुँचने तक का मार्ग प्रशस्त किया, वही प्रकृति प्रिय के पास उसके पहुँच

जाने पर अधिक सुखदायी प्रतीत होती है।

'बिहरत रस भरि लाल बिहारी।
ज्यों ज्यों घन गरजत हैं,
त्यों त्यों लपट रहत पिय प्यारी।
होड़ा होड़ी घन दामिन सों,
केलि करत सुख कारी।
बोलत मोर दामिनी चमकत,
लखि उमगत रस भारी॥'

ऐसे सुखकारी संयोग के समय नायिका का दमकती दामिनी के प्रति उपालम्भ कितना स्वाभाविक है—

'दामिन बैर करै बिनु बात,
बिघन बनत बिनु बात कुंज में जब कबहूँ चमकात।
निधरक जुगल रहन नहिं पावत, प्रगटावत रस बात,
हरीचन्द आखिर तौ चपला सहि नहिं सकत सिहात॥"

संयोग में जो बादल सुखदाई थे, वे ही वियोग में दुखदाई हो जाते हैं—

'सखि ये बदरा बरसन लागे री।
मोहि मोहन पिय बिनु जानि जानि,
झुकि झुकि कैं सरसन लागे री॥'

भारतेन्दु ने ऋतु वर्णन भी किया है, पर वह संयोग-वियोग में उद्दीपन के हेतु हुआ है—

"रितु सिसिर अति ही सुदेश.
सूचित बसंत भावी प्रवेस।
× × +
× × ×
गूँजे भँवरा सब ठौर ठौर,
आवेस भयो तन मदन जोर।"

बसन्त आगया है। नायिका ने मान ठान लिया है। सखी बसन्त के आगमन की बात कह कर उससे कहती है—

"यह ऋतु बसन्त प्यारी सुजान,
नहिं ऐसी समय में कीजे मान।
+ + +

\+ + +

चलिए बन ठन रितुराज जान,
हरीचन्द कहे सो लीजै मान।'

पावस ऋतु भी उद्दीपन कारी हैं—

"आयो पावस प्रचंड; सब जग में मचाई धूम,
कारे घन घेरि चारौ ओर छाए।
\+ + +
हरीचन्द गिरधारी राधा ऐस समय रहे कंठ लगाए॥"

इसी प्रकार अन्य ऋतुओं का भी वर्णन हुआ है। कहीं मान मनौवल हो रहा है, तो कहीं संयोग सुख की गुदगुदी से हृदय की कलिका खिल रही है, तो कहीं वियोग के तुषार-पात से मुख-कमल मुरझा रहा है।'

फागुन मास का आगमन प्रिय-वियोग में विरहोद्दीपन करता है—

"ऐरी विरह बढ़ावन आयो फागुन मास री।
हौं कैसी अब करौं कठिन परी गाँस री॥

होली आगई किन्तु पिया पास नहीं हैं—

"बिनु पिय आज अकेली सजनी होरी खेलौं,
विरह उसास उड़ाय गुलालहिं दृग पिचकारी मेलौं।"

कुछ महीनों के प्रथक वर्णन के अतिरिक्त भारतेन्दु ने बारहमासा भी लिखा है—

"प्रिय गए विदेश सन्देस नहिं पाए सखी मन भावनी,
लाग्यो असाढ़ वियोग बरसा भई आरम्भ सुहावनी।
\+ + +
सावन सुहावन दुख बढ़ावन गरजि घन बन घेरहीं,
दामिनि दमकि, जुगनू चमकि, मोहि दुखी जानि तरेरहीं।
× × ×
भादों अंधेरी रात टपकै पात पर पानी बजै,
डरि काम के भय सुन्दरी मिलि नाहसों सिजिया सजै।
\+ + +
सखि क्वार मास लाग्यो सुहावन सबै साँझी खेल हीं;
निसि चन्द पूरन चाँदनी में नाह गहि भुज मेल हीं।
\+ + +

कातिक पुनीत नहाइ सब दै दीप उजियारी करैं,
हम प्रान पिय बिनु विकल विरहागिनि दिवारी सी जरैं।

× × ×

× × ×

इसी प्रकार बारहो महीनों का संयोग और वियोग-उद्दीपन में वर्णन हुआ है। किन्तु इस बारहमासा की एक और विशेषता भी है। इसमें साथ-साथ महीनों की मानव जीवन-परक उपयोगिता एवं बिशेषता का भी वर्णन है।

प्रकृति के प्रति नवीन प्रगतिशील दृष्टि :—

हम पहले भी यह स्पष्ट कर आए हैं, कि भारतेन्दु काव्य का अधिकाँश भाग परम्पराभुक्त प्रकृति चित्रण से भरा है। उनका हृदय विशेष रूप से नायक नायिका की प्रेम लीला के संयोग-वियोग पक्षों में भावों को उद्दीपक प्रकृति के चित्रण में ही रमा है। किन्तु जन जीवन में जो नई चेतना जन्म ले रही थी, वह प्रकृति चित्रण के प्रति भी पुरानी दृष्टि में नूतन परिवर्तन उपस्थित कर रही थी, और मानव जीवन के आसपास की प्रकृति के मानव उपयोगी रूप को भी कविता में स्थान मिलना आरम्भ होगया था। यह प्रकृति के प्रति नई दृष्टि थी, जिसने प्रकृति चित्रण को नायक नायिका की संयोग-वियोग सीमा से मुक्त कर जीवन के विशाल क्षेत्र में ला उपस्थित किया। भारतेन्दु कालीन कवियों में भी और स्वयं भारतेन्दु में भी यह चेतना विशेष स्पष्ट नहीं हो पाई थी; वह तो आगे चलकर द्विवेदी युग तथा उसके बाद राष्ट्रीय-उत्थान के आन्दोलन के विकास के साथ-साथ उत्पन्न हुई है, पर उसका एक अस्पष्ट रूप हम भारतेन्दु के कुछ प्रकृति वर्णनों में देख सकते हैं।

उन प्रकृति वर्णनों की दो विशेषताएं हैं—एक तो उनका आलम्बन रूप में वर्णन आरम्भ हुआ है और फिर वे मानव जीवन में कितने और किस रूप में उपयोगी हैं यह वर्णित हुआ है—

"नव उज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति,
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।"

यहाँ गंगा का प्राकृतिक वर्णन कवि का मूल विषय है और साथ ही उसकी मानव जीवन में लौकिक और अलौकिक उपयोगिताएं क्या हैं, इस पर भी कवि ने प्रकाश डाला है। यहाँ 'विविध मनोरथ' अमूर्त से 'लोल

लहर' मूर्त की उपमा दी गई है। जमुना का भी वर्णन इसी प्रकार का है—

"तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए,
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाए।
+ + +
+ + ÷
किधौं मुकर से लखत उझकि सब निज निज सोभा,
कै पुनवत जल जानि परम पावन फल लोभा;
तनु आतप वारन तीर कौं सिमिटि सबै छाए रहत।"

'प्रात समीरण' का भी वर्णन उसी प्रकार है—

'मंद मंद आवे देखो प्रात समीरण,
करत सुगंध चारौं ओर विकीरण।
गात सिहरात तन लगत सीतल,
रैन निद्रालस जन सुखद चंचल।'

आजतक कवि गण प्रकृति से शृङ्गार के उपमान ही लेते आए थे। किन्तु भारतेन्दु ने उस परम्परा में भी नूतन रूप को अपनाया है और प्रकृति से मानव जीवन-यथार्थ के चित्रण के हेतु भी उपमाएँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने प्रकृति से उपमाएं देकर जीवन की तत्कालीन यथार्थ तस्वीर का वर्णन किया है। यह उनके प्रकृति वर्णन की सब से महान और मौलिक विशेषता है—

'भारत में मची है होरी
+ + +
धूर उड़त सोई अबीर उड़ावत सबको नैन भरोरी,
दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी।
× × ×
भई पतझार तत्व कहुँ नाँही सोई बसन्त प्रगट्यो री,
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोई फूली सरसों री;
सिसिर को अन्त भगो री।
बौराने सब लोग न सूझत सोई आम बौर्‌यो री,
कुहू कहत कोकिल ताही तें महाँ अँधार छयोरी,

उपरोक्त उद्धरण में होली के वर्णन के द्वारा देश तत्कालीन दुर्दशा का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।

'छाई अँधियारी भारी सूझत नहिं राह कहूँ

गरजि गरजि बादर से जवन सब डरावैं।
चपला सी हिन्दुन की बुद्धि वीरतादि भई
छिपे वीर तारागन कहूँ न दिखावैं ॥
सुजस चंद मंद भयो कायरता घास बढ़ी
दरिद नदी उमड़ चली मूरखता पंक चहल-पहल पग फँसावै।
हरी चन्द नन्द नन्द गिरवर धरो आइ फेर
हिन्दुन के नैन नीर निस दिन बरसावै ॥

उपरोक्त उद्धरण में बर्षा के सांगरूपक से हिन्दुओं की यथार्थ दशा का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार वर्षा के सांगरूपक से सिकन्दर और पोरस के युद्ध का सजीव वर्णन निम्न पक्तियों में हुआ है—

"पोरस सर जल रन महँ बरसत, लखि कै मोरा जिया हरसत
बिजुरी सी चमकत तरवारैं, बादर सी तोपैं ललकारैं,
बीच अचल गिरवर सो छत्री गज चढ़ि देवराज-सम सरसत ॥
झींगुर से झनकत हैं बख्तर, जवन करत दादुर से टर टर,
छर्रा उड़त बहुत जुगनू से एक एक कौ तम सम गरसत।
बढ़यौ बीर रस सिन्धु सुहायौ, डिग्यौ न राजा सबन डिगायौ,
ऐसो वीर बिलोकि सिकन्दर जाइ मिल्यौ करसों कर परसत ॥

इस प्रकार के प्रकृति चित्रण से भारतेन्दु ने प्रकृति चित्रण की जिस नवीन धारा को प्रवाहित किया और प्रकृति के ओर देखने की यथार्थवादी जीवन-परक दृष्टि प्रदान की उसी के लिए हिन्दी साहित्य के प्रकृति चित्रण की परम्परा में भारतेन्दु का एक मौलिक स्थान है।

गीति काव्य

विद्यापति से गीतिकाव्य की सरस धारा प्रवाहित होती हुई कबीर, तुलसी सूर, मीरा आदि कवियों की गीतिकाव्य की मधुर सरस धारा की महान परम्परा को लिए हुए भारतेन्दु में आकर उसने एक नई मोड़ ली।

अब तक मुख्यतः भक्ति-भाव और शृङ्गार रस ही गीतों के विशेष विषय रहे थे। किन्तु भारतेन्दु में आकर गीतिकाव्य की धारा मानव-जीवन के विशाल क्षेत्र से होकर प्रवाहित होने लगी। उसके विषयों में अनेकता आ गई और वह जन जीवन के और निकट आगई। वस्तुतः जीवन से उसका गहरा सम्बन्ध स्थापित होगया। यथार्थ जीवन से नये नये आलम्बन गीतों के विषय बन गए। भारतेन्दु ने गीतों की परम्पराभुक्त धारा में अनेक भक्ति और शृङ्गार के गीत लिखे हैं। किन्तु जो कवि अपनी प्राचीन परम्परा को अपने में समाविष्ट किए हुए उसके भण्डार में एक नये रत्न का समावेश करता है, वही कवि परम्परा का उन्नायक कवि कहा जाता है और वह उस नयी दैन के लिए ही साहित्य में महान हो जाता है।

भारतेन्दु काव्य में जो प्राचीन परम्परा के गीत हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं है। न तो उनमें भावों की दृष्टि से ही कोई नवीनता है और न कला की दृष्टि से ही। उनके विषय में केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उन्होंने विद्यापति, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा आदि का बड़ी कुशलता से प्रतिनिधित्व किया है। कहीं-कहीं तो ऐसा भान होने लगता है जैसे हम सूर या मीरा, या कबीर का ही पद पढ़ रहे हैं। सूर की सी सरलता, मीरा की सी तनम्यता कबीर की सी स्पष्टवादिता और अक्खड़ता तुलसी की सी विनयशीलता और विद्यापति की सी शृङ्गारप्रियता सब के दर्शन हमें भारतेन्दु के गीतों में हो जाते हैं।

अस्तु, हम यहाँ उनके गीतों की नवीन धारा का ही विशेष रूप से पर्यालोचन करेंगे।

गीतों की नवीन धारा में दोनों प्रकार की नवीनता—भावों की एवं

विषयों की तथा विन्यास की, दिखाई पड़ती है। अर्थात् गीतों के विषयों और कला दोनों ही क्षेत्रों में नवीन पद्धति का अनुसरण हुआ है। एक ओर जहाँ गीतों के विषय जीवन के विशाल क्षेत्र से लिए जाने लगे वहां गीतों की कला में भी जन-गीतों की विविध राग रागनियों को अपनाया गया है।

भारत दुर्दशा, मदिरापान, शोषण, गरीबी, धार्मिक विकृतियाँ, साँस्कृतिक अधोगति, देश तथा समाज का उत्थान आदि अनेक विषयों पर भारतेन्दु ने गीत लिखे हैं। वह युग की जनता के विचारों में सामाजिक व्यापकता की चेतना आने का युग था, इसीलिए साहित्य में सामाजिक व्यापकता आ रही थी, और विषय सामाजिक क्षेत्र से, जो किसी एक व्यक्ति से सम्बन्ध न रखकर समूचे समाज से सम्बन्ध रखते थे, साहित्य में अपनाए जा रहे थे। उसी हेतु विषयों की विविधता इस युग की नयी देन है, और वस्तुतः भारतेन्दु को ही उस नयी दैन का श्रेय प्राप्त है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि नवीनता केवल गीतों की विषय वस्तु में ही नहीं आई, वरन् उनके कलारूपों भी आई। भारतेन्दु ने ग्राम गीतों की राग-रागनियों को अपना कर उन्हें कला रूप प्रदान किया और उन्हें साहित्य की निधि बना दिया। उन्होंने अपने गीत होली, लावनी, कजरी, ख्याल आदि अनेक गीत ग्राम-राग-रागनियों में लिखे हैं।

उन्हें संगीत का बड़ा विषद ज्ञान था। उन्होंने 'संगीत सार' नामक एक पुस्तक भी लिखी थी; और अनेक राग-रागनियों का गीतों में प्रयोग किया था, जैसे—विहाग, बसन्त, काफी, सिन्दुरा, भीम पलासी, ईमन, इकताला, पीलू, खेमटा; कलिंगड़ा, चौताला आदि आदि। किन्तु उन्होने विशेष ध्यान ग्रीमगीतों की ओर ही दिया है। वे पक्की राग-रागनियों की अपेक्षा ग्राम गीतों को प्रोत्साहित करते थे। उन्होंने पक्का गाना सुनने वालों से सरल जन राग-रागनियों के गीतों को सुनने की अपील की थी—

"....जो लोग धनिक हैं वह नियम करें कि जो गुणी इन गीतों को गावेगा उसी का वे लोग गाना सुनेंगे।'

वे गीतों को जनजागरण का सफ़ल साधन समझते थे और इसीलिए जनजागरण का तत्व रखने वाले गीतों का कला रूप अधिक से अधिक सरल रखने के पक्षपाती थी। उन्होंने लिखा है—

'भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े बड़े

लेख और काव्य प्रकाश होते हैं किन्तु वे जन साधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। उसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव, गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जांय। ''जितना ग्राम गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। उसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी छोटी पुस्तकों में मुद्रित करू।''' 'जिन लोगों का ग्रामीणों से सम्बन्ध है वे गाँव में ऐसी पुस्तकें भेज दें। जहाँ कहीं ऐसे गीत सुनें उसका अभिनन्दन करें। इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें, वरंच गवाँरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लंबे, लावनी, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्राम गीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो। अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखण्ड में बुन्देलखंडी, बिहार में बिहारी ऐसे देश में जिस भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें। '''उत्साही लोग इसमें जो बनाने की शक्ति रखते हैं, वे बनावें। जो छपवाने की शक्ति रखते हैं वे छपवादें, और जो प्रचार की शक्ति रखते हैं वे प्रचार करें। मुझसे जहाँ तक हो सकेगा मैं भी करूँगा।'

उपरोक्त उद्धरण से भारतेन्दु के जन-साहित्य के प्रति क्या विचार थे स्पष्ट हो जाते हैं। वे हर उस साधन को उपयोग में लाने के पक्षपाती थे जिससे नई चेतना उत्पन्न की जा सके। भारतेन्दु ने उसी दृष्टि को सामने रख कर ग्राम-रागनियों में बाल विवाह से हानि, जन्म पत्री मिलाने की अशास्त्रता शिक्षा, अंग्रेजी, फैशन, शराब, फूट और बैर, जन्म भूमि से प्रेम आदि आदि अनेक विषयों पर अनेक व्यंगात्मक और चेतना-उद्बोधक गीतों का सृजन किया है। उनके देश भक्ति और व्यंग गीतों का उल्लेख हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ हमारा अभीष्ट यह दिखाना ही है कि भारतेन्दु ने गीतों की परम्पराभुक्त धारा को एक नवीन चेतना प्रदान की और अपने गीतों को जन-जीवन का अभिन्न अंग बना दिया। उनके गीतों में तीखे व्यंगों और देश-जीवन के यथार्थ उद्घाटन के साथ साथ भाषा की सरसता, मधुरता, और भावों की गहराई तथा कला परिष्कार का रूप भी विद्यमान है।

भक्ति-काव्य

भारतेन्दु के समय में अनेक भक्ति-पंथों और उनके थोथे आडम्बरों का दौर दौरा था। धर्म अनेक मतमतान्तरों में बँट गया था और प्रत्येक मत की अपनी निराली भक्ति पद्धति थी और उनमें आपस में वैमनस्य और कटुता थी। जनता नाना प्रकार के अन्ध विश्वासों, रूढ़ियों और विकृतियों में ग्रस्त थी। अस्तु ऐसी विषम परिस्थिति के समय जहाँ देश को कबीर की प्रतिभा की आवश्यकता थी, जो जनता के अन्ध विश्वासों, धार्मिक पाखंडों और उनसे उत्पन्न कुरीतियों पर तीखे व्यंग प्रहार कर, उससे जनता को सजग कर सके; वहीं देश को ऐसी प्रतिभा की भी आवश्यकता थी, जो तुलसी की भांति विभिन्न मतमतान्तरों में फैली परस्पर कटुता और विद्वेष को समाप्त कर परस्पर सहिष्णुता का वातावरण उत्पन्न कर सके, साथ ही एक ऐसी प्रतिभा की भी आवश्यकता थी जो जनता में श्रद्धा पूर्ण सरल भक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके; जिसका आधार हो व्यापक मानव प्रेम, परस्पर सहिष्णुता और श्रद्धा। भारतेन्दु में इन सारी प्रतिभाओं का संगम था। उन्होंने कबीर की भाँति धार्मिक पाखण्डों और अन्ध विश्वासो पर तीखे व्यंग-प्रहार कर जनता की चेतना को मुक्त किया, तुलसी की भाँति सारे भक्ति पन्थों के बीच सहिष्णुता और समन्वय का सन्देश दिया और सबको मानव जाति, देशवासी और मातृ-भूमि से प्रेम करने और भक्ति का सन्देश दिया। तुलसी और सूर की भक्ति व्यापक होते हुए भी संकीर्ण व्यक्तिवादी थी। न केवल उन्हीं की वरन् सभी की भक्ति संकीर्ण व्यक्तिवादी थी। यह बात दूसरी है कि उस भक्ति मार्ग को अपना कर कोटि कोटि लोगों ने लाभ उठाया; पर जब हम यह कहते हैं कि वह संकीर्ण और व्यक्तिवादी थी; तो हमारा अभिप्राय यह है कि उन्होंने ईश्वर की जो भी भक्ति की वह अपने अकेले के उद्धार के लिए ही की। उस भक्ति का दृष्टिकोण सामाजिक न था। किन्तु भारतेन्दु ने जहाँ अपने अकेले की दृष्टि से भक्ति की वहाँ उन्होंने सारे देशवासियों, सारी मानव जाति के उद्धार के लिए भी ईश्वर से भक्ति की। यही उनकी भक्ति की सामाजिक

व्यापकता थी और भक्ति काव्य के क्षेत्र में नई देन थी। यही उनके भक्ति काव्य की सबसे बड़ी मौलिकता थी।

अस्तु उनके भक्ति काव्य का भी बड़ा विविध और व्यापक क्षेत्र है। अध्ययन के लिए उसे निम्न रूप से विभाजित कर अध्ययन करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

पुष्टिमार्गीय प्रेमाभक्तिः—

भारतेन्दु मूलतः वल्लभ सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय प्रेम लक्षणा-भक्ति के गायक कवि थे। उन्होने मुख्यतः तो राधा कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना में ही काव्य रचा है—

"जुगल रूप छवि अमित माधुरी,
रूप-सुधा रस सिन्धु बहोरी।
इन्हीं सों अभिलाख लाख करि,
इक इन्हीं कों नितहि चहोरी।
जो नर तनहिं सफल करि चाहो,
इन्हीं के पद कंज गहोरी।

इस भक्ति-भावना में राधा कृष्ण की प्रेम लीला तथा वियोग का वर्णन होता है और वियोग-विरह का महत्व सर्वोपरि है। विरह को भक्त की परीक्षा और उसके प्रेम की उत्कटता की परख का प्रमुख साधन माना गया है। इसी हेतु भारतेन्दु के भक्ति काव्य का अधिकांश भाग युगल मूर्ति की प्रेम लीलाओं तथा विरह से भरा है। उनकी भक्ति के उद्‌गार विरह रूप में ही अधिक निसृत हुए हैं। उनमें मर्म को छूने की शक्ति है और कलात्मकता भी है।

वल्लभ सम्प्रदाय में लीला, प्रेम (संयोग और वियोग) तथा सख्य तीनों प्रकार की भक्तियों का समावेश होता है। किन्तु प्रेम-लक्षणा (रागानुगा) कामरूपा भक्ति का विशेष स्थान है। भारतेन्दु के भक्ति काव्य में तीनों ही प्रकार की भक्तियाँ हैं; किन्तु प्रेमा भक्ति का संयोग और वियोग दोनों पक्षों का व्यापक वर्णन हुआ है।

लीला रूप की भक्तिः—इस प्रकार की भक्ति में कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं के स्मरण की भक्ति आती है। सूर काव्य में कृष्ण की बाल लीलाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। भारतेन्दु ने भी कृष्ण की बाल लीलाओं के पद गाए हैं, पर अत्यन्त कम। यहाँ हम उनका एक उद्धरण देते हैं—

"सखी री देखहु बाल विनोद।
खेलत राम कृष्ण दोऊ आंगन, किलकत हँसत प्रमोद।
कबहुँ घुटरुअन दौरत दोऊ मिलि धूर धूसरित गात।
देखि देखि यह बाल चरित छबि जननी बलि बलि जात॥
झगरत कबहूँ दोऊ आनन्द भरि कबहुँ चलत हैं धाय।
कबहुँ गहत हैं माता की चोटी माखन मागत आय॥
घर घर तें आवत ब्रज नारी देखन यह आनन्द।
बाल रूप क्रीड़त हरि आंगन छबि लखि बलि हरिचन्द॥'

इस उद्धरण में सूर की छाप और प्रभाव के सहज ही दर्शन होजाते हैं। पर इसमें सूर का सा माधुर्य और निखार नहीं है।

प्रेमरूपा-भक्तिः—प्रेम में, प्रथम आकर्षण फिर आसक्ति और प्रेमातिरेक फिर संयोग और संयोग-बिहार, तत्पश्चात विरह और उसके पश्चात् पुनः मिलन-प्रेम का सागोपाङ्ग रूप उपस्थित करता है। भारतेन्दु ने प्रेम के इन सभी पहलुओं और उसमें उद्दीपनकारिणी प्रकृति का सरस मधुर वर्णन किया है जिसमें हमें सूर तथा मीरा की सी सरसता एवं तन्मयता के साथ साथ व-प्रवणता के भी दर्शन होते हैं।

राधा परम सौन्दर्यमयी है उनके रूप के प्रथम दर्शन से कृष्ण का उनके प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है—

'श्री राधे सब को मान हरयौ,
अरी सुहागिन मेरी तू जब सैंदुर तिलक धरयौ।
गिरे गरब-परबत जुबतिन के रूप गरुर गरयौ,
रीति सिद्ध भई ऋषिगन की देविन दरप दरयौ।
शिव-समाधि छूटी शुक डोल्यो रवि ससि तेज छरयौ,
फूलन रूप रङ्ग तजि दीन्यौ जग आनन्द भरयौ।

ऐसा सबको आविर्भूत कर देने वाला रूप था राधा का। कृष्ण राधा पर स्वभावतः रीझ जाते हैं—

'फबी छबि थोरे ही सिंगार,
बिना कंचुकी बिनु कर कंकन सोभा बढ़ी अपार।
खसि रहि तन तें तन सुख सारी खुलि रहे सोंधे बार,
हरी चन्द मन मोहन प्यारी रीझौ है रिझवार।

कृष्ण भी तो कम सौन्दर्यवान न थे। राधा भी कृष्ण को देखते ही

रीझ जाती हैं और प्रेम की टीस दोनों और बराबर मात्रा में हो जाती है और तब प्रेम की कहानी आगे बढ़ चलती है। राधा का कृष्ण के प्रति प्रथम आकर्षण ही प्रेमातिरेक का रूप धारण कर लेता है और वे कृष्ण के रूप का पुनः दर्शन करने के लिए विह्वल हो उठती है—

"नैना मानत नाहिं, मेरे नैना मानत नाहिं ;
लोक लाज सीकरमें जकरे तऊ उतै खिन्चि जाहिं।"

इस प्रकार भारतेन्दु ने प्रेमाभक्ति की अनन्यता के गीत गाए हैं। यहाँ पर हम उनकी प्रेमाभक्ति पर केवल इतना ही प्रकाश डालकर आगे बढ़ते हैं क्योंकि इसका विषद् विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

सख्य-भाव—सख्यभाव की भक्ति में भक्त अपने को उपास्यदेव के सखा के रूप में कल्पना कर अपनी भक्ति करता है। जब भक्त भगवान का सखा अपने को कल्पित कर लेता है, तो वह भगवान के अति निकट हो जाता है, अपने को उनका अन्तरंग समझने लगता है और उसकी वाणी में अधिक बल आ जाता है। सूर के काव्य में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। कृष्ण साहित्य की यह एक विशिष्ट वस्तु है। भारतेन्दु ने भी इस प्रकार के पद गाए हैं—

"सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन कै,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के।"

भारतेन्दु ने गुरु की भक्ति में भी अनेक पद लिखे हैं—

"श्री बल्लभ की सरि करै कौन,
प्रगटे प्रभु गुविन्द मन-वाहक भक्त कारने जौन"

÷ ÷ ÷

"जयति कोऊ सो केसरी वृन्दावन बन धाम,
गोपीनाथ अनाथ-गति जग गुरु विट्ठलनाथ।"

विनयभाव की भक्ति—सभी भक्त भगवान के सम्मुख विनयी होते हैं और उससे अपने पापों को क्षमा करने की प्रार्थना करते हैं। भारतेन्दु का विन्य-काव्य तुलसी और सूर के विन्य-काव्य की परम्परा में है।

"तुम जो करत दीनन सों मोहन सो को और करै ;
महापतित जन वेद विनिंदित को तिनकों उधरै।
सब विधि दीनन सों करि नेहहि कौन दया वितरै ;
हरीचन्द की बाँह पकरि कैं को भव पार करै।"

भारतेन्दु की विनय-भाव की भक्ति में तुलसी का सा आत्मविश्वास है। वह कहते हैं—

"आजु हम देखत हैं को हारत,
हम पाप करत कि तुम मोहि तारत, को निज बान बिसारत।
होड़ पड़ी है तुमसों हमसों देखें को प्रन पारत,
हरीचन्द अब जात नरक में कै तुम धाय उबारत।"

भारतेन्दु को अपने भगवान पर इतना विश्वास है कि वे अपने सब कर्मों का दोष भी उसी के सिर मढ़ते हैं—

"हम तो दोषहु तुम पै धरिहैं,"

और भगवान के सिर पर अपने दोषों को थोपते हुए कहते हैं—

'प्यारे अब तो तारे ही बनिहै।'

उनकी भक्ति में तुलसी और सूर की सी अनन्यता, अपने भगवान पर विश्वास तथा उसके प्रति अपनी भक्ति पर विश्वास है। उनका रोम-रोम गोपालमय हो गया है—

भजों तो गोपालहिं कौं सेवों तो गोपालहि एक,
मेरौ मन लाग्यौ सब भाँति नन्दलाल सों।
मेरे देव - देवी, गुरु, मात - पिता, बन्धु, इष्ट,
मित्र - सखा हरि नातौ एक गोपाल सों।
हरीचन्द और सों न मेरो सम्बन्ध कछू,
आसरौ सदैव एक लोचन विशाल सौं।"

ब्रह्मरूप की भक्ति—भारतेन्दु ने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार मानकर उनकी भक्ति में पद गाए हैं और राधा को लक्ष्मी का अवतार मानकर उनकी स्तुति की है। ब्रह्म ही ने नरसिंह रूप धारण कर हिरण्यकश्यप से प्रह्लाद की रक्षा की। राम का अवतार लेकर रावण-राक्षस का बध किया और कृष्ण अवतार ले गोपी-मनरंजन किया—

"जय जय हरि नन्दनन्दन पूर्ण ब्रह्म दुख निकन्दन,
परमानन्द जगतबन्द सेवक सुखदाई।"

÷ ÷ ÷

'जयति वेणुधर, चक्रधर, शंखधर,
पद्मधर, गदाधर, शृङ्गधर, नेत्रधारी।

मुकटधर, क्रीटधर, पीतपट कटिन धर,
कंठ कौस्तुभ-धरन दुःख हारी।

भारतेन्दु की भक्ति में तुलसी की भक्ति की सी व्यापकता, समन्वय-भावना और सहिष्णुता थी। वे थे तो मूलतः कृष्ण भक्त; किन्तु उन्होंने सभी देवी-देवताओं को ईश्वर का रूप मानकर ही उनकी भक्ति के पद गाए हैं। राधा को उन्होंने लक्ष्मी का अवतार माना है—

"जय वृषभानु नन्दिनी राधा,
शिव ब्रह्मादि जासु पद-पंकज हरि बस हेतु अराधा।
करुनामयी प्रसन्न चन्द-मुख हँसत हरति भव बाधा,
हरीचन्द ते क्यों जग जीवत जिन नहिं इन्हि अराधा।

इसी प्रकार भारतेन्दु ने शिव, गंगा, परुशराम आदि अनेक देवी-देवताओं की भक्ति के पद गाए हैं।

"शिवहिं पूजिकै तीज दिन शिव हित दै घट दान,
शिवपुर सो नर पावहीं भाखत शिव भगवान।"

÷ ÷ ÷

"गंगा पातितन को आधार ;
यह कलिकाल कठिन सागर सों तुमहिं लगावत पार।"

इसी समन्वय भावना से प्रेरित होकर वे नाना मतमतान्तरों के परस्पर विभेदों का खण्डन करते हैं और ईश्वर प्राप्ति का केवल एक मार्ग बताते हैं—ईश्वर की अनन्य भक्ति—

"जो पै झगरेन में हरि होते,
तौ फिर श्रम करिकै उनके मिलिबे हित सब क्यों रोते।"

भारतेन्दु के इस प्रकार के पदों में कबीर की सबल, स्पष्टवादी अक्खड़ वाणी की गूँज सुनाई पड़ती है। वे कहते हैं कि ईश्वर को तन्त्र आदि की युक्तियों से भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह तो इन सब से परे है—

"युक्ति सों हरि सों का सम्बन्ध ?
बिना बात ही तर्क करै क्यों चारहु दृग के अन्ध ?"

ईश्वर पर वेदान्तियों की भी बपौती नहीं है। वह वेदों से भी परे है और महान है—

"नाहीं ईश्वरता अटकी वेद में,
तुम तो अगम अनादि अगोचर सो कैसे मतभेद में ।"

यहाँ भारतेन्दु निर्गुणवादी हो गए दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः हर भक्त अन्त में ईश्वर के अगम अनादि अगोचर व्यापक रूप का ही भक्त हो जाता है। उसकी भक्ति का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। आरम्भ में अपनी भक्ति की एकाग्रता के लिए वह चाहे भले ही भगवान के किसी एक रूप की कल्पना कर भक्ति करे। तुलसी भी अन्त में निर्गुणवादी हो गए से दीख पड़ते हैं। विनय पत्रिका में उनके इस आशय के अनेक पद हैं। किन्तु वस्तुतः यह तो भक्त की व्यापक भक्ति का ही एक रूप है। जितने भी देवी देवता हैं वे सब एक ही ईश्वर के नाना रूप हैं, जिन्हें मनुष्य अपने-अपने विश्वासों के रूप में भजता है। अस्तु किसी का व्यर्थ में खंडन-मंडन करना व्यर्थ है। सब मत तो उस एक ही ईश्वर के रूप हैं—

"खंडन जग में काको कीजै,
सब मत तो अपने ही हैं, इनकौ कहा उत्तर दीजै।
तासों बाहर होइ कोऊ जब, तब कछु भेद बतावै;
यहाँ तो वही सबै मत ताके, तहँ दूजौ क्यों आवै।"

इसीलिए भारतेन्दु ईश्वर-भक्ति का एक समन्वित मार्ग बताते हैं और वह है प्रेम का मार्ग—

'पियारौ पैयै केवल प्रेम में,
नाँहि ज्ञान में नाँहि ध्यान में, नाँहि करम कुल नेम में।
नहिं भारत में नहिं रामायन में, नहिं मनु में, नहिं वेद में
नहिं झगरे में, नहिं युक्ति में, नाँहि मतन के भेद में।
नहिं मन्दिर में, नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में,
हरीचन्द वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में।'

ग्राहस्थ्य भाव की भक्ति—भारतेन्दु तुलसी और सूर के से भक्त न थे जिन्होंने घर बार छोड़ दिया था। वे तो एक संसारी गृहस्थ थे और अपने सांसारिक कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए ही उन्होंने भक्ति की थी। इसलिए उनकी भक्ति में वह रूप भी मिलता है, जिसमें एक गृहस्थ को अपने सांसारिक कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए भक्ति करनी चाहिए। परम्परा से ग्रहस्थ के जीवन में वर्ष में पड़ने वाले नाना पर्वों तथा उनमें स्नान करना, पीपल, गऊ, दान,

ब्राह्मण को दान, भोजन कराना आदि का महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। और यह सब ग्रहस्थ धर्म के अभिन्न संस्कार बन गए हैं। उनके ग्राहस्थ भाव के पदों का संग्रह 'बैसाख महात्म्य' तथा 'कार्तिक स्नान' में है। इस प्रकार की भक्ति में उनकी दृष्टि मनुष्य के प्रति, मनुष्य कर्त्तव्यों के प्रति विशेष रूप से रही है। एक ग्रहस्थ के लिए गर्मी में प्याऊ बैठाना, भूखों-नंगों को दान देना, भोजन कराना आदि कार्य पुण्य कार्य कहे हैं—

"माधव थाप्या पौसरा करै चटाई दान,
छत्र, व्यजन, जूता, छुरी और सूक्ष्म परिधान।"

देश प्रेम से प्रेरित भक्ति—

हम आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर आए हैं कि भक्ति परम्परा में देश प्रेम तथा समाजसुधार से प्रेरित भक्ति भारतेन्दु की मौलिक देन है। अब तक के भक्त कवियों ने ईश्वर से केवल अपने को ही तारने की भक्ति की थी; किन्तु भारतेन्दु ने केवल अपने ही लिए भगवान से भक्ति नहीं की। उन्होंने भगवान से भारतवासियों के उद्धार की प्रार्थना भी की है। भक्ति में भी उनकी दृष्टि देश हित पर से कभी नहीं हटी। व्यक्तिगत हित की साधना से आगे बढ़कर से समस्त पूरे समाज की हितचिन्ता की यह भावना निःसन्देह अभिनन्दनीय है और भारतीय भक्ति-धारा में एक नई मोड़ है। भारतेन्दु अनन्य भक्त होने के साथ साथ एक ग्रहस्थ और भारतवासी भी थे। इन दोनों पक्षों के प्रति वे अपने कर्तव्यों को भूलकर अन्य भक्त कवियों की तरह जीवन से विरक्त हो अपने अकेले की मोक्ष-प्राप्ति में रत नहीं हुए, बल्कि अपने घर, देश और समाज के प्रति अपने मानवीय कर्तव्यों को पूरा करते हुए, उन्होंने ईश्वर से अपने उद्धार की, तथा साथ में समस्त देशवासियों के उद्धार की भी प्रार्थना की है—

"जगत-पिता जग जीवन जागौ मंगल मुख दरसाओ,
तुव सोये सब ही मनु सोये, तिन कहुँ जागि जगाओ।
अब बिनु जागे काज सरत नहिं, आलस दूरि बहाओ,
हे भारत भुव नाथ भूमि निज बूड़त आनि बचाओ।

उनकी भक्ति में एक सगुणभक्त; ग्रहस्थ भक्त और देश भक्त की भक्ति का अपूर्व समन्वय दृष्टिगोचर होता है और उनकी भक्ति व्यक्तिगत हित साधना से आरम्भ होकर समस्त देश की हित साधना का व्यापक रूप धारण कर लेती है। यही उनके भक्ति-काव्य की मौलिकता है जो उन्हें पूर्ववर्ती सभी भक्त कवियों से अलग करती है।

*

प्रेम-काव्य

भारतेन्दु के प्रेम-सम्बन्धी पदों में सूर की सी सरसता और माधुर्य तथा विद्यापति और रीतकालीन कवियों की शृंगारिकता का समन्वय मिलता है। जहाँ राधा कृष्ण के प्रेम में भक्ति की तन्मयता है वहाँ तो वे पद भक्ति की कोटि में स्थान पा जाते हैं, किन्तु जहाँ वे विद्यापति की और रीतकालीन शृंगार भावना की परम्परा का वर्णन करते हैं, वहाँ राधा कृष्ण भक्ति के आलम्बन न रह कर सामान्य-प्रेमी युगल नायक नायिका ही रह जाते हैं।

कृष्ण साहित्य का प्रेम पक्ष शृंगारिक होते होते काफी विकृत हो चुका था। रीतिकाल में वह विकृति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। और अश्लीलतम अभिव्यक्तियाँ भी राधा कृष्ण के नाम पर क्षम्य समझी जाती थीं। एक प्रकार से साहित्य में अश्लीलता को 'राधा-कृष्ण की भक्ति' का पास पोर्ट सा मिला हुआ था। यह हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास का सत्य है, जिसे झुटलाया नहीं जा सकता। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार का साहित्य साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त ही उच्चकोटि का है।

भारतेन्दु उस विकृति से नहीं बच पाए थे बल्कि उसमें डूबे हुए थे। उनका अपना व्यक्तिगत जीवन भी कम रसिक और रूमानी न था। उनकी वह रसिकता और रूमानी भावना ही राधा-कृष्ण की भक्ति के बहाने साहित्य में अभिव्यक्त हुई है और फिर जब उसे वल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति पद्धति का धार्मिक पास पोर्ट मिल गया था, तो फिर बात ही क्या थी। यदि भारतेन्दु की प्रेम कविताओं को राधा कृष्ण के प्रसग से प्रथक कर देखा जाय तो हमारे कथन की सत्यता स्पष्ट हो जायगी। इससे स्पष्ट हो जायगा कि वे अभिव्यक्तियाँसामान्य नायक-नायिका की सांसारिक प्रेम अभिव्यक्तियों से ऊपर नहीं हैं। उनमें हमें भक्ति की उच्च भाव भूमि नहीं दीखती; वरन् एक रसिक कवि की राधा-कृष्ण के प्रेम को आलम्बन बनाकर की गई घोर शृंगार की कविताएँ ही दीख पड़ती हैं। उनमें सामान्य नायक-नायिका की रूप लिप्सा, काम

विह्वलता, विरहोन्माद ही देख पड़ता है । कुछ आलोचक यह तक देते हैं कि ये अभिव्यक्तियाँ भगवान की भक्ति के सम्बन्ध में है, अतः उनमें अश्लीलता नहीं है । पर वास्तव में अश्लीलता तो अश्लीलता रहेगी ही और यदि वह भगवान के लिए शुद्ध है तो फिर सामान्य प्राणी के लिए वह पाप और वर्जनीय क्यों हो जाती है ?

अस्तु हम भारतेन्दु के प्रेम-काव्य का शुद्ध प्रेम-काव्य के रूप में ही विवेचन करेंगे । वह भक्ति का भी एक अङ्ग है और एक रूप है इसी दृष्टि से हम पिछले अध्याय में भारतेन्दु के भक्ति काव्य की विवेचना के साथ उसका संक्षिप्त विवरण दे आये हैं । उसी अध्याय में हमने यह भी कहा है कि 'प्रेम में प्रथम, आकर्षण फिर आसक्ति और प्रेमातिरेक, फिर संयोग और संयोग विहार, तत्पश्चात् विरह-प्रेम का सांगोपाङ्ग रूप उपस्थित करता है ।'

राधा और कृष्ण दोनों ही सुन्दर हैं । दोनों का परस्पर आकर्षित होना स्वाभाविक ही है । दोनों के हृदय में रूप लिप्सा समान रूप से है । सूर के राधा-कृष्ण और रीतिकालीन तथा भारतेन्दु के राधा-कृष्ण में एक अन्तर है । सूर के राधा-कृष्ण में भी एक दूसरे के प्रति रूप लिप्सा है पर उनमें गुण-आकर्षण का भी अंश है, यद्यपि थोड़ा है, जो दोनों के प्रेम को नैतिक आधार प्रदान करता है । हांलाकि सूर के कृष्ण पर भी लम्पट और रसिया होने का दोषारोपण किया जाता है । किन्तु रीतिकाल में आकर तो राधा कृष्ण के परस्पर प्रेम का नैतिक आधार बिल्कुल ही लुप्त हो गया और वही परम्परा भारतेन्दु ने अपनाई है । भारतेन्दु को भी इसकी अनैतिकता खटकी थी; तभी सम्भवतः उन्होंने राधा को कृष्ण की विवाहिता पत्नी का रूप दिया; किन्तु कृष्ण के चन्द्रावली से प्रेम, की कल्पना कर, वे पुनः उसी में फंस गए ।

यह बात नहीं कि कवि ही इस बात के दोषी हों । वस्तुतः दोष तो है इस भक्ति पंथ का । हम एक स्थान पर और भी यह कह आए हैं कि भारतीय भक्ति मार्ग प्रायः अन्त में शृङ्गारिक भक्ति में लिप्त होते गए और वही उनके ह्रास का कारण भी बनता गया । इतिहास इस तथ्य का साक्षी है । इस बात के विवाद के विस्तार में यहाँ जाना अनर्गल होगा; अस्तु—भारतेन्दु के राधा-कृष्ण में एक दूसरे के प्रति रूप-लिप्सा समान रूप से है—

"फबी छबि थोरेही सिंगार ।
बिना कंचुकी, बिनुकर कंकन सोभा बढ़ी अपार,

खसि रहि तन तें तन-सुख सारी खुलि रोहे सोधे बार।
हरीचन्द मन मोहन प्यारौ रीझो है रिझवार।"

एक दिन अचानक कृष्ण राधा के दरवाजे से निकलकर जा रहे थे। राधा झरोखे में खड़ी थीं। वे कृष्ण के रूप सौन्दर्य को देखते ही उन पर आसक्त हो जाती है—

"अरी हरि या मग निकसे आइ अचानक,
हौं तो झरोखे रही ठाड़ी।
देखत रूप ठगोरी सी लागी,
बिरह बेलि उर बाढ़ी।"

'जा दिन लाल बजावत बेनु आय कढ़े मम द्वारे,
हौं रही ठाड़ी अटा अपने लखि कै हँसे मो तन नन्द दुलारे।
लाजि के भाजि गई 'हरिचन्द' हौं भौन के भीतर भीति के मारे,
ताहि दिना ते चवाइन हूँ, मिलि हाय चवाय के चौचन्द पारे।"

उपरौक्त उद्धरण में प्रथम आकर्षण के हाव-भावों का बड़ा ही सुन्दर मनोवैज्ञानिक वर्णन है। प्रथम साक्षात्कार के बाद दोनों ही एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाते हैं और प्रीति-वेलि की जड़ हृदय में लालसा रस से सिंचित होती हुई बढ़ती रहती है। राधा ने जिस दिन से कृष्ण को देखा था, उसी दिन से लोक लाज-छोड़कर कृष्ण के रूप का पुनः पान करने के लिए वे व्याकुल रहने लगती हैं। उन्हें नाना अपवाद भी लगे और लाँछन भी सुनने पड़े; किन्तु वे तो प्रेम-मदिरा में मतमाती थीं।—

"नैना मानत नांहि, मेरे नैना मानत नाँही,
लोक-लाज-सीकर में जकरे तऊ उतै खिचि जांही।
पचि हारे गुरूजन सिखि दैके सुनत नहीं कछु कान,
मानत कहौ नाहिं काहू कौ जानत भये अजान।
निज चवाब सुनि औरहु हरषत उलटी रीति चलाई,
मदिरा प्रेम पिए पागल ह्वै इत उत डोलत धाई।
परवस भये मदन मोहन के रंग रंगे सब त्यागी,
हरीचन्द तजि मुख कमलन अति रहे कितै अनुरागी।"

राधा और कृष्ण का विवाह हो जाता है और दोनों में संयोग हो जाता है। कवि ने राधा-कृष्ण का विवाह दिखाकर रीतिकालीन परकिया प्रेम से अपना नाता तोड़ने का प्रयास किया है। वह राधा को स्वकीया रूप देकर

परकीया से नाता भले ही तोड़ सका हो, किन्तु प्रेम की रीतिकालीन पद्धति, रूप लिप्सा और शृङ्गारिकता से वह अपना नाता नहीं तोड़ पाया है ।

'चलौ सखि मिलि देखन जैऐं दुलहिन राधा गोरी जू,
कोटि रमा मुख छवि पै वारौं मेरी नवल किशोरी जू।'

राधा को स्वकीया रूप देकर भी वे परकीया प्रेम की रीति-पद्धति को नहीं त्याग सके । चन्द्रावली परकीया नायिका है और उसके प्रेम में संयोग वियोग के जो पद भारतेन्दु ने गाए हैं, उनका स्थान उनके काव्य में सर्वोपरि है ।

राधा-कृष्ण (नायक-नायिका) में संयोग होता है। दोनों के संयोग-बिहार का कवि ने बड़ी रसिकता और विस्तार से वर्णन किया है । यह वर्णन अनेक स्थलों पर घोर अश्लील होगया है। इस वर्णन में कवि पर रीतिकालीन शृङ्गार-परक-शैली पूर्ण रूप से हावी है—

'देखु सखि देखु आज कुंजन में नवल केलि,
करत कृष्ण संग विविध भाँति राधिका।''

दोनों का प्रेम अति गाढ़ हो जाता है। संयोग-प्रेम में आरसी और नेत्रों आदि का वर्णन भी परम्परा के अनुसार ही हुआ है। नायिका अपने प्रिय के अपार सौंदर्य को स्वयं उसे ही नहीं देखने देती । कहीं वह अपने रूप पर ही मुग्ध न हो जाय—

''देखन न दैहौं आरसी सुन्दर नन्द कुमार,
कहूँ मोहित ह्वै रूप निज मति मोहि देहु बिसार।''

इस प्रकार आरसी को लेकर कवि ने परस्पर प्रेम का बढ़ा ही सुन्दर वर्णन किया है । नायिका की आँखों में नायक की मूर्ति बसी हुई है। नायिका नायक के पास न रहने पर आरसी में ही अपना मुँह देखकर आँखों में बसे प्रियतम की आरसी में प्रतिछाया देखकर प्रियतम के दर्शन कर लिया करती है—

''जानी आज हम ठकुरानी तेरी बान,
तू तो परम पुनीत प्रेम पंथ बिचरत है।
तेरे नयन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैन-दिन देखिबौ करत है।''

उसी भाँति सँयोग प्रेम का अति विस्तृत वर्णन भारतेन्दु के प्रेम-काव्य में हुआ है। संयोग में प्रकृति का बड़ा महत्व होता है। उसका भी बड़ा

सुन्दर वर्णन हुआ है—

> "कूकै लगीं कोयलैं कदम्बन पै बैठि बैठि,
> फेरि फेरि धोए धोए पात हिल हिल सरसै लगे।
> बोलै लगे दादुर, मयूर लगे नाचै फेरि,
> देखिकै संजोगी जन हिय हरसै लगे।"

इस प्रकार भारतेन्दु का प्रेम वर्णन रीतकालीन पद्धति के अनुरूप हुआ है। उनका राधा-कृष्ण का प्रेम-वर्णन सामान्य नायक-नायिका के प्रेम-वर्णन से ऊपर नहीं उठता। उसमें हम सूर की गोपियों की सी भक्ति में पगी प्रेम की तन्मयता नहीं पाते, वरन् रीतकालीन कवियों की तरह रूप लिप्सानन्दी शृंगारिक-प्रेम को ही अधिक पाते हैं। नीचे हम दो उद्धरण और देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। उन उद्धरणों से यह और भी स्पष्ट हो जायगा कि क्या यह प्रेम-काव्य भक्ति की कोटि में आ सकता है? समाप्त करने से पहले इसकी साहित्यिकता पर भी दो शब्द कह देने उचित होंगे। सभी पद साहित्यिक दृष्टि के और उच्च कोटि के नहीं हैं। कुछ पद तो अत्यन्त ही निम्न स्तर के हैं जिनमें न भाव प्रवणता है, न भाषा प्रवाह और न संगीतात्मकता। किन्तु सामान्यतः पदों में सरसता, मधुरता, भाषा प्रवाह भी है और कुछ पद कला दृष्टि से उत्कृष्ट भी हैं। उनमें रीतकालीन कवियों की भाँति अलंकारों का व्यर्थ मोह और ठूँसाठूसी नहीं है। अलकार स्वाभाविक रूप से आगए हैं, इसलिए कला की सहज सरलतायुक्त सरसता उनके पदों का विशिष्ट गुण है। शृंगार वर्णन में भारतेन्दु व्यर्थ के चमत्कार और उक्ति-वैचित्र, उहात्मकता, नायिका भेद आदि के चक्कर में भी नहीं पड़े हैं। इस दृष्टि से उनकी कला बहुत हद तक रीतिकाल के प्रभाव से मुक्त है; किन्तु भावों में बहुत कुछ रीतिकालीन भावना से ही ग्रसित है। इस प्रकार भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से भारतेन्दु के प्रेम काव्य पर रीतिकाल का प्रभाव स्पष्ट और प्रचुर है, इसमें सन्देह नहीं।

> "सेजिया जिन आओ मोरी,
> मैं पइयाँ लागों तोरी।
> तुम सौतिन घर रात रहत हो,
> आवत हौ उठि भोरी।"

'हरी चन्द' हमसों मत बोलो,

झूँठ कहत क्यों जोरी ॥'

"छतिया लेहु लगाय सजन अब मत तरसाओ रे
तुम बिनु तलफत प्रान हमारे, नयन सों बहें जलकी धारें
वाढ़ी है तन बिरह-पीर सुरत दिखलाओ रे।
'हरीचन्द' पिय गिरवरधारी, पैयाँ परौं जाओं बलिहारी,
अब जिअ नाहिं धरत धीर, जल्दी उठ धाओ रे।"

विरह काव्य

विरह और मिलन के घात-प्रतिघात से ही मानव-जीवन का प्रेम-बिरवा हरा होता है और मुरझाता है। आदि काल से ही मानव-प्रेम के यही दो पहलू रहे हैं। किन्तु संयोग की अपेक्षा वियोग का जीवन में विशेष महत्व रहा है, क्योंकि वियोग में ही संयोग सुख की अतिशयता और तीव्रता का भान होता है और मानव में नाना भाव और संघर्ष की प्रेरणा जागृत होती है। इसीलिए कवियों ने विरह को अपना प्रिय विषय बनाया है। विश्व के सभी साहित्य में विरह वर्णन को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। कहीं विरह निराशा का कारण बना है तो कहीं जीवन-गति का प्रेरक, तो कहीं ईश्वरोन्मुख भक्ति का उत्प्रेरक। तुलसी, सूर और मीरा का वियोगी हृदय ही था, जिसमें नाना भावों की उत्ताल तरगें उठीं और भक्ति के समुद्र को हिल्लोलित कर दिया। उनके हृदय से फूटी वाणी साहित्य की अमर विभूति बन गई। पर दूसरी ओर विरह ने विद्यापति और बिहारी को रूप लिप्सक बना दिया।

भारतेन्दु के भक्ति-काव्य की विवेचना करते समय हम लिख आए हैं कि भारतेन्दु वल्लभ सम्प्रदायी, पुष्टमार्गीय प्रेम लक्षणा (रागानुगा) काम-रूपा भक्ति के उपासक कवि थे। इस भक्ति में विरह का सर्वोपरि महत्व होता है।

भारतेन्दु के विरह वर्णन में जहाँ हम एक ओर सूर की सी उत्कटता, विह्वलता, भावगाम्भीर्य और सरल चित्तता पाते हैं; जो हमें गोपियों के अध्यात्मिक प्रेम की याद दिलाती है; तो दूसरी ओर उनके विरह में विद्यापति और रीतकालीन कवियों का सा साधारण श्रृंगार-परक काम-विह्वला विरह का रूप भी पाते है। भारतेन्दु रीतकाल और आधुनिक काल के संगम पर थे। रीतकालीन श्रृंगार-परक शैली की परम्परा उनके पृष्ठ पर थी। मध्य युगीन भक्ति परम्परा भी उनमें समन्वित थी। इसलिए इन दोनों धाराओं का समन्वय भारतेन्दु के विरह वर्णन में मिलता है। किन्तु वे एक नवीन आगत युग के भी कवि थे, जिसमें चमत्कार पूर्ण अस्वाभाविक उहात्मकता को स्थान

न था। इसलिए उनकी नायिका न तो जायसी की नागमती की भाँति विरह से सूखकर काँटा होगई है और न बिहारी की नायिका की तरह साँसों के साथ आगे-पीछे ही झोटे खाती है। स्वाभाविकता और सरलता भारतेन्दु के काव्य का एक महान गुण है। उनके काव्य में भाव-गुम्फन और भाषा दोनों की ही सरलता है। विरह में अतिरंजना पूर्ण वर्णन जहाँ कहीं भी है तो वह केवल विरह की स्वाभाविक तीव्रता को प्रकट करने के हेतु ही, वह भी ऐसा कि नितान्त अस्वाभाविक न जान पड़े।

"चन्द्रावली कृष्ण वियोग में व्याकुल है—

'मन मोहन सों बिछुरी जब सों,
तन अँसुअन सों सदा धोवती हूँ।
हरीचन्द जू प्रेम के फन्द परी,
कुल की कुल लाज ही खोवति हूँ।"

उपरोक्त उद्धरण में विरह की तीव्रता का मर्मस्पर्शी वर्णन है, पर तनिक भी अस्वाभाविक नहीं हो पाया है और न अलंकारों के बोझ से ही बोझिल होगया है।

विरह की दस दशाएँ मानी जाती हैं। विरह की चरम सीमा दिखाने के लिए उन सभी दशा का वर्णन करना कवि परिपाटो सी बन गई है। भारतेन्दु की चन्द्रावली की भी वही दशाएँ हो जाती हैं, पर वर्णन में एक अनूठी स्वाभाविकता और सरल सरसता है—

"छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी, घर,
हारी सी बिकी सी सौ तौ सब ही घरी रहै।
बोलैं तें न बोलै दृग खोलै नाहि डोलै, बैठी,
एक टक देखै सो खिलौना सी धरी रहै।
हरीचन्द औरौ घबरात समुझाए हाय,
हिचकि हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।
याद आवे सखिन रुवावै दुख कहि कहि,
तौ लौं सुख पावै जोलौं मूरछि परी रहै।

उपरोक्त उद्धरण में विरह की सभी दशाओं का वर्णन हो गया है। विरह में नायिका की मनोवृत्ति का भी सुन्दर वर्णन उसमें होगया है।

विरह में प्रिय को उपालम्भ देना भी एक स्वाभाविक चित्तवृत्ति है।

कृष्ण ने चन्द्रावली से मिलना छोड़ दिया है अतः चन्द्रावली कृष्ण को उपालम्भ देती हुई कहती है—

"कित कौ ढरिगौ वह प्यार सबै,
क्यों रुखाई नई यह साजत हौ।
हरिचन्द भये हो कहा के कहा,
अन बोलिबे में नहिं लाजत हौ।
नित कौ मिलिबौ तो किनारे रहौ,
मुख देखत ही दुरि भाजत हौ।
पहिले अपनाय के बढ़ाय कै नेह,
न रुसिवे में अब लाजत हौ।

चन्द्रावली का प्रेम-विरह प्रवास है। इस सम्बन्ध में हम 'चन्द्रावली नाटिका' की समीक्षा करते समय 'खण्ड २' में अपना मत प्रकाशित कर आए हैं। यहाँ अपने उसी मत की पुष्टि के लिए दो उद्धरण प्रस्तुत करते हैं कि चन्द्रावली का अनुराग पूर्वानुराग है और संयोग के पश्चात् कृष्ण से उसका वियोग हुआ है। कृष्ण सौन्दर्य का सुधारस पान करने के बाद नेत्र उसी सलौनी दृष्टि की रस माधुरी का पुनः पान करने के लिए 'तलफते' रहते हैं—

"सखि ये नैना बहुत बुरे।
मोहन के रस बस ह्वै डोलत, तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे।
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नाहिं हठ सों तनिक मुरे।
अमृत-भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे।"

उद्धरण की अन्तिम पंक्ति में नेत्रों के रूप और गुण की विपरीतता का बड़ा ही सुन्दर उपालम्भ पूर्ण वर्णन हुआ है।

कृष्ण-दर्शन के पश्चात् नेत्र ही नहीं मन भी हाथ से निकल गया है और उनके वियोग में तड़फता रहता है—

"वह सुन्दर रूप बिलोकि सखी,
मन हाथ ते मेरे भग्यौ सो भग्यौ।

जब नायिका का नायक से बिछोह हो जाता है, तो विछोह की घड़ियों में नायक के हाव भाव की स्मृतियाँ आ आ कर उसके मन प्राण को अविभूत करती रहतीं हैं और वह उन्हीं के सहारे खिलती-मुरझाती रहती है। विरह

की आरम्भ में तीन मुख्य दशाएँ होती हैं—अभिलाषा, चिन्ता और स्मृति। नीचे के पद में उन तीनों दशाओं का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक वर्णन हुआ है--

"पहिले मुस्काइ लजाइ कछू क्यों चितै मोतन छाम कियौ।
पुनि नैन लगाय बढ़ाय कै प्रीति निबाहन को क्यों कलाम कियौ।
'हरीचन्द' भये निरमोही इते निज नेह को यों परिनाम कियौ।
मन माँहि जो तोरन की ही हुती अपनाइ के क्यों बदनाम कियौ।

इस उद्धरण से हमारी उपरोक्त स्थापना सत्य सिद्ध होती है कि कृष्ण चन्द्रावली का वियोग विषम परिस्थितियों वश, मिलन के पश्चात् हो गया था और कृष्ण ने उसे अपनाने की भी प्रतिज्ञा कर ली थी; अस्तु यह विरह प्रवास विरह के अन्तर्गत ही आता है।

चन्द्रावली, जायसी की नागमती और तुलसी के राम की तरह बन के वृक्षों से अपने प्रियतम का पता पूछती है।

"अहो अहो बन के रुख कहूँ देख्यौ पिय प्यारौ,
मेरौ हाथ छुड़ाय कहौ वह कितै सिधारौ।
अहो कदम्ब अहो अम्ब निम्ब अहो बकुल तमाला,
तुम देख्यो कहुँ मनमोहन सुन्दर नन्द लाला।"

जब उसे कृष्ण का कुछ पता नहीं लगता और मिलन दुसाध्य हो जाता है तो वह कालीदास के यक्ष की तरह और जायसी की नागमती की तरह वायु से अपने प्रियतम के पास सन्देशा भिजवाती है--

"अरे! पौन सुख भौन सबै तल गौन तिहारौ,
क्यों न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारौ।"

कृष्ण साहित्य में भंवरगीत की अपनी एक विशिष्ट महत्वशील परम्परा बन गई है। कृष्ण साहित्य के सभी कवियों ने भँवरगीत की परम्परा को अपना कर कृष्ण की भँवरे से तुलना की है और उसके द्वारा कृष्ण के पास सन्देश भी भिजवाया है। भारतेन्दु ने भी उस परम्परा का निर्वाह किया है चन्द्रावली भंवरे से भी अपने प्रियतम के पास सन्देश भिजवाती है—

"अहो! भंवर तुम श्याम रंग मोहन व्रत धारी,
क्यों न कहौ वा निठुर सों दशा हमारी।'

कवि ने हंस से भी सन्देश वाहक का काम लिया है। चन्द्रावली हंस से भी अपने प्रिय के पास सन्देश भिजवाती है—

"अहो ! हंस तुम राजवंस सरवर की शोभा।
क्यों न कहौ मेरे मानस सों दुख के गोभा ॥"

कृष्ण वियोग में नायिका चन्द्रावली इतनी ऊब-डूब हो जाती है कि उसे बन की स्वाभाविक हरियाली भी अस्वाभाविक प्रतीत होने लगती है। वह स्वयं वियोगाग्नि में जल रही है अस्तु उसे केवल जलन ही एक स्वाभाविक वस्तु प्रतीत होती है और बन को सम्बोधन कर कहती है—

"मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।"

उत्कट प्रेम में वियोग की अतिशयता की अवस्था आत्मविस्मृति की अवस्था हो जाती है और प्रेमी अपने को भूलकर या तो दीवाना हो जाता है या प्रियमय हो जाता है। भगवान का भक्त भी जब भगवानमय हो जाता है तो वह उसकी ल्यावस्था होती है। भारतेन्दु की नायिका की भी यही दशा है। वह प्रिय वियोग में आपा खोकर दीवानी हो गई है और प्रियमय हो गई है। वह अपने में ही प्रिय का आरोप कर अपने में ही सिमिट जाती है। नायिका की इस वियोग-दशा का निम्न उद्धरण में बड़ा ही सुन्दर और हृदयहारी एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है—

"राधे भई आपु घनश्याम,
आपुन को गोविन्द कहत है छाँड़ि राधिका नाम।
वैसेइ झुकि-झुकि कै कुंजन में कबहुक बेनु बजावै,
कबहुँ आपनों नाम लेइकै राधा - राधा गावै।
कबहु मौन गहि रहत ध्यान करि मूँदि रहत दोउ नैन,
'हरीचंद' मोहन बिनु व्याकुल नेकु नहिं चित चैन ॥"

राधिका कृष्ण वियोग में व्याकुल हैं। वे कल्पना करती हैं, कृष्ण भी उनके लिए उतने ही व्याकुल होंगे। उनकी व्याकुलता का आभास पाने के लिए वे स्वयं को गोविन्द कल्पित कर 'राधा-राधा' की रट लगाती हैं। प्रेम में प्रेमी प्रिय के द्वारा भी उतना ही चाहा जाना चाहता है जितना वह उसे स्वयं चाहता है। जितना वह स्वयं वियोग में प्रिय के लिए छटपटाता है वह सोचता है उतना ही उसका प्रिय भी उसके लिए छटपटा रहा होगा। इस कल्पना से उसे एक बड़ा आत्म सन्तोष और सुख का अनुभव होता है। प्रेम की इस मनोभावना की कल्पना और उसका चित्रण भारतेन्दु की अनूठी वस्तु है।

भारतेन्दु के विरह काव्य में विरह की सभी दशाओं—अभिलाषा, चिन्ता स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मरण—का सुन्दर मर्मस्पर्शी मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। इस प्रसंग में हम पहले एक स्थान पर एक उद्धरण दे आए हैं कि नायिका विरह की सभी दशाओं को प्राप्त होती हुई मरण की स्थिति तक पहुँच जाती है। नायिका अथवा नायक की मृत्यु हो जाने पर वह करुण रस हो जाता है और मरण की अवस्था तक पहुँच कर जीवित रहने पर करुण विप्रलम्भ। भारतेन्दु काव्य में करुण विप्रलम्भ ही है। नीचे हम विरह की मरणावस्था का एक कारुणिक उद्धरण और प्रस्तुत करते हैं—

"हे हरि जू बिछुरे तुम्हरे नहिं धारि सकी सो कोऊ विधि धीरहि।
आखिर प्रान तजे दुख सों न सम्हारि सकी वा वियोग की पीरहि॥
पै 'हरिचंद' महा कलिकान कहानी सुनाऊँ कहा बलिवीरहि।
जानि महा गुन रूप की रासि न प्रान तज्यौ चहे वाके सरीरहि॥"

उपरोक्त उद्धरण में नायिका की सखी नायक से उसकी विरहावस्था का वर्णन कर रही है। वियोग की अतिशयता के साथ-साथ नायिका के सौन्दर्य का भी कवि ने सखी के मुख से संकेत करा दिया है और उस संकेत में नायक के प्रति सखी की फटकार है—कि तुम ऐसी महा-रूप-राशि को छोड़े बैठे हो और वह तुम्हारे वियोग में प्राण तजे दे रही है। तुम शीघ्रता से जाकर संयोग सुधारस से उसके अटके प्राणों को जीवन दो—की भी सांकेतिक व्यंजना हो रही है।

सूर की गोपियों की तरह भारतेन्दु की गोपियाँ भी विरहोद्विग्न होकर कृष्ण को रूप-रस का लोभी भौंरा कहती हैं और कृष्ण पर व्यंग करती हैं—

"भौंरा रे रस के लोभी तेरौ का परमान।
तू रस मस्त फिरत है फूलन पर कर अपने मुख गान॥"

और उपालम्भ देती है—

"खुटाई पोरहि पोर भरी,
हमहिं छाँड़ि मधुबन में बैठे बरी कूर कुबरी।
स्वारथ लोभी मुँह देखे की हमसों प्रीति करी,
'हरीचंद' दूजेन के ह्वै के हाहा हम निदरी॥"

जब ऊधौ गोपियों को आकर ज्ञान का उपदेश देते हैं तो सूर की गोपियों की तरह भारतेन्दु की गोपियाँ भी ऊधौ से मार्मिक, सरल, स्वाभाविक

व्यंगोक्ति में कहती हैं —

"ऊधौ ! जो अनेक मन होते,
तौ इक श्याम सुन्दर कों देते एक लै जोग सँजोते ।
इक सों सब गृह कारज करते इक सों धरते ध्यान ॥
इक सों श्याम रंग रँगते तजि लोक-लाज कुल कान ।
को जप करै जोग को साधै को पुनि मूँदै नैन ।
हियै एक रस स्याम मनोहर मोहन कोटिक मैन ॥
ह्याँ तो हुतो एक ही मन सो हरि लै गये चुराई ।
'हरीचन्द' कोऊ और खोजिकैं जोग सिखावहु जाई ॥"

और ऊधौ के हाथ सन्देश भेजती है—

"ऊधौ ! हरि जू सों कहियौ जाइ हो जाइ ।
बिनु तुम प्रान परे संकट में घट सों निकसत आय हो आय ॥"

विरह काव्यों में प्रकृति का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है । भारतेन्दु के विरह काव्य में प्रकृति का मनोहारी वर्णन हुआ है । इसका विशद् विवेचन हम एक स्वतन्त्र प्रकरण में कर आए हैं । यहाँ उस पर कुछ कहना व्यर्थ की पुनरावृत्ति होगी ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु का विरह काव्य कृष्ण साहित्य के विरह काव्य की परम्परा का काव्य है । उसमें सूर की सी मार्मिकता, सरलता और माधुर्य है । रीतिकाल की ऊहात्मक और चमत्कारपूर्ण अतिरंजना युक्त शैली से भारतेन्दु ने अपने को बचाने का प्रयास किया है । किन्तु वे पूर्ण रूप से उस प्रभाव से मुक्त हो गये हों सो बात भी नहीं है । जहाँ तहाँ उनके विरह काव्य पर रीतिकालीन भाव और शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है । इनके प्रेम काव्य का विवेचन करते समय हमने एक बात कही है कि इनका प्रेम काव्य साहित्यिक दृष्टि से और कला की दृष्टि से भी अपेक्षाकृत निम्न कोटि का है । उसमें हृदय सौन्दर्य, हृदय की गहराई की पैठ नहीं है वरन् वाह्य सौन्दर्य ही अधिक है । अस्तु उसमें गहराई न आकर छिछलापन अधिक है । हृदय की मसोस नहीं, स्नायुओं की क्षणिक गुदगुदी है । किन्तु यह बात विरह काव्य के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती । विरह काव्य में भाव और कला दोनों की उच्चता है और गहराई है । उसमें मर्म को छूने की शक्ति है और वह पाठक के हृदय में करुणा की टीस उत्पन्न करने

में सशक्त है। उसके साथ पाठकों के भावों का तादात्म्य होता है; अस्तु वह मन-प्राण को निकटता से स्पर्श करता है। यही उस काव्य की सबसे बड़ी सफलता है। उसकी कला में भी एक गठाव और सौष्ठव है, भाषा में प्रवाह और माधुरी है। निःसन्देह भारतेन्दु का विरह-काव्य हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है।

राष्ट्रीय काव्य

—:-*-:—

अपने नाटकों की भाँति भारतेन्दु ने अपनी कविता को भी जन जागरण का सशक्त साधन बनाया है। अब तक काव्य का एकमात्र विषय भक्ति ही रहा है; चाहे वह निर्गुण ज्ञान मार्गी भक्ति हो, चाहे राम भक्ति, या राधा-कृष्ण की भक्ति हो। जिसे श्रृंगारी कविता की संज्ञा दी जाती है वह भी इसी विषय को विशेष कर राधा-कृष्ण को आधार बनाकर की जाती रही है। इस सत्य में वीर-गाथा काल की वीर-रसात्मक कविताएं अवश्य अपवाद हैं। किन्तु उस काल की कविताओं का नायक राजवंश का वीर पुरुष होता था और कविताओं में उसके युद्धों और कन्याहरण की गाथाओं का वर्णन होता था। उसी प्रसंग के साथ शृङ्गार और प्रकृति आदि का वर्णन होता था। कहने का अभिप्राय यह कि कविता में जन-साधारण की भावनाओं तथा उसके जीवन का वर्णन नहीं होता था। हमारा समस्त काव्य साहित्य इसी परम्परा का भण्डार है। उसमें जीवन की विविधताओं का अभाव था। इसी कारण वह या तो भक्तों का साहित्य या चारणभाटों का साहित्य अथवा शृंगारियों का साहित्य होकर रह गया था। उसमें सामान्य जानता के हर्ष-विषाद, दुख, दैन्य का वर्णन नहीं मिलता। इस रूप में हम उसे एकाँगी कह सकते हैं, वैसे उसमें सारी मानवीय भावनाओं की गहराई का वर्णन है।

काव्य में विषय-क्षेत्र की सीमा का विस्तार भारतेन्दु काल की मौलिक देन है। भारतेन्दु के समकालीन अनेक कवि भी या तो रीतिकालीन चमत्कारी पद्धति को अपनाकर समस्यापूर्ति कर रहे थे या उनकी दृष्टि राधा और कृष्ण की बिहार लीला, मान मनौव्वल, संयोग-वियोग तक ही गई थी। भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में केवल एक कवि ऐसा हुआ था जिसने कुछ हद तक अपने काल की सीमाओं के भीतर युगयथार्थ को अपना आलम्बन बनाया था—और वह था कबीर। तुलसीदास ने भी सामयिक परिस्थितियों का रामायण में यत्र-तत्र वर्णन किया है। किन्तु उसका चित्रण प्रभाव रूप में ही हुआ है। भारतेन्दु काव्य क्षेत्र की इस संकुचित सीमा को तोड़कर जीवन के विशाल

विस्तृत क्षेत्र से नये-नये आलम्बन लेकर कविता कामिनी का कलेवर सजाने में लगे। उनकी कविता लचकदार, बलखाती, अपने चमत्कार से चकाचौंध उत्पन्न करने वाली ही न रही, वरन् वह राष्ट्रीय जागरण की एक शक्ति बन गई। जीवन के विविध क्षेत्रों में उसका प्रवेश होगया और वह जन-जीवन में प्रविष्ट होकर इस नवीन चेतना के कवि के हाथों राष्ट्रीय चेतना की दुंदभी बन गई। भारतेन्दु काव्य की गतानुगत-भक्ति और शृंगार की परम्पराओं पर चलते हुए भी कविता को राष्ट्रीय जागरण का नया कलेवर प्रदान कर सके; यही हिन्दी साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन थी; जिससे हिन्दी कविता का नया युग आरम्भ होता है।

भारतेन्दु की विशेषता केवल यही नहीं थी कि उन्होंने कविता के विषय-क्षेत्र को व्यापकता प्रदान की, वरन् उन्होंने शैली की दृष्टि से भी प्राचीन परम्परा में नवीन प्रयोग किये और उन्हें कलात्मक निखार प्रदान किया। भारतेन्दु के हाथों कविता अपनी संकुचित सीमा तोड़कर जन-जीवन के विशाल-कानन की विहारिणी ही नहीं बनी, वरन् भारतेन्दु ने उसे जन-जीवन की शैली में भी सँवारा-सजाया। उन्होंने न सिर्फ राष्ट्रीय चेतना को ही अपनी कविता का विषय बनाया वरन् इसके साथ ही रीतिकालीन चमत्कारपूर्ण लक्षण प्रधान, अस्वाभाविक अलङ्कारों से बोझिल शैली को भी सरल, सरस और जन-रूप प्रदान किया है और कविता जहाँ अब तक कुछ राजाओं और उनके दरबार का मनोरंजन करने वाली वस्तु थी वह अब जन-साधारण के मनोरंजन और चेतना का उद्बोधन करने वाली बन गई।

यहाँ हमें उनके जीवन की एक घटना याद आगई। जिसके उद्धरण का मोह हो रहा है। एक बार भारतेन्दु एक इक्के पर बैठे कहीं सैर को जा रहे थे। इक्के वाला भी मस्त तबियत का व्यक्ति था और सरसराती हवा की गुदगुदाहट युक्त संस्पर्श से उसका मन गा उठा। वह गीत था स्वयं भारतेन्दु का। भारतेन्दु ने पूछा—यह किसका गीत है जानते भी हो। उसने जवाब दिया—भारतेन्दु जी का, पर उसने भारतेन्दु को देखा कभी न था, अतः वह उन्हें पहचान न सका। घटना साधारण है पर इससे भारतेन्दु और उनकी कविता की लोकप्रियता पर प्रकाश पड़ता है।

अध्ययन की दृष्टि से उनकी राष्ट्रीय जागरण की कविताओं के सामान्यतः तीन वर्ग किए जा सकते हैं—

(१) वे, जिनमें उन्होंने भारत की यथार्थ दुर्वस्था का चित्र उपस्थित किया है।

(२) वे, जिनमें देशवासियों को उनके प्राचीन गौरव का स्मरण दिला कर और उसे वर्तमान स्थित के प्रसंग में रखकर देशवासियों को चेतावनी दी गई है।

(३) वे, जिनमें देशवासियों की प्रवृत्तियों के प्रति तीव्र व्यंग किए गए हैं और उनकी कुप्रवृत्तियों के प्रति उन्हें सजग कर देशोद्धार के लिए कटिवद्ध होने के हेतु उनका अह्वान किया गया है।

हम यह बात पहले भी कह आये हैं और यहाँ प्रसंग में उसे दुहराना पुनारोक्ति दोष नही कहा जायगा कि विदेशी शासन और उसकी सभ्यता एवं साहित्य के सम्पर्क से देशवासियों में एक नवीन चेतना आई थी। गरीबी और दुर्वस्था भारत के लिए कोई नई बात न थी किन्तु उसका इतना गहरा अहसास होना कि उसके लिए जन-मन आकुल हो उठे और उसे साहित्य का एक विषय और वह भी प्रमुख विषय बनने का गौरव प्राप्त हो, एक नयी बात थी और इस चेतना के लिए हम निःसन्देह विदेश और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य के ऋणी हैं। उसके सम्पर्क से हमने विदेशी जनता के राष्ट्रीय संघर्षों का इतिहास पढ़ा और हमने भी अपनी अवस्था का अहसास किया। उस अहसास को साहित्य में सबसे प्रथम भारतेन्दु ने अभिव्यक्ति प्रदान की—

"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥"

किन्तु भारत की अवस्था पर आठ आँसू बहाना ही तो पर्याप्त न था। एक समय था जब भारत भी विश्व अग्रज था और सभ्यता का प्रकाश यहाँ से सुदूर देशों में फैलता था—

"सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जेहि जो रूप-रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफ़ल जिन गहि लीनो॥"

अब उसी भारतवर्ष की यह दशा होगई है कि—

अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा! हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥"

कवि एक ओर भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाकर आज की

दशा के प्रति देशवासियों को चेताता है और साथ ही भारतमाता के मुख से शुभ कामना कराता हुआ कहता है—

"बल कला कौशल अमित विद्या वत्स नित लहैं।
पुनि हृदय-ज्ञान प्रकाश तें अज्ञान - तम तुरतहिं दहैं॥
तजि द्वेष, ईर्षा, द्रोह, निन्दा देश उन्नति सब चहैं।
अभिलाख यह जिय पूर्ववत् धन धन्य मोहि सबही कहैं॥"

हमारा देश रत्नगर्भा कहा जाता था, किन्तु अब हम गरीब होते जा रहे हैं और हमारी शक्ति, विद्या, बल, बुद्धि सबका नाश होता जा रहा है। अब भी हमारा देश रत्नों की खान है और हम अपनी दशा सुधार कर पुनः अपने खोए गौरव को प्राप्त कर सकते हैं—

"याही भुव मंह होत है हीरक आम कपास।
इत ही हिमगिरि गंग जल काव्यगीत परकास॥
जाबालि जैमिन गर्ग पातंजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अंक में कबहिं सबै भुवदेव॥
याही भारत मध्य में रहे कृष्ण, मुनि व्यास।
जिनके भारत गान सों भारत बदन प्रकास॥

\+ + +
\+ + +

सोई भारत की आज यह भई दुर्दशा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय॥"

कवि केवल प्राचीन गौरव गाथा गाकर उसका स्मरण ही नहीं दिलाता वरन् वह तत्कालीन दुर्वस्था के कारणों की तह में जाकर उन पर तीखे व्यंग करता हुआ, जनता को चेतावनी देता है कि उन कारणों को समझें और उनसे अपने को मुक्त करें। भारतेन्दु ने प्राचीन गौरव के ऊपर अनेक कविताएँ लिखी हैं, किन्तु हम उन्हें उन अर्थों में प्राचीनतावादी नहीं कह सकते जिन अर्थों में आज अनेक साहित्यकारों को कहते हैं और उन्हें गतिशील ठहराया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कोरा प्राचीनतावादी कलाकार अगतिशील होता है और आज के युग में यह नारा प्रतिक्रियावादी है। परन्तु भारतेन्दु इस कोटि में निःसन्देह नहीं आते। उनकी प्राचीन गौरव-गाथा प्रगतिशील है, क्योंकि वह भारत की सोयी आत्मा को जगाने के लिए थी। उन्होंने स्वस्थ और अस्वस्थ, समय के लिए उपयुक्त और समय के लिए

अनुपयुक्त, गतिशील प्राचीन और रूढ़िगत अगतिशील प्राचीन के बीच भेद कर उसी प्राचीन को अपनाने की बात कही थी जो, प्रगतिशील है और तत्कालीन समाज के लिए ग्राह्य है, जिस पर नवीन चेतना का महल निर्मित हो सकता है। इसीलिए उस सब प्राचीन पर जिसने हमारे जन-जीवन को रूढ़ियों से जकड़ दिया था, तीखे व्यंग प्रहार किये हैं। उनके व्यंग-काव्य का हम अगले प्रकरण में अध्ययन करेंगे। उनका व्यंग-काव्य भी उनके राष्ट्रीय जागरण के काव्य का एक विशेष अङ्ग है अतः हम यहाँ उसका केवल उदाहरण देकर ही बस करेंगे —

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।।
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायौ।
खान-पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायौ।।"

इसी प्रकार कवि ने धर्म, जाति प्रथा, विदेशी राज्य, अशिक्षा, आलस्य आदि भारतदुर्दशा के कारणों पर तीखा व्यंग कर, उसमें ग्रस्त जनता को झकझोर कर जगाने का काम किया है। वे देशवासियों को केवल झकझोर कर ही नहीं छोड़ देते, बल्कि उस अवस्था से मुक्त होकर किस प्रकार उन्नति के पथ पर आगे बढ़े, इसका भी सन्देश देते हैं। एक ओर वे देशवासियों को स्वार्थपरता और परस्पर वैमनस्य के प्रति सचेत करते हैं तो साथ ही आगे बढ़ने का मार्ग बताते हैं। यह बात अन्य है कि वह मार्ग सबको मान्य न हो, पर उस काल की परिस्थिति में वह प्रायः उचित ही था और फिर भारतेन्दु जैसे कवि से जिसके जीवन में अनेक विरोधी भावनाओं का जमघट था और किसी प्रकार के सन्देश की आशा भी नहीं की जा सकती थी—

"निज स्वारथ को धर्म दूरि या जग सों होई।
ईश्वर पद में भक्ति करैं छल बिनु सब कोई।।
खल के विष वैनन सों मति सज्जन दुख पावैं।
छूटै राज-कर मेघ समै पर जल बरसावैं।।
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत कविता सब कोउ कहै।
यह कवि बानी बुध बदन में रवि, ससि लों प्रगटित रहै।।

इस छोटी सी शुभ कामना और सन्देश में ही धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और आर्थिक उन्नति की शुभ कामना और सन्देश निहित है।

वे समझते थे कि देश में खल व्यक्तियों का होना स्वाभाविक बात है जो सज्जनों के मार्ग में नाना प्रकार की बाधाएँ उपस्थित करते है, जिससे सज्जनों का ही अहित नहीं होता, वरन् समस्त देश का अहित होता है। उन सज्जनों को सम्बोधन करते हुए वे, उन्हें अपने कर्त्तव्य में रत रहने का सन्देश देते हैं—

"खल जनन सों सज्जन दुखी मति होंहि हरि पद रति रहै।
अपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै॥"

उन्होंने देशवासियों के सम्मुख उनकी तत्कालीन दुर्वस्था का चित्र उपस्थित कर और उन्हें इनके प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाकर उनका आह्वान किया कि वे देश दशा के सुधार करने के लिए कटिबद्ध हों—

"उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन शान धरौरी।
विजय निशान बजाय बावरे आगे पाँव धरोरी॥
आलस तें कछु काम न चलि है सब कुछ तौ बिनसौरी।
बीत गयौ धन बल, राजपाट सब कोरो नाम बचोरी॥"
तऊ नहिं सुरति करौरी॥"

हे देशवासियो तुम्हारा सब कुछ तो नष्ट होगया। तुम्हारा धन चला गया और तुम दीन हीन निर्धन होगए। तुन्हारा राज गया और तुम सब प्रकार से पराधीन होगए। अब आलस से काम नही चलेगा, अतः तुम चेतो और अपनी दशा सुधारने के लिए कटिबद्ध हो। इस आह्वान में कितनी सीधी अपील है और गम्भीर चेतना उद्बोधक सन्देश है। हम यह बात पहले भी स्पष्ट कर आए हैं कि भारतेन्दु की राजनीति स्पष्ट नहीं थी। वे प्रच्छन्न रूप से राजनैतिक बात कहते थे, वही बात यहाँ भी है। इसी अध्याय में हम आगे भी प्रसंग में इस पर विचार प्रकट करेंगे।

भारतेन्दु राष्ट्रीय जागरण के एक सजग कलाकार थे। उन्होंने जहाँ इस बात की आवश्यकता समझी कि देशवासियों को उनकी यथार्थ स्थिति से अवगत कराकर उन्हें सचेत करना आवश्यक है, वहाँ उन्होंने यह बात भी अनुभव कर ली थी कि किसी भी जाति और देश की सभ्यता के विकास का द्योतक और साधन उस देश की भाषा और साहित्य है। यह हम पहिले ही कह आए हैं साहित्य के उस रूप की आवश्यकता का अनुभव कर उन्होंने साहित्य को वह रूप प्रदान किया। भाषा की उन्नति के प्रति भी वे बड़े जागरूक थे। उन्होंने भाषा और साहित्य दोनों को ही नवीन चेतना का

संवाहक बनाया था।

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हय को सूल॥"

÷ ÷ ÷

चहहु जो साँचहु निज कल्यान।
तो मिलि सब भारत सन्तान॥
जपहु निरन्तर एक जबान।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान॥

÷ ÷ ÷

करहु बिलम्ब न भ्रात अब।
उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु।
प्रथम जो सब को मूल॥
लहहु आर्य भ्राता सबै विद्या बल बुधि ज्ञान।
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होउ सबै गुन खान॥"

भारतेन्दु साहित्यकार के साथ आन्दोलनकर्ता भी थे। उन्हें एक ओर साहित्य रचना का भी कार्य करना होता था, तो दूसरी ओर उसके प्रचार, नवीन विचारों के प्रसार का भी कार्य करना होता था। इसीलिए वे स्वयं नाटक मंडली बनाकर नाटक खेलते खिलाते, लिखते लिखवाते और जगह-जगह जाकर कवि सम्मेलनों और गोष्ठियों द्वारा उनका प्रचार करते थे। सभाओं में जाकर भाषा के प्रचार पर भाषण देते थे, गाँव गाँव प्रचारकों को भेजने का आन्दोलन करते थे। हम उनके गीतकाव्य के प्रकरण में एक उद्धरण दे आए हैं कि वे किस प्रकार देश की यथार्थ दशा के चेतना उद्बोधक गीतों के जन साधारण की भाषा में होने तथा उनके गाँव गाँव में प्रचारित किए जाने के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं महंगी, रोग, अकाल, विदेशी शोषण से हुई देश की दुर्वस्था, वहुविवाह के कुपरिणाम, धर्माडम्बर आदि आदि यथार्थ विषयों पर जन-भाषा में, जनता की शैली में चेतना उद्बोधक गीत लिखे, और उनका प्रचार किया। उनके इस प्रकार के प्रायः सभी गीत उनके नाटकों के साथ जनता के बीच में आसानी से पहुँच जाते थे। वे कविता को जन-जागरण का सफ़ल अस्त्र मानते थे। विशेषकर ग्राम गीतों को क्योंकि वे जानते थे कि ग्राम गीतों की पैठ जनता के हृदय में है—"जितना ग्राम

गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।'' इस कथन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु भारतीय जनता में चेतना जाग्रत करने को कितने उत्कंठित थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य के विभिन्न अंगों को सशक्त साधन के रूप में प्रयोग करते थे।

भारतेन्दु ने भारत उद्धार के लिए ईश्वर से जो भक्ति की है, वह भी उनकी राष्ट्रीय जागरण की कविताओं का अङ्ग है। उसकी विशेषता पर हम पिछले प्रकरण में विचार कर आए हैं। देशोद्धार के विषय पर उनकी कविताएँ, उनकी सामाजिक व्यापक चेतना की द्योतक हैं और प्रकट करती हैं कि वे देश उद्धार के लिए कितने उत्कंठित रहते थे।

''डूबौ भारत नाथ बेगि जागौ अब जागौ।''

भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविताओं में हम उन समस्त कविताओं को सम्मिलित कर लेते हैं जो उन्होंने देश के सांस्कृतिक उत्थान, धार्मिक रुढ़ियों से मुक्ति, आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति आदि के सम्बन्ध में लिखी हैं। क्योंकि राष्ट्रीय जागरण में यह सब पहलू निहित हैं। विदेशी सत्ता से मुक्ति का आन्दोलन ही केवल राष्ट्रीय जागरण नहीं है। वह तो उसका एक अंग है। भारतेन्दु इसी व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय जागरण के कवि थे।

उनकी राष्ट्रीय कविताओं के सम्बन्ध में आधुनिक आलोचकों में सबसे बड़ा विवाद उनकी उन कविताओं के लेकर है, जो उन्होंने राजभक्ति के संबंध में लिखी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु राज भक्त थे, पर एक देश भक्त राज भक्त। उनकी राज भक्ति की कविताओं को लेकर ही उन्हें अंग्रेज चाटुकार के अर्थ में राजभक्त कह देना गलत होगा। उनकी राज भक्ति उनकी देश भक्ति का ही एक अंग थी। यदि हम उस काल के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें सहज ही स्पष्ट हो जायगा कि उस समय राज भक्ति देश भक्ति का एक अंग थी। अंग्रेजी सरकार जहाँ देश का आर्थिक शोषण कर रही थी और हमें गुलाम बनाए रखने के लिए ही वह जो सुधार कर रही थी, वे वास्तव में राष्ट्रीय जागरण में बहुत सहायक सिद्ध हुए। हम अपने राष्ट्रीय जागरण के लिए काफी हद तक अंग्रेजी साहित्य, भारत में किए गए उनके द्वारा सुधारों, रेल, तार, डॉक आदि योजनाओं के ऋणी हैं। इस

सत्य को हम नकार नहीं सकते। अंग्रेज उस काल जो परिवर्तन भारत में कर रहे थे, उनमें से अनेक हमारे देश के लिए प्रगतिशील सिद्ध हुए थे। अस्तु उस काल की देश भक्ति का एक अंग राज भक्ति होना नितान्त स्वाभाविक था। भारतेन्दु की कविताओं में देश भक्ति और राज भक्ति दो विरोधी विचारों को कविताएँ नहीं हैं, जैसा कि कुछ आलोचक समझते हैं और न वे भारतेन्दु की अस्पष्ट राजनैतिक विचारधारा की द्योतक ही हैं। उनका आधार बिल्कुल साफ हैं।

कुछ आलोचक उनकी कविताओं में राज भक्ति की प्रधानता दिखाकर उन्हें कोरा राज भक्त सिद्ध करते हैं, और अंग्रेजों का जो उन पर कोप हुआ उसके लिए आँसू बहते हैं। ऐसे विद्वान आलोचक एक तो ऐतिहासिक विकास को नहीं समझ पाते और दूसरे अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध मुक्ति आन्दोलन को ही देश भक्ति का आन्दोलन मानने की गलती करते हैं। रूढ़िगत, और विकार ग्रस्त प्राचीन संस्कृति, धार्मिक अन्धविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों आदि से मुक्ति के आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रथक करने की गलती करते हैं। वस्तुतः यह सब मिलकर ही राष्ट्रीय आन्दोलन का समग्र रूप उपस्थित करते हैं। उनको प्रथक रूप से देखना राष्ट्रीय जागरण की समग्रता को खंडित कर देना है। और वस्तुतः अंग्रेजों का जो कोप उन पर हुआ और जिसके सामने न झुककर उन्होंने अंग्रेजों के प्रति अपने व्यंग बाणों को कुंठित न होने दिया; इसीलिए वे साहित्य ही नहीं समाज और राजनीति में भी नव-जागरण की राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक अमर गायक का महान पद प्राप्त कर सके।

उन्होंने वीर भक्ति और श्रृंगार (रीतिकाल) की संकुचित साहित्य-धारा को वस्तुतः व्यापक राष्ट्रीय आधार प्रदान किया; जिसमें मानव जीवन के वे समस्त विषय, जो अब तक काव्य-क्षेत्र से बाहर थे, सब कुछ काव्य के विषय बन गए और कविता ने परस्पर युद्ध वीरता, व्यक्तिगत मोक्ष कामना भक्ति और दरबारी कविता एवं लीला-विहार की कविता से आगे बढ़कर जन-जीवन के व्यापक राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रीय कविता के रूप में नयी मोड़ ली।

हमने ऊपर कहा है कि उनकी देश भक्ति की कविताओं का एक अंग ही है उनकी राज भक्ति की कविताएँ। उन्होंने अपनी उन कविताओं में भी जो उन्होंने 'राजकुमार' आदि की प्रशस्ति और स्वागत में लिखी हैं, उनमें

देश को सर्वोपरि रखा है। देश हित की दृष्टि से ही उन्होंने ये कविताएँ लिखी हैं। उनकी इस प्रकार को सब कविताओं में भी देश हित की गूँज व्याप्त है। उनकी इस प्रकार की कविताओं में व्याप्त देश भक्ति का विवेचन करने से पूर्व हम यहाँ उनका एक कथन उद्धृत करना चाहते हैं, जिससे अंग्रेजी राज्य के प्रति उनके विचारों पर प्रकाश पड़ता है।

"क्या मुसलमान क्या अंग्रेज भारतवर्ष को सभी ने जीता, किन्तु उनमें तब भी बड़ा प्रभेद है। मुसलमानों के काल में शत-सहस्त्र बड़े बड़े दोष थे, परन्तु दो गुण थे—प्रथम तो यह कि उन सबों ने अपना घर यहीं बनाया था; इससे यहाँ की लक्ष्मी यही रहती थी। दूसरे बीच बीच में जब कोई आग्रही मुसलमान बादशाह उत्पन्न होते थे, तो हिन्दुओं का रूप भी उष्ण हो जाता था। इससे वीरता का साकार शेष चला आता था। किसी ने सच कहा है कि मुसलमानी राज हैजे का रोग था और अंग्रेज छयी का। इनकी शासन प्रणाली में हम लोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है। बीच बीच में जाति पक्षपात, मुसलमानों पर विशेष दृष्टि देखकर लोगों का जी और भी उदास होता है। यद्यपि लिबरल दल से हम लोगों ने बहुत सी आशा बाँधी थी, पर वह आशा ऐसी थी जैसे रोग असाध्य होने पर विषवटी की आशा।"

यह एक उद्धरण ही भारतेन्दु द्वारा की गई विक्टोरिया की प्रशंसा, राजकमार के स्वागत में लिखी कविता तथा यत्र-तत्र प्रदर्शित अंग्रेजी राज्य से आशा के रहस्य को स्पष्ट कर देता है।

वे अंग्रेजी राज्य की चाटुकारी वाली भक्ति के पक्षपाती बिल्कुल भी नहीं थे। ऐसी चाटुकारी करने वालों का तो उन्होने मखौल उड़ाया है—

"·······उधर नई रोशनी के शिक्षित युवक कहते हैं—दिल्लीश्वरोवा जगदीश्वरोवा ! सुनते सुनते थक गया। अरे मस्तिष्क की बात कहो।···"

उनकी राजभक्ति की मूल-प्रेरणा देशभक्ति थी। राजकुमार आगमन पर उनके स्वागतार्थ उन्होंने जो कविता लिखी थी उससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे इस बात पर उद्विग्न और दुखी थे कि अंग्रेज विदेशी हैं। अंग्रेज हमारे देश के लिए लाख भलाई कर रहे हैं और अनेक प्रकार से हम उनके ऋणी है भले ही, पर वे विदेशी हैं और हमारा धन चूस के विदेश ले जाते हैं; इस भावना से वे कभी समझौता नहीं कर पाए और

यह सत्य सदैव भारतेन्दु के दिल में कसकता रहा।

उस कविता में कवि राजकुमार के आगमन पर उन्हें अङ्क में लेने के लिए भारतमाता को कहता है। तब भारतमाता उठकर अपने प्राचीन गौरव का स्मरण करती है और तब कहती है कि अब वह आकर मेरे यहाँ क्या देखेंगे? मैं तो सब प्रकार से कंगाल हो गई हूँ। वे मुझे अपनी माता नहीं मानते। जब वे मुझे अपनी माता मानेंगे तभी मेरा गात सिहाएगा—

"उठहु-उठहु भारत - जननि लेहु कुअँर भरि गोद।
आज जगे तुव भाग फिर मानहुँ मन अति मोद।।
\+ \+ \+
\+ \+ \+
तुव दुखिया बहु दिनन की सदा अन्य आधीन।
सदा और के आसरे रही दीन मन खीन।।
× × ×
× × ×
रिपु-पद के बहु चिह्न सब कुअँरहि देहु गिनाय।
काढ़ि करेजो आपनो देहु न सुतहि दिखाय।।"

इस प्रकार कवि भारत-जननी को सम्बोधन कर राजकुमार को अपनी दीन दशा बताने को कहता है और उन्हें प्यार से गोद में लेने को कहता है। उसके इस आह्वान पर भारत जननि सेज से उठती है—

"सुनत सेज तजि भारत माई।
उठी तुरंतहि जिय अकुलाई।।
निविड़ केस दोउ कर निरुआरी
पीत वसन की कांति पसारी।।
भरे नेत्र असुअँन जलधारा।
लै उसास यह बचन उचारा।।

उपरोक्त पंक्तियों में भारत माता के वेष का वर्णन भी अपना महत्व रखता है। वे उत्तर देती हैं—

"क्यों आवत इत नृपति कुआँरा।
भारत में छायो अँधियारा।।

देशभक्ति स्वयं में एक विकासशील और परिवर्तनीय तत्व है। जो भावना एक समय देशभक्ति की द्योतक होती है वह आगे चलकर बदल जाती है।

यह ऐतिहासिक विकास-क्रम के प्रसंग से सम्बन्धित होती है। उस समय अँग्रेजी राज्य को चेलेंज करना असम्भव था। वह विचार ही असामयिक था अँग्रेजी सम्राट भारत सम्राट के रूप में मान्य था। उस समय की देशभक्ति तो यही थी कि उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में भारत-हित के लिए सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक हित के लिए अधिक से अधिक जो किया जा सकता है वह किया जाय। देशभक्ति का यह रूप भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविताओं का मूल प्राण है। अस्तु इस कविता में 'नृपति' शब्द और राजकुमार के आगमन के समय उनके स्वागत् की भावना से आज के आलोचक को चौंकना नहीं चाहिए, वरन् उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों में उसे रखकर परखना चाहिए। इस कविता में भारतेन्दु भारत-जननि के मुख से भारत की दीन दशा का वर्णन कराते हैं जो बड़ा ही मार्मिक है—

"कहा यहाँ अब लखिबे जोगू।
अब नाहिंन इत वे सब लोगू॥
जिन के भय कम्पत संसारा।
सब जग जिन को तेज पसारा॥
रहे शास्त्रन के सब आलोचन।
रहे सबै जब इत षट-दरसन॥
भारत विधि विद्या बहु जोगू।
नहिं अब इत केवल है सोगू॥"

\+ + +
\+ × +

तब रही मैं जगत की माता।
अब मेरी जग में कह बाता॥'

इस कविता में दो विशेषताएँ हैं—एक तो यह कि भारत जननि अपने प्राचीन गौरव को विस्मरण नहीं करती और जो उसका सम्मानित पद रहा है उसकी उच्चता से नीचे उतर कर अपनी दीनता का वर्णन नहीं करती। भारत दीन हो गया है अवश्य, पर उसका आत्म सम्मान नहीं मरा है यह सत्य ही कि एक दिन फिर उसे ऊँचा उठायेगा—यह प्रेरणा उस कविता की मूल आत्मा है, जो निःसन्देह महान है। इस कविता की दूसरी विशेषता और भी महत्त्वपूर्ण है, जो भावी राष्ट्रीय जागरण का मार्ग प्रशस्त करती है और वह यह कि भारत जननी राजकुमार के स्वागत को तत्पर है, पर तभी

जब वे उसे अपनी माता समझें। अँग्रेज अपने को विदेशी समझते रहे। अब तक जितने भी आक्रमणकारी भारत में आए वे यहाँ के वासी हो गए और भारतभूमि उनकी भी जन्मभूमि हो गई पर अंग्रेज विदेशी रूप में आए और सदैव विदेशी ही रहे। गत आक्रांता सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक एवं सामाजिक रूप से भारतीय हो गए। पर अंग्रेज सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से विदेशी रहे। यह सत्य भारतेन्दु को सदैव खटकता रहा और भारत जननि के मुंह से राजकुमार के आगमन पर इस सत्य की मार्मिक अभिव्यक्ति कराकर वे भावी राष्ट्रीय आन्दोलन को एक दिशा का संकेत भी कर गए कि—अंग्रेज विदेशी हैं, हमारा धन विदेश जा रहा है और हम कंगाल होते जा रहे हैं, 'अंग्रेज क्षयी का रोग' है। यह चेतना राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ी महत्त्वपूर्ण चेतना रही है।

भारतमाता कहती है कि राजकुमार यहाँ क्या करेंगे आकर ? क्या देखेंगे ? हंसेंगे और—

"लखिहैं का कुमार अब धाई।
गोद बैठि हंसिहैं इत आई॥"

मुझे तो वे जब अपनी माता कहकर पुकारेंगे तभी मुझे सन्तोष होगा—

"जब पुकारिहैं कहि मोहि माता।
आनन्द सों भरिहों सब गाता॥"

विश्व के सभी देश एक-एक कर उन्नति करते चले जा रहे हैं पर भारत विश्व में दास कहलाता है। यही सबसे बड़ी लज्जा की बात है-भारत जननि के लिए। वह कहती है—

"भग्न सकल भूषन तन साजी।
दास - जननि कहवैहों लाजी॥"

भारत जननि आज परतन्त्र है और पराजित है। यह शूल उसके हृदय में सदैव कसक उत्पन्न करता रहता है—

"रहत निरन्तर अन्तरहि कठिन पराजय पीर।
आवो सुत मम हृदय लगि सीतल करहु सरीर॥
लेहु माय कहि मोहि पुकारी।
सोई भावन जिमि निजि महतारी॥"

'सोई भावन जिमि निजि महतारी' में कितनी करुणा है और हृदय की सरल अभिव्यक्ति। अंग्रेजों के भारत के प्रति पूरे दृष्टिकोण पर यह पद तगड़ा

व्यंग है, कि तुम लाख सुधार कर रहे हो, पर इसमें तुम्हारा अपना स्वार्थ है। तुम भारत-माता को अपनी माता नहीं मानते, इसलिए तुम कभी सच्चे हृदय से उसके हित की बात नहीं सोच सकते। भारतेन्दु की भावना मुसलमानों के प्रति भी कटु थी, इसमें सन्देह नहीं, पर मुसलमानों ने भारत को अपनी भूमि बना लिया था, यह सत्य उनकी दृष्टि में मुसलमानों और अंग्रेजों के बीच कितना बड़ा अन्तर उपस्थित कर देता है, यह उपरोक्त पंक्तियों और उस गद्य के उद्धरण से, जो हम इसी लेख में पीछे दे आए हैं, स्पष्ट हो जाता है।

अंग्रेज भारत माता को अपनी माता नहीं मानते थे और भारत-वासियों को अपने से हीन मानते थे। उनके साथ पराएपन का और बुरा व्यवाहर करते थे। उन्हें नीच समझते थे। भारतेन्दु इससे कभी समझौता नहीं कर सकते थे। वे भारत माता के मुख से उस सम्बन्ध में निम्न भाव व्यक्त करते हैं। भारत माता अंग्रेजों से मानवता के नाते अपील करती हुई कहती है—

"कहि कृष्ण इने मत तुच्छ करौ।
नहिं कीटहु तुच्छ विचार धरौ॥
इन्हूँ कहं जीवन देह दया।
इन्हूँ कहं ज्ञान, सनेह मया॥
इन्हूँ कहं लाज, तृषा, ममता।
इन्हूँ कहं क्रोध, क्षुधा, समता॥
इनहूँ कहँ सोनित हाड़ तुचा।
इनहूँ कहँ आखिर ईस रचा॥"

निम्न पंक्तियों में भारतेन्दु पिंजड़े में बन्द पक्षी से भारतवासियों की तुलना करते हुए अत्यन्त ही मार्मिक व्यंग करते हैं—पिंजरे में बन्द पक्षी भी तरंग में आकर गाना गाता है, चहचहाता है और पिंजरे में बन्द करने वाला उस पक्षी को सुख देता है, उसे भोजन देता है। यह सम्बन्ध विचार कर भी तो तुम उसे कुछ सुख देने का प्रयास करो। पक्षी यह जानकर भी कि वह कैद में है, चहचहाता है। उसी भाँति हम भारतवासी अंग्रेजी दासता रूपी पिंजड़े में बन्द है, फिर भी राजकुमार के आगमन पर स्वागत गान गा रहे हैं यह पिंजड़े में बन्द उस पक्षी के गीत जैसा ही है—

"पालत पच्छिहुँ सो कुँवर करि पीजरन मह बन्द।
ताहूँ कहँ सुख देत नर जामें रहै अनन्द॥

सोई सुरत लहि घरहु में गावत विविध विहँग।
जतनहिं सों बस होत हैं बन के मत्त मतंग॥''

इस प्रकार उनकी राजभक्ति की कविता में भी राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय चेतना के जागरण का संकेत और सन्देश निहित है। देश हित की भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने राजभक्ति का काव्य प्रणीत किया है, क्योंकि उस समय की देशभक्ति का स्वरूप अंग्रेजों से भारतउद्धार और भारत हित की मानवीय अपील ही था। किन्तु वे अंग्रेजों से किसी प्रकार की आशा के खोखलेपन और उसकी निर्थकता को भी समझते थे और उसे 'रोग असाध्य हो जाने पर विषवटी की आशा' के समान समझते थे। अस्तु उनकी राजभक्ति की कविताओं को उनकी देशभक्ति की कविताओं के प्रसंग से प्रथक रख कर, उनका मूल्यांकन करना गलत है। उनकी राजभक्ति देश हित की भावना से अनुप्राणित थी।

—: o :—

हास्य और व्यंग्य काव्य

——::०::——

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी काव्य-साहित्य में हास्य और व्यंग को प्रधान रूप से काव्य का विषय प्रायः नहीं बनाया गया है। यदि हास्यव्यंग की कुछ कविताओं के उदाहरण हैं भी तो अत्यन्त अल्प और उनका साहित्यिक महत्व भी नगण्य है। समस्त पूर्ववर्ती साहित्य में कबीर ही एक ऐसे कवि थे जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से व्यंग को काव्य का विषय बनाया था, किन्तु हास्य का अभाव उनमें भी था। तुलसी की कविताओं में जहाँ-तहाँ सामाजिक हास्य का पुट है किन्तु उनके विशाल काव्य-सागर में वह खो सा जाता है। सूर, उद्धव और कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम-व्यंग से आगे नहीं बढ़ पाए। भारतेन्दु के काव्य में ही कबीर की सामाजिक यथार्थवादी व्यंग-काव्य की परम्परा पुनः सजीव हुई है। व्यंग वस्तुतः सामयिक सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन का एक सशक्त शस्त्र है। व्यंग समाज-जीवन की गलित वासनाओं और कुप्रवृत्तिओं का आपरेशन करता है, जिससे सामाजिक अंग की वह विकृति कहीं समस्त जीवन को ही विकलाँग और गलित न बना दे। कबीर ने इसी रूप में व्यंग को अपने साहित्य का मुख्य अस्त्र बनाया था और तत्कालीन धर्माडम्बरों से विकृत समाज-जीवन का आपरेशन किया था। भारतेन्दु ने भी इसी रूप में व्यंग को अपने साहित्य का मुख्य अस्त्र बनाया था।

भारतेन्दु ने अपने तत्कालीन सामाजिक जीवन की गहराई में पैठकर एक कुशल डाक्टर की तरह जन-जीवन में आई समस्त विकृतियों को परख लिया था। उन्होंने मानव-जीवन की नब्ज पर सही हाथ रखा था और समझ लिया था कि जब तक देश के सामाजिक जीवन में आई साँस्कृतिक और धार्मिक बुराइयाँ दूर नहीं होतीं; देश का उत्थान होना सम्भव नहीं है। उन्होंने परख लिया था कि धार्मिक मतमतान्तर, जनता की कूपमंडूकता, अशिक्षा, मदिरा-पान और निष्क्रिय विलासी जीवन, विदेशी शासन और उसका शोषक रूप टैक्स, अदालत, फ़ैशन, रिश्वत, नौकरशाही तथा जातिगत वैमनस्य, विद्वेष, बैर, फूट, महँगी, रोग, महामारी, अकाल, आलस्य, सन्तोष के नाम पर हाथ

पर हाथ रखकर बैठने की प्रवृत्ति आदि रोग भारतीय जन-जीवन को अन्दर ही अन्दर खोखला और जर्जरित किए दे रहे हैं। इन सब महा व्याधियों की जड़ काटना ही उन्होंने भारतीय जन-जीवन को रोग-मुक्त करने का सबसे बड़ा साधन समझा था और इसी को उन्होंने अपना एकमात्र कर्तव्य और जीवन का ध्येय बना लिया था और एक सजग कलाकार के नाते अपने व्यंग साहित्य के अस्त्र को लेकर इसके उन्मूलन में वे जुट गए थे।

यही उनकी देश भक्ति का स्वरूप था। इस पर हम पीछे विवेचन कर आये हैं। उनकी यथार्थवादी देशभक्ति की कविताओं का उनकी व्यंग-कविताएँ मुख्य और प्रधान अङ्ग हैं। कुछ आलोचक उनके व्यंग-काव्य पर दोषारोपण करते हुए कहते हैं कि उनमें गहराई नहीं है, कोई दिशा नहीं है, और न उनमें जीवन का उदात्त रचनात्मक पहलू है। यह कथन एकाङ्गी रूप से ही सत्य है। इस आलोचना की सत्यता भारतेन्दु काल की साहित्यगत एवं समाजगत सीमाओं को सामने रखकर परखनी होगी। हम आज किसी कवि से क्या क्या वाँछा करते हैं इस कसौटी के आधार पर ही गत कवि की कविताओं की परख करने से परिणाम सदैव एकाँगी होंगे; क्योंकि कवि अपने काल की साहित्यगत एवं समाजगत सीमाओं से प्रभावित होता है। भारतेन्दु काल में जीवन के प्राचीन मूल्यों में तेजी से परिवर्तन हो रहा था और विदेशी सभ्यता के सम्पर्क से जीवन के हर क्षेत्र में नई भावनाएँ, नूतन चेतनाएँ जन्म ले रही थीं, जो कुछ स्वस्थ भी थी और कुछ अस्वस्थ भी; साथ ही हमारी अपनी रूढ़िगत परम्पराओं ने भी समाज में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न कर दी थीं। अस्तु उस काल विकृतियों के दो क्षेत्र थे—प्राचीन रूढ़िप्रसूत विकृतियाँ और विदेशी सम्पर्क से उत्पन्न विकृतियाँ। उस युग की सबसे पहली आवश्यकता थी जनता को यह चेतना देना कि तुम्हारे जीवन में ये विकृतियाँ घर कर रही हैं, जो तुम्हें आगे नहीं बढ़ने दे सकतीं। इनसे अपने को मुक्त करो फिर सोचना आगे बढ़ने का मार्ग क्या है। उस समय का सबसे बड़ा सत्य थीं- ये विकृतियाँ जो जन जीवन को ग्रसित किए हुए थीं और उनके विरुद्ध मुक्ति संघर्ष ही सबसे बड़ा राष्ट्रीय संघर्ष था। इसी को भारतेन्दु ने अपनी नवीन काव्य-धारा का प्रमुख विषय बनाया था। व्यंग काव्य की सबसे बड़ी उपादेयता विकृतियों का उद्घाटन करना है और उन पर करारी चोट करना है, जो मर्म को स्पर्श कर सके। यह क्षमता और शक्ति भारतेन्दु के व्यंग-काव्य में है।

उनकी व्यंग-हास्य की कविताओं की विवेचना करने से पूर्व एक बात और स्पष्ट कर देनी युक्ति संगत होगी। हमारा विषय था—भारतेन्दु के काव्य में हास्य और व्यंग; किन्तु उनके काव्य साहित्य का आद्यान्त अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य-साहित्य में हास्य का स्थान नगण्य है, प्रमुखता व्यंग काव्य की है। नाटकों के अध्ययन में हमने देखा है कि उनके नाटकों में पर्याप्त मात्रा में हास्य और व्यंग दोनों ही हैं। पर कविता में शुद्ध हास्य की कविता का उदाहरण ढूँढ़ना कठिन है। जो एक-आध उदाहरण हैं भी, वे भी हमारी सम्मति में हास्य-रसोत्पादक नहीं हैं और शिष्ट हास्य के उदाहरण तो हम उन्हें किसी प्रकार कही ही नहीं सकते। कहने का तात्पर्य यह कि उनकी कविता में व्यंग-काव्य ही प्रधान है, अस्तु हमारे इस अध्ययन का भी विशेष बल उनकी व्यंग कविताओं पर ही होगा।

भारतेन्दु के व्यंग-काव्य का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

१—भक्ति-सम्बन्धी व्यंग।
- (अ) भक्ति की संकीर्ण मतवादिता पर व्यंग।
- (ब) धार्मिक रूढ़ियों, कुरीतियाँ, अन्ध-विश्वासों से उत्पन्न सामाजिक जीवन की विकृतियों पर व्यंग।

२—सांस्कृतिक व्यंग।
- (अ) भारतीय रूढ़िगत विकृत संस्कृति पर व्यंग।
- (ब) विदेशी सम्पर्क से भारतीय संस्कृति में उत्पन्न विकारों पर व्यंग।

३—राजनैतिक व्यंग।
- (अ) अंग्रेजी शोषण पर व्यंग।
- (ब) भारतवासियों की निष्क्रियता, आलस आदि पर व्यंग।
- (स) पराधीनताजन्य विकारों एवं भावनाओं पर व्यंग।

४—साहित्यिक व्यंग।
- (अ) तत्कालीन साहित्यिक गतिविधि और उर्दू आदि पर व्यंग।

५—अन्य व्यंग।

भक्ति की संकीर्ण मतवादिता पर उनकी व्यंग-कविताओं का अध्ययन हम उनकी भक्ति सम्बंधी कविताओं के विवेचन के साथ बहुत कुछ कर आए हैं। भक्ति के नाना पंथों का प्रचलन और उनका पारस्परिक खंडन प्राचीन काल से ही होता रहा है। भारतेन्दु जैसे सरल भक्त को इस सम्बन्ध में एक प्रश्न

बराबर खटकता रहता है कि जब ईश्वर सबसे महान है और सारी सृष्टि का कर्ता है तो फिर उसके नाम पर भिन्न भिन्न पन्थ क्यों और वह भी उनके द्वारा जो अपने को उसका भक्त कहते हैं। यही भावना उनकी इस प्रकार की कविताओं में परिलक्षित होती है।

इस प्रकरण में हम उनकी धार्मिक रूढ़ियों और कुरीतियों आदि से उत्पन्न सामाजिक-जीवन की विकृतियों पर की गयी व्यंगकविताओं का विस्तार से अध्ययन करेंगे। भारतेन्दु काल के सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास का पर्यालोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक कुरीतियों, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों विकृतियों आदि ने जन जीवन को बुरी तरह जकड़ रखा था और जन-जीवन की गति अवरुद्ध हो रही थी। इसके फलस्वरूप आडम्बर, ढोंग, पाखण्ड, विद्वेष अमानवीयता का चारों ओर पसारा था और मानव की उदात्त भावनाएँ कुंठित हो रही थीं और गलित-विकृत भावनाएँ उत्पन्न हो रही थीं। अस्तु यदि देश को उत्थान के मार्ग पर अग्रसर करना था तो सर्व प्रथम इस अवरोध को पूरे बल के साथ हमेशा के लिए हटाना नितान्त आवश्यक था। इनसे मुक्त होकर ही जनता नई चेतना ग्रहण कर सकती थी। इसलिए उसकी पुरानी हो गई चेतना की जड़ हिलना अति आवश्यक था। इसी भावना से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने अपनी व्यंग कविताओं के अस्त्र से सामाजिक जीवन के इस विकार का आपरेशन करना आरम्भ किया। इस प्रकार की कविताओं में विकृतियों की यथार्थता और उनके दुःपरिणामों का वर्णन है, किसी दिशा का स्पष्ट निर्देश नहीं है। किन्तु सांकेतिक रूप से उसकी व्यंजना विद्यमान है—

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायौ।
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायौ॥
जन्म पत्र विधि मिले व्याह नहिं होन देत अब।
बालक पन में व्याहि प्रीति बल नास कियौ सब॥
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मारयौ।
विधवा विवाह निषेध कियौ व्यभिचार प्रचारयौ॥
रोक विलायत गमन कूप मंडूक बनायौ।
औरन को संसर्ग छुड़ाय प्रचार घटायौ॥

बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दुन घबराई॥
अपरस सोलह छूत रचि भोजन प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै चौका चौका लाइ॥
रचिकै मत वेदान्त को सब कौ ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियौ तोरि हाथ अरु पाँय॥

उपरोक्त उद्धरण में--धार्मिक कुरीतियों ने किस प्रकार जन जीवन में कूपमंडूकता और गतिरोध उत्पन्न कर दिया था, इसका सुन्दर चित्रण हुआ है।

जन-जीवन में जिन धार्मिक पाखण्डियों ने उपरोक्त विकृतियाँ उत्पन्न कर विकास मार्ग को अवरुद्ध किया है उनकी पोल खोलकर उनकी यथार्थता पर भारतेन्दु ने अत्यन्त ही तीखा व्यंग किया है—

"वैष्णव लोग कहावहीं कंठी मुद्रा धारि।
छिप छिप कै मदिरा पियहिं यह जिय माँझ विचारि॥
होटल में मदिरा पियैं, चोट लगे नहिं लाज।
लोट लए ठाड़े रहत, टोटल दैवे काज॥

\+ + +

\+ + ×

ब्राह्मण सब छिपि-छिपि पियत जामैं जानि न जाय।
पोथी के चौगान में भरि बोतल बगल छिपाय॥"

उस काल के भक्तों का बड़ा ही सुन्दर व्यंगात्मक चित्र निम्न पंक्तियों में उपस्थित किया है—

"अन्तः शाक्ता वहिः शैवाः सभा मध्ये च वैष्णवाः।
नाना रूप धरा कौला विचरन्ति महीतले॥"

हमारी भारतीय प्राचीन संस्कृति विश्व की गौरवशाली संस्कृति रही है। किन्तु समय के विकास के साथ साथ उसमें अनेक विकार उत्पन्न हो गए थे। एक समय जो भावना और चेतना समाज के लिए गतिदायिनी होती है, वही एक समय आने पर गति-अवरोधक हो जाती है। ऐसे अवसर पर उसके स्वस्थ और अस्वस्थ रूप का अलगाव करने की आवश्यकता होती है। भारतेन्दु युग ऐसा ही युग था, जब हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति के भंडार में स्वस्थ और अस्वस्थ अङ्ग का छटाव करने की आवश्यकता थी। इस समय

एक ओर तो देशवासी अपनी प्राचीन गौरवशाली परम्पराओं को भूलते जा रहे थे और दूसरी ओर जिन प्राचीन परम्पराओं से उन्होंने अपने को बाँध रखा था, वे अगतिशील विकारग्रस्त थीं। साथ ही दूसरी ओर देशवासी विदेशी सम्पर्क के प्रभाव से विदेशी सभ्यता की बुरी बातों को ग्रहण करते जा रहे थे। ऐसे अवसर पर एक सजग कलाकार को जहाँ एक ओर प्राचीन स्वस्थ और अस्वस्थ के अलगाव का काम करना था, वहाँ नवीन स्वस्थ और नवीन अस्वस्थ से भी जनता को सचेत करना था और प्राचीन स्वस्थ और नवीन स्वस्थ का सुसामंजस्य करके नवीन चेतना को उद्बुद्ध करना था। भारतेन्दु ने अपने काल की सीमाओं के उस कार्य को बड़ी सफलता और सचेतनता से सम्पन्न किया था। उन्होंने अपनी कविताओं में प्राचीन गौरवशाली परंपराओं का स्मरण दिलाते हुए जन-जीवन में आई सांस्कृतिक अधोगति का चित्रण किया। उन्होंने विदेशी सम्पर्क से आई विकृतियों का चित्रण भी किया है।

राजनैतिक व्यंग भी अत्यन्त तीखे हैं। अंग्रेजी सरकार की शोषण नीति पर उन्होंने बड़े तीखे व्यंग प्रहार किए हैं।

"अंग्रेज राज सुख-साज सजै सब भारी।
पै धन विदेश चलिजात यहै अति ख्वारी
ताहू पै महंगी काल रोग विस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा-हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा, हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

अंग्रेजी जाति की चरित्रगत विशेषताओं पर व्यंग करते हुए भारतेन्दु अपनी मुकरियों में लिखते हैं—

"भीतर-भीतर सब रस चूसै,
हँसि-हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि सज्जन! नहिं अंगरेज॥"

नीचे के उद्धरण में अंग्रेजी पुलिसशाही पर कितना सही व्यंग है—

"रूप दिखावत सरबस लूटै,
फन्दे में जो पड़े न छूटै।

कपट कटारी जिय में हुलिस,
क्यों सखि सज्जन ! नहीं पुलीस ।।"

अंग्रेजी राज की आरम्भ से यह नीति रही है कि जनता को चारों तरफ से कानूनों में जकड़ कर आपस में लड़ादो और जमकर राज करो। अंग्रेजी अदालतों ने फायदे की अपेक्षा देश की जनता को जितना तबाह किया है वह जग जाहिर है। उस पर भारतेन्दु ने बड़ा ही सुन्दर व्यंग किया है—

"नई-नई नित तान सुनावै,
अपने जाल में जगत फंसावै ।
नित-नित हमें करै बल सून,
क्यों सखि सज्जन ! नहिं कानून ।।"

इसी प्रकार सीधी सरल भाषा में अंग्रेजी राज-व्यवस्था के शोषण और दमन के नाना रूपों का व्यंगात्मक यथार्थ उद्घाटन भारतेन्दु की कविताओं में हुआ है और उनसे जनता की भावना को प्रेरणा और सजगता मिली है। अंग्रेजी राज ने जहाँ और विकृतियाँ उत्पन्न कीं, वहाँ जनता को आलसी, निष्क्रिय और कायर बना दिया। उसमें वैमनस्य, कलह, अमानवीय विद्वेष, फैशनपरस्ती आदि दुर्गुणों को उत्पन्न कर दिया। भारतेन्दु ने इन विकारों से हानी को भी समझा था और उस पर भी व्यंग किए हैं। अंग्रेजों की सबसे बड़ी चाल थी। भारतवासियों के संस्कारों में पराधीनता जनित विकारों को अंकुरित कर देना और उसमें वे काफी हद तक सफल भी हो गए थे। देशवासियों की इस भावना पर व्यंग करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं—

"दुनियाँ में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठ कै कहीं जाना नहीं अच्छा ।।
बिस्तर पर मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बन्दर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा ।।
धोती भी पहिने जो कोई ग़ैर पिन्हा दे ।
उमरा को हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा ।।

÷ ÷ ÷

मिल जाय हिन्द खाक में हम काहिलों का क्या।
ऐ मीरे - फ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा ।।"

उपरोक्त उद्धरण में देश के राजा नवाबों की काहिली पर व्यंग है। अंग्रेजी गुलामी में सन्तुष्ट, राजनीति और देशदशा से आँखें मीचे

जनता अपनी मस्ती में मस्त हो रही थी। गरीब जनता गरीब होती जा रही थी और धनी वर्ग सब ओर से आँख मीचकर अपनी रंगरेलियों में मस्त हो रहा था। उनकी मस्ती में मदिरा का और नारी विहार का ही सबसे अधिक स्थान था। भारतेन्दु ने इन दोनों पर ही तीखे व्यंग किए हैं। मदिरा पर तो विशेषकर—

"या असार संसार में चारि वस्तु हैं सार।
जूआ मदिरा माँस अरु नारी संग विहार॥"

\+ + +

"ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अरु सैयद सेख पठान।
दै बताय मोहि कौन जो करत न मदिरा पान॥

\+ + ÷

"होटल में मदिरा पियैं चोट लगै नहिं लाज।
लोट लए ठाढ़े रहत टोटल दैवे काज॥
कोऊ कहत मद नहिं पियें तो कछु लिख्यौ न जाय।
कोऊ कहत हम मद्य बल करत वकील आय॥
मद्यहि के परभाव सों रचत अनेकन ग्रन्थ।
मद्यहि के परकास सों लखत धरम को पंथ॥

\+ + +

विष्णु वारुणी पोर्ट पुरुषोत्तम; मद्य मुरारि।
शाँपिन शिव, गौड़ी गिरिश, ब्राह्मी ब्रह्म विचारि॥"

मद्य पेयी भक्तों पर उनके व्यंग का उद्धरण हम पहले दे आए हैं। मदिरा पीकर मस्त होकर अंटशंट बकने वालों का निम्न पंक्तियों में कैसा हास्यास्पद चित्रण हुआ है—

"जोर किया, जोर किया, जोर किया रे,
आज तो मैंने नशा जोर किया रे।
साँझ ही से हम पीने बैठे पीते पीते भोर किया रे।"

भारतेन्दु के युग में राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा के प्रश्न पर विवाद चल रहा था। भारतेन्दु हिन्दी के पक्षपाती थे। उन्होंने उर्दू पर व्यंग करते हुए उर्दू का स्यापा लिखा है। यह कविता, कविता की दृष्टि से महत्वहीन और अत्यन्त ही निम्नकोटि की है। उसे कविता कहना ही नहीं चाहिए। वह तो उर्दू का मखौल उड़ाने के लिए एक प्रकार से मखौल ही है। उसमें थोड़ा

सा हास्य का भी पुट है पर हम उसे शिष्ट नहीं कह सकते—

"हे हे उर्दू हाय हाय,
कहाँ सिधारी हाय हाय ।
+ + +
किसने मारी हाय हाय,
खबर नबीसी हाय हाय।"

काशी जैसे तीर्थ स्थानों में बड़ा व्यभिचार और पाखंड फैला हुआ था जिसकी कमी आज भी नहीं है। उस पर व्यंग करते हुए उन्होंने लिखा है—

"देखी तुम्हरी कासी भैया देखी तुम्हरी कासी ।
जहाँ विराजैं विश्वनाथ विशेश्वर जी अविनासी ।।
आधी कासी भांड भंडेरिया बामन औ सन्यासी ।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी ।।
लोग निकम्मे गंजड़े लुच्चे वे विस्वासी ।
महा आलसी झूँटे शुहदे बे फ़िकरे बदमासी ।।"
+ + +

यह तो है काशी के निवासियों का चित्रण । काशी का भी वर्णन बड़ा सुन्दर किया है—

"मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिनपासी ।
नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी ।।
कुत्ते भूंकत काटन दौड़ैं, सड़क साँड़ सो नासी ।
दौड़े बन्दर बने मुछन्दर कूदैं चढ़े अगासी ।।"

इसमें व्यंग के साथ साथ हास्य का भी पुट है । हम यह बात पहले ही कह आये हैं कि भारतेन्दु के काव्य में शुद्ध हास्य की कविताओं के उदाहरण नहीं हैं, व्यंग की कविताओं के बीच बीच में ही जहाँ तहाँ हास्य का पुट आ गया है । निम्न उदाहरणों को हास्य के उदाहरण कहा जा सकता है, पर शिष्ट हास्य के नहीं । बन्दर सभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सभा में दोस्तो बन्दर की आमद आमद है ।
गधे औ फूलों के अफ़सर की आमद आमद है ।।
मरे जो घोड़े तो गदहा पै बादशाह बना ।
उसी मसीह के पैकर की आमद आमद है ।।"

—"गेंदा फूले जैसे पकोरी।
लड्डू से फले फल बौरि बौरि॥
खेतन में फूले भात दाल।
घर में हम फूले कुल के पाल।
आयौ आयौ बसंत आयौ आयौ बसन्त।"

भारतेन्दु के समस्त व्यंग काव्य को यदि एक वाक्य में कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि उनका व्यंग-काव्य भारतीय जन-जीवन में आई विकृतियों का व्यंगात्मक चित्रण है। जिसमें कहीं वे मखौल उड़ाते हुए तीखे व्यंग करते हैं तो कहीं गम्भीर व्यंग। जो भारतवासी अपनी यथार्थ दशा से बेखबर सोये पड़े थे, उनके ऊपर भी तीखे व्यंग किए हैं और उनकी चेतना को झकझोर कर सचेत करने का प्रयास किया है। उनके व्यंगों के साथ साथ राजनैतिक व्यंगों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जहाँ उन्होने एक ओर भारतीय जन-जीवन में आई विकृतियों का, भारतवासियों को और उनकी अविद्या और कूप मंडूकता को जिम्मेदार ठहरा कर उन सब पर तीखे व्यंग किए हैं, वहीं साथ साथ तत्कालीन व्यवस्था को भी देश दुर्दशा का जिम्मेदार ठहराते हुए उसकी नीतियों और उसके परिणामों पर तीखे व्यंग किए हैं। अपने इन दुपहलू व्यंगों से वे देश को एक समन्वित सन्देश और चेतना देना चाहते थे कि देशवासी अपने जीवन और समाज में आई विकृतियों से अपने को मुक्त करें, सुसंस्कृत बनें विदेशी आर्थिक शोषण से अपने को मुक्त करने का प्रयास करें। उनका यह सन्देश ही आगे चलकर राष्ट्रीय जागरण की मूल प्रेरणा बना। उन्होंने देश के उत्थान के लिए चेतना के दोनों पहलू जनता के सामने रखे थे—अपने जीवन का संस्कृत संस्कार तथा विदेशी शोषण से मुक्ति। उनकी व्यंग कविताएँ उनकी देश भक्ति की राष्ट्रीय कविताओं का प्रमुख अंग हैं।

काव्य-कला

— :*: —

साहित्य के दो पक्ष होते है—भाव पक्ष और कला पक्ष। इन दोनों पक्षों की कसौटी पर ही किसी साहित्य की महत्ता का मूल्यांकन होता है। दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित होते हैं। भाव पक्ष कला के बिना नीरस होता है और भाव विहीन कला निराधार, प्राणहीन होती है। सुन्दर कला में सुन्दर भाव प्राणवान हो उठता है और सुन्दर भाव से पूर्ण सुन्दर कला और हृदय-ग्राही हो उठती है। भाव पक्ष में विषय वस्तु, विचार और कल्पना तीनों ही तत्व संयुक्त होते हैं। विषय वस्तु आधार होती है। विचार उसे दिशा और दृष्टि प्रदान करता है, कल्पना उसे व्यापक क्षेत्र प्रदान करती है और इस तरह कवि के भाव व्यक्त होने की क्षमता प्राप्त कर, कला द्वारा जनमन तक पहुँच जाते हैं। कला पक्ष में अलंकार, रस परिपाक, शब्द गठन भाषा आदि तत्व आ जाते हैं। उन्हीं तत्वों के आधार पर हम भारतेन्दु की काव्य कला की परख करेंगे।

भारतेन्दु की काव्य सलिला का उद्गम मध्य युग की भक्ति-भावना और रीतकाल की शृङ्गार प्रेम-भावना एवं चमत्कार प्रियता था। उनके जीवन में भी इन तीनों ही भावनाओं का अपूर्व संयोग था। वे हृदय से भक्त थे, मन से रसिक थे एवं प्रेमी थे, और वाह्य रूप से चमत्कार प्रिय थे। इन तीनों ही भावनाओं से मिलकर उनके स्वभाव का संस्कार हुआ था। उनकी जीवनी को देखने से सहज ही उनके जीवन की पीठिका के रूप में इन तीनों गुणों का संयोग स्पष्ट हो जाता है।

"सरवस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।"

वे राधा-कृष्ण की युगलोपासना सम्प्रदाय के भक्त थे। उनके काव्य का अधिकाँश भाग कृष्ण-भक्ति की कविताओं से ही भरा है। वे दरबारी संस्कृति में पले थे और बड़े हुए थे। मन के रसिक थे, अस्तु उनकी कविता में रीति-कालीन दरबारी चमत्कार और शृङ्गारी रसिकता भी थी। उनके राधा कृष्ण

का सौन्दर्य अलौकिक की अपेक्षा लौकिक और मांसल अधिक हो गया है। कहा जाता है, वे दिन में अनेक बार पोशाक बदलते थे और बड़े ठाट-बाट से रहते थे। होली के अवसर पर रंग में इत्र घोला जाता था। अनेक वाद्यों के साथ तथा मौलवी वेष तथा अन्य वेषों में उनकी तस्वीरें इस बात को सिद्ध करती हैं कि वे प्रदर्शन प्रिय भी थे। अर्थात् चमत्कार उनकी प्रकृति थी। उनकी कविता का एक अंश उनकी इस प्रकृति से प्रभावित हुआ है।

यह तो थे उनकी कविता के भाव पक्ष तथा कलापक्ष के तीन पूर्व-प्रभाव-स्रोत। इनके अतिरिक्त भारतेन्दु के काव्य में एक चौथी धारा भी प्रवाहित हो रही है, जो पिछली तीनों धाराओं से अधिक सबल भी है—और वह है देश प्रेम की धारा। इस धारा ने भी न केवल उनके भावपक्ष को ही प्रभावित किया है, वरन कलापक्ष को भी प्रभावित किया है। भारतेन्दु की इस काव्य धारा को वर्तमान परिस्थितियों, (सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक) नवीन राष्ट्रीय चेतना के आन्दोलन, बंगला आदि अन्य भारतीय साहित्यों, प्राचीन नवीन के सङ्घर्ष आदि ने प्रभावित और रुपायित किया है।

इस प्रकार उनकी कविता में भाव पक्ष और कला पक्ष की युग प्रभावित चार स्पष्ट धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—भक्ति की धारा, शृङ्गार की धारा, चमत्कार प्रदर्शन की धारा और देश भक्ति की धारा। इन्हीं चार स्तम्भों में सामान्यतः उनके समस्त काव्य साहित्य को वर्गीकृत किया जा सकता है।

भावपक्ष और कला पक्ष की दृष्टि से इन धाराओं के भी प्रथक-प्रथक अन्य वर्गीकरण किए जा सकते हैं।

भक्ति धारा के तीन रूप स्पष्ट हैं। मूलत. भारतेन्दु वल्लभ सम्प्रदायी थे और राधा कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक कवि थे। उनके भक्ति-काव्य का सृजन अधिकाँशतः इस भक्ति भावना के प्रतिपादन में ही हुआ है।

"राधा वल्लभ वल्लभी, वल्लभ बलभताइ।
चार नाम वपु एक पद बन्दत सीस नवाइ।"

—

"जुगल रूप छबि अमित माधुरी।
रूप सुधा रस सिन्धु बहोरी॥
इन्हीं सो अभिलाख लाख करि।
इक इन्हीं कौं नितहि चहौ री॥

जो नर तनहिं सफल करि चाहौ।

इनहीं के पद कंज गहौरी।"

इस प्रकार की कविताओं पर गत-कृष्ण-भक्त-कवियों—विद्यापति, सूर, नन्ददास, घनानन्द, रसखान, मीरा आदि का भाव और भाषा-शैली (कला पक्ष) दोनों ही पक्षों में प्रभाव स्पष्ट है। इनके अनेक कवित्त हमें कृष्ण-भक्त कवियों की कविता का रूप-दर्शन कराते हैं। इस वर्ग की कविता में भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से कोई मौलिकता नहीं है। अनेक पद्यों के पढ़ने से यह भान होने लगता है, जैसे हम सूर, या नन्ददास, या रसखान, विद्यापति या मीरा के पद पढ़ रहे हैं। उन महान कवियों की समता में अपने पदों को रख देना और थोड़े समय के लिए पाठक को इस भ्रम में डाल देना कि यह पद कहीं उन कवियों के ही तो नहीं हैं, कम चातुरी और कौशल का काम नहीं है। यह शक्ति और कौशल-शक्ति भारतेन्दु में थी। हम अपने इस कथन की पुष्टि के लिए नीचे कुछ उदाहरण उद्धृत करते है।

सूर की गोपियाँ अपने नेत्रों को दोष देती हैं जो कृष्ण सौन्दर्य में विभोर हो सुध-बुध खो बैठे हैं। भारतेन्दु की गोपियाँ भी अपने नेत्रों को दोष देती हुई कहती हैं—

"सखि ये नैना बहुत बुरे।

तब सों भए पराए, हरि सों जब सों जाइ जुरे।

मोहन के रस-बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।

मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे॥

जग खीझयौ बरज्यौ पै ए नहि हठ सों तनिक मुरे।

हरीचन्द देखत कमलन से विष के बुते छुरे॥"

सूर की गोपियाँ उद्धव को उपालम्भ देती हैं कि यदि उनके अनेक मन होते तो एक कृष्ण को देतीं और एक से जोग-साधना करतीं। इसी भाव को भारतेन्दु के शब्दों में देखिए—

"ऊधो जो अनेक मन होते।

तो इक श्याम सुन्दर कों देते, इक लै जोग सँजोते॥

इक सों सब गृह कारज करते, इक सों धरते ध्यान।

इक सों श्याम रंग रंगते तजि लोक-लाज कुल कान॥

को जप करै, जोग के साधे, को पुनि मूदै नैन।

हिए एक रस श्याम मनोहर मोहन कोटिक मैन॥

ह्याँ तो हुतो एक ही मन सों हरि लै गई चुराई।
हरीचन्द कोई और खोज कै जोग सिखावहु जाई ॥

सूर ने यमुना को सजीव नारी रूप में कल्पित कर कृष्ण वियोग में उसकी विह्वलावस्था का वर्णन किया है। भारतेन्दु ने भी वैसा ही किया है—

''अहो सखि जमुना की गति ऐसी।
सुनत मुकन्द गीत मधु श्रवनन विह्वल ह्वै गई कैसी।
भँवर पड़त सोइ काम-वेग सों थकति होत गति भूली।
तटनि घास अकुरित देखियत सोइ रोमावलि फूली ॥
चुंबन हित धावत लहरन सों कर लै कमल अनेक।
मानहुँ पूजन हेत चरन कों इक कियो विवेक ॥
चरन कमल के सदृस जानि नेहि निसि दिन उर पै राखै।
'हरीचन्द' जहँ जल की यह गति अबलन की कस भाखै।

रसखान ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यदि मैं अगले जन्म में 'धेनु' बनू तो व्रज में ही मेरा जन्म हो 'पाहन' होऊँ तो उसी गिरवर का जिसे कृष्ण ने धारण किया था—उसी भावना से भारतेन्दु भी कहते हैं—

''वृज की लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रज जामै सिर भीजै ॥

सब कृष्ण-भक्त-कवियों की भाव समता के उद्धरण प्रस्तुत करने से लेख का विस्तार हो जायगा। अस्तु यह उद्धरण ही उस सत्य की स्थापना को पर्याप्त हैं कि भाव और कला दोनों ही रूपों में भारतेन्दु का कृष्ण काव्य पूर्ववर्ती कृष्ण-भक्त कवियों की लीक पर ही है। इस कथन से यह आशय निकालना गलत होगा कि कृष्ण-भक्ति काव्य में भारतेन्दु की अपनी देन कुछ है ही नहीं। भारतेन्दु ने पूर्ववर्ती लीक पर चलते हुए नये कला-प्रयोग भी किए हैं। कृष्ण भक्ति को सामयिक शैलियों में शिल्पित करने का प्रयास उन्होंने किया था, पर यह सत्य है कि उन प्रयोगों में कला निखार का अभाव है। उर्दू हिन्दी की शैली के मिश्रण का प्रयोग उन्होंने किया था—

चमक से बर्क के उस बर्क-वश की याद आई।
घुटा है दम घटी हैं जाँ घटा जबसे ये छाई है ॥
कौन सुनै कासौं कहाँ सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत है ए बदरा बदराह ॥
बहुत इन जालिमों ने आह अब यह आफत उठाई है।

अहो पथिक कहियो इती गिरधारी सो टेर।
दृग भर लाई राधिका अब बूड़त वृज फेर ॥
बचाओ जल्द इस सैलाब से प्यारे दुहाई है ॥

× + +

उन्होंने शुद्ध उर्दू की शैली में भी कृष्ण भक्ति के गीत गाए हैं—

"जहाँ देखो वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।
उसी का सब है जलवा जो जहाँ में आशकारा है॥
मख़लूक ख़ालिक़ की सिफ़त समझे कहाँ कुदरत।
इसी से नेति नेति ऐ यार वेदों ने पुकारा है॥
न कुछ चारा चला लाचार चारों हारकर बैठे।
विचारे वेद ने प्यारे बहुत तुमको विचारा है॥

अब तक हिन्दी कविता की भाषा ब्रज भाषा ही थी। भारतेन्दु ने जहाँ भक्ति काव्य में शैली के कुछ नवीन प्रयोग किए, वहाँ भाषा के भी नये प्रयोग किए हैं। उन्होंने खड़ी बोली और बोल चाल की पूरबी बोली में भी कुछ गीत लिखे हैं—

"ना बोलो मोसों मीत पियरवा जानि गए सब लोगना।
तुम्हारी प्रीत छिपी न छिपाए, अब निबहेगी बहुत बचाए।
इन दइ मारे नयनन पीछे यह भोगन परयौ भोगना।
'हरीचन्द' ब्रज बड़े चवाई, कहत एक की लाख लगाई।
कठिन भयो अब घाट-बाट में हमरो तुमरो संजोगवा॥"

—

"मथुरा के देसवाँ से भेजलैं पियरवा रामा।
हरि हरि ऊधौ लाए जोगवा की पाती रे हरी॥
सब मिलि आओ सखी सुनो नई बतियाँ रामा।
हरि हरि मोहन भए कुबरी के सँघाती रे हरी॥
छोड़ि घर-बार अब भसम रामाओ रामा।
हरि हरि अब नहिं ऐहैं सुख की राति रे हरि॥
अपने पियरवाँ अब भए हैं पराए रामा।
हरि हरि सुनत जुड़ाओ सब छाती रे हरी॥"

भारतेन्दु के भक्तिकाव्य की दूसरी धारा का रूप तुलसी की व्यापकता तथा विनय-शीलता से प्रभावित है। भारतेन्दु के काल में लोगों की धार्मिक-

भावना अत्यन्त ही संकुचित, विकृत, विद्वेषी और पाखण्डपूर्ण हो गई थी। अनेक पाखण्डों से ग्रस्त होकर आपस में ही थुक्का-फजीहत कर रहे थे और भक्ति से विनय, विनम्रता तथा श्रद्धा का लोप हो गया था। अस्तु ऐसी परिस्थिति में लोगों की भक्ति-भावना को व्यापक सहिष्णुता का आधार और विनय का सन्देश देना नितान्त समयोचित था। भारतेन्दु ने प्रचलित विभिन्न धर्मों और भक्तिमार्गों को एक ही अनन्त शक्ति के विभिन्न रूप बताकर परस्पर सहिष्णुता का सन्देश दिया था। उनके विनय के पद भाव तथा कला की दृष्टि से तुलसी की परम्परा में आते हैं—

"तोसों और न कुछ प्रभु जाँचौं।
इतनो ही जाँचत करुनानिधि तुम ही में इक राँचौं॥
खर-कूकर लौं द्वार-द्वार पै अरथ लोभ नहिं नाँचौं।
या पाखान - सरसि हियरे पै नाम तुम्हारोई खाँचौं॥
बिस्फुलिंग से जगदुख तजि तव बिरह-अगिन तन ताँचौं
'हरीचंद' इक रस तुमसों मिलि अति अनंद मन माँचौं

— — —

"बैस सिरानी रोअत रोअत।
सपनेहुँ चौंकि तनिक नहिं जागै बीती सब ही सोअत॥
गई कमाई दूर सबै छुन रहे गाँठ को खोअत।
औरहु कजरी तन लपटानी मन जानी हम धोअत॥
स्वाद मिलौ न मजूरी को सिर टूट्यौ बोझा ढोअत।
'हरीचंद' नहिं भरथौ पेट पै हाथ जरे दोउ पोअत॥"

तुलसी की सी व्यापकता और सहिष्णुता की परम्परा में एक उदाहरण देखिए—

"खण्डन जग में काको कीजै।
सब मत तो अपने ही हैं, इनको कहा उत्तर दीजै॥"

— — —

मीरा और कबीर की भाँति भारतेन्दु ने भी भगवान को प्रियतम रूप में देखा है—

"मंगल भयो चोर मुख निरखत।
मिटे सकल निसि दाग॥
'हरीचन्द' आओ गर लागो।
साँचो करो सोहाग॥"

भारतेन्दु के भक्ति-काव्य का तीसरा रूप कबीर की परम्परा में है। वे भी कबीर की भाँति पाखण्ड और ढोंग का पूरी अक्खड़ता से खण्डन करते हैं। वस्तुतः भारतेन्दु साहित्य अनेक रूपों में कबीर की कविता के जन-रूप एवं सामाजिक चेतना की व्यंग-शैली से प्रभावित हुआ है—

"जौ पै झगरेन में हरि होते।
तो फिर श्रम करिके उनके मिलिबे हित सब क्यों रोते॥"

— — —

"नाहीं ईश्वरता अटकी वेद में।
तुम तो अगम अनादि अगोचर सो कैसे मतभेद में॥"

— — —

"साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जाएँगे यह दिन चार बसेरा है
आठ बेर नौबत बज-बजकर तुमको याद दिलाती है।
जाग जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है॥"

— — —

"धरम सब अटक्यौ याही बीच।
अपनी आप प्रशंशा करनी, दूजेन कहनो नीच॥
यहै बात सबने सीखी है, का वैदिक का जैन॥"

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु का भक्ति-काव्य भाव और कला दोनों ही पक्षों में कबीर, तुलसी और सूर आदि कवियों की परम्परा में ही है, और उनसे पूर्णतः प्रभावित है। इस काव्य में न तो भाव की और न कला की ही विशेष मौलिकता है।

शृङ्गारिकता और रसिकता कृष्ण काव्य के प्रमुख अङ्ग से बन गए हैं। सूर काव्य भी इससे अछूता नहीं बचा है। एक प्रकार से यदि कृष्ण को शृङ्गार और रसिकता का देवता कहा जाय, तो कोई असंगत बात न होगी। कृष्णभक्ति काव्य में शृङ्गार वर्णन की परम्परा आरम्भ से ही रही है और राधा-कृष्ण शृङ्गार भावना और सौन्दर्य के नायक-नायिका रहे हैं और उसी रूप में उनके सौन्दर्य, लीलाओं और चरित्र का वर्णन हुआ है। राधा-कृष्ण का प्रेम स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध की सामन्ती मान्यताओं का प्रतीक रूप है। किन्तु इस स्थापना की विवेचना यहाँ विषयान्तर होगा। अस्तु—कृष्ण काव्य में शृङ्गार भावना ने इतनी गहरी पैठ की कि राधा-कृष्ण को नायक-

नायिका के रूप में चित्रित कर आकर्षण, आलिङ्गन, परिरम्भन, रति, विपरीत रति कुछ भी कृष्ण काव्य के क्षेत्र से वर्जित न रहा और विद्यापति से लेकर आधुनिक काल तक के कृष्ण भक्त कवियों ने किसी न किसी रूप में रति-भावना का वर्णन किया है। केवल अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' इसका अपवाद है। राधा-कृष्ण-प्रेम तो उसका भी मूल विषय है, पर राधा और कृष्ण का परम्परागत चरित्र प्रियप्रवास में बिल्कुल ही परिवर्तित हो गया है। राधा-कृष्ण के प्रेम को एक सामाजिक आधार प्राप्त हो गया है। अन्यथा सूर के काव्य में तो भक्ति और शृङ्गार एवं रसिकता के बीच सन्तुलन रहा है किन्तु विद्यापति में वह संतुलन न था और न तो बाद के रीतिकालीन कवियों में ही वह सन्तुलन रह सका। भारतेन्दु में भी हम शृङ्गारिकता और रसिकता का ही पलड़ा भारी पाते हैं। हम ऊपर कह आए हैं कि भारतेन्दु स्वयं रसिक और प्रेमी जीव थे, दूसरे उनके पृष्ठ पर कृष्ण-काव्य की रसिकता की समस्त परम्परा थी। अस्तु उनके काव्य में शृङ्गारी रसिकता और भी मुखरित हो उठी है। इसके मूल में उनकी रसिक प्रकृति के साथ-साथ राधा-कृष्ण की गलबाहीं डाले हुए युगल मूर्ति की उपासना-पद्धति भी थी। उनकी रसिक शृङ्गारी कविताओं पर रीतिकालीन बिहारी, देव, घनानन्द, पद्माकर और ठाकुर आदि का प्रभाव स्पष्ट रूप से था। इस परंपरा पर चलते हुए भारतेन्दु ने सभी प्रकार की नायिकाओं—शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, अभिसारिका, मुग्धा, प्रौढ़ा, वासक सज्जा, खंडिता, विरहोत्कंठिता आदि नायिकाओं का वर्णन किया है।

खंडिता नायिका का एक चित्र —

"श्याम पियारे काज हमारे,
भोरहिं क्यों पगु धारे।
बिन मोदक ही आज कहाँ,
क्यों घूमत नैन तुम्हारे ?"

कृष्णाभिसारिका का एक चित्र—

"दामिन बैर करे बिनु बात,
विघन बनत बिनु बात कुंज में जब कबहूँ चमकात।
निधरक जगुल रहन नहिं पावत प्रगटावत रस बात,
'हरीचंद' आखिर तो चपला सहि नहिं सकत सिहात

शुक्लाभिसारिका का चित्र—

"दीपन उलटी करी सहाय,
चली गई पिय पास प्रगट मग,
काहू न परी लखाय ।।"

विरहोत्कंठिता नायिका के तो अनेक चित्र हैं। पीछे हम विरह के प्रकरण में उनका उदाहरण दे आए है—

"छुरी सी, छकी सी, जड़ भई सी, जकी सी घर,
हारी सी, बिकी सी सो तौ सब ही धरी रहे।"

इसी परम्परा में उन्होंने व्यसन्धि, ऋतु वर्णन, दूती, मानमनौव्वल, संयोग-वियोग, नखशिख आदि का विस्तार से वर्णन किया है। उनके यह सारे वर्णन माधुरी रस से भीगे हुए हैं। कृष्ण-कवि नायिका के नग्न सौन्दर्य के भी पुजारी रहे हैं। विद्यापति में सद्यस्नाता के अनेक चित्र हैं, जिसमें कृष्ण नायिका को स्नान करते समय चोरी से जाकर उसके नग्न सौन्दर्य से नयन-सुख प्राप्त करते हैं। भारतेन्दु भी उस परम्परा में पीछे नहीं रहे।

कृष्ण काव्य में नायक की नायिका के साथ 'बरजोरी' की भी अपनी एक परम्परा है। भारतेन्दु ने वह वर्णन किया है, जो किसी से कम रसिक वर्णन नहीं है—

'कुंजन में मोहि पकरी री।

... ...

ए माई री ढीठ मोहन पिया गरे लागो,
जो जो जिय आई सोई सोई करी री।
मैं निकसी दधि बेचन कारन,
औचकि आइ गही गिरधारन बरजि रही री।
मेरो बरज्यो न मान्यो,
बरजोरी कर बहियाँ धरयौ री।
'हरीचन्द' अति लँगर कन्हाई,
करत फिरत ब्रज में मन भाई।
न जानौ कैसे ऐसे ढीट लँगर के धोखे फन्द परी री।

इस परम्परा में आलिंगन, परिरम्भन और विपरीत रति तक कुछ भी वर्जित न था—

"बिहरत रस भरि लाल बिहारी।

ज्यों ज्यों घन गरजत है।
त्यों त्यों लपट रहत पिय प्यारी।।
होड़ा होड़ी घन दामिन सौं।
केलि करत सुखकारी।
बोलत मोर दामिनी चमकत।
लखि उमँगत रस भारी।।
रहे सिहाई भुजा भुज दीने।
राधा मान दुलारी।
'हरीचन्द' कवि - गन किए।
भाखन कविता दोस निवारी।।"

इसी आशय का एक वर्णन देखिए—

"पिय के अँकोर रच्यो है हिंडोर।
खंभ जाँघे अङ्क पटुली मंद झूलति झकोर
हार झूमर पीत पट झालर लगी चहुँ ओर।
सुक मोर पिक किंकिन बदत तन स्वेद बरसत जोर
तहँ रमकि झूलत प्रान प्यारी उमँगि थोरहिंथोर
'हरीचंद' सखि श्रमहरन बीजन रहत तृन तोर

उपरोक्त उद्धरण में झूले के रूपक से संयोग शृङ्गार का बड़ा ही सचित्र चित्रण हुआ। भारतेन्दु के शृङ्गार वर्णन में चित्रोपमता उसकी विशेषता है सरलता, सरसता और माधुरी उसके गुण हैं। अलंकारों की अस्वाभाविकता से वे मुक्त हैं। इसी प्रकार शृङ्गार वर्णनों में 'प्रथम समागम को बदलो चुकाए लेत' जैसी विपरीत रति की भी कविताएँ हैं। ऐसी सारी कविताएँ राधा-कृष्ण के नाम पर भक्ति की कोटि में प्रतिष्ठित होने का गौरव प्राप्त करती रही हैं, किन्तु यदि इनमें से राधा-कृष्ण का नाम निकाल दिया जाय तो भक्त आलोचक उसे घोर शृङ्गारी और अश्लील वर्णन कहकर हेय और निकृष्ट कह देंगे। राधा-कृष्ण का नाम ही इस प्रकार के वर्णन को पावन बना देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की शृंगारी कविता पर रीतिकालीन (शृङ्गारी) कविता तथा विद्यापति की परम्परा हावी है। इस प्रकार के काव्य में उन्होंने शैली भी वही अपनायी है। हाँ जैसे भक्ति के पदों में कुछ नवीन प्रयोग किए हैं वैसे ही इसमें भी कुछ नवीन प्रयोग किए हैं। उन पर उर्दू का

भी प्रभाव है और कुछ ग्राम राग-रागनियों को कलात्मक रूप भी दिया है। होली, ख्याल, लावनी आदि रागनियों में इन भावों को बड़ी चातुरी से भारतेन्दु ने गूंथा है। किन्तु भारतेन्दु अपने इस वर्ग के काव्य के लिए मौलिक कवि कहाने के अधिकारी नहीं हैं।

इस सत्य में कोई अत्युक्ति नहीं है कि रीतिकाल में कला परिष्कार चरम विकास को प्राप्त हुआ था। भाषा परिमार्जन, छन्दों का कसाव, अलंकारों की छटा, सभी दृष्टि से रीतिकाल के कवियों के दो वर्ग किए जा सकते हैं–एक वे कवि, जो अलङ्कारों, छन्दों, आदि की शास्त्रीय कसौटियों पर विशेष बल देते थे और दूसरा वह वर्ग, जो कला के सहज रूप को बनाए हुए थे। यद्यपि अलङ्कारों और छन्दों का विशेष आग्रह दोनों ही वर्गों में था, पर दूसरे वर्ग के कवियों के हाथों उसका सहज और स्वाभाविक गठन हुआ था। वस्तुतः उन्हीं के हाथों कला का रूप-निखार भी अधिक हुआ। पहले वर्ग के कवियों के हाथों कला बंध कर सिमिट सी गई और उसका सहज विकास अवरुद्ध हो गया। पहले वर्ग के आचार्य केशवदास कहे जा सकते हैं और दूसरे वर्ग के आचार्य बिहारी। रीतिकाल के ह्रास के समय कला का विकास अवरुद्ध हो गया था और उस पर शास्त्रीयता अधिक हावी हो गई थी। परिणामतः कविता में चमत्कार का स्थान विशेष हो गया। वैसे तो चमत्कार रीतिकाल की समस्त कविताओं का विशेष गुण था, पर उसमें भी एक कलात्मकता थी। अन्तिम दिनों का चमत्कार कलात्मक बिल्कुल भी न रहा था और वह केवल बौद्धिक कलाबाजी मात्र रह गया था। बिहारी के चमत्कार में हृदय का लगाव था, पर ह्रास कालीन कविता के चमत्कार में हृदय का लगाव न रहा और विकृत हो गया था। फलतः कविता में समस्या पूर्ति, चित्रकाव्य आदि जैसी कला-विहीन परिपाटियों का चलन होगया। उनमें बुद्धि कौशल तो अवश्य था किन्तु भाव का नितान्त अभाव था। भारतेन्दु कालीन कवियों पर उस परम्परा का प्रभाव अत्यधिक था और स्वयं भारतेन्दु पर भी उसका पर्याप्त प्रभाव था। पर भारतेन्दु की ऐसी चमत्कारी कविताओं और कलापूर्ण कविताओं में भेद बड़ा ही स्पष्ट है। उनकी अन्य कविताओं में जैसा हम पीछे देख आये हैं अनुपम सुघड़ता, सहजता और हृदय हारिता है और चमत्कारी कविताएं केवल गोष्ठियों में लोगों को चमत्कृत करने के लिए ही लिखी गई हैं। नीचे हम उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

श्री जीवन जी महाराज के गुणों का बखान करते हुए एक अन्तर्लापिका लिखी है, जिसमें १६ प्रश्नों का उत्तर चार ही अक्षर से निकलता है।'१

चतुरंग नाम की एक कविता है जिसे 'कंठ कर लेने से चतुर मनुष्य सभा में चौसठों घर पर घोड़ा दौड़ा सकता है।२

मनोमुकुल माला३ का एक उदाहरण देखिए—

"G वहु E स अ C स बल हरहु प्रजन की P र।३
सरU जमना गंग में जब लौं थिर जग नीर ॥
J K बल तुम दास हैं नासहु तिनकी R।
बढ़ै स Y तेज नित T को अचल लिलार॥

यह 'वाक्य पुष्पाहार' रानी विक्टोरिया की प्रशस्ति में लिखा गया था।

इसमें उर्दू के लफ्जों का भी इसी तरह प्रयोग हुआ है, जैसे अंग्रेजी के अक्षरों का प्रयोग हुआ है। उन्हीं के लिए लिखी गई एक अंकमयी स्तुति देखिए—

"करि वि ४ देख्यौ बहुत जग बिनु रस न १।
तुम बिनु हे विक्टोरिये नित ६०० पथ टेक॥

१—'भारतेन्दु ग्रंथावली' दूसरा खंड पृ० ६३४
२—वही पृ० ६३५
३— जीवहु ईस असीस बल हरहु प्रजन की पीर।
सरयू जमुना गंग में जब लौं थिर जग नीर॥
जे केवल तुम दास हैं नासहु तिनकी आर।
बढ़ै सवाई तेज नित टीको अचल लिलार॥
भारत के एकत्र सब वीर सदा बल-पीन।
बीसहु बिस्वा ते रहै तुमरे नितहि अधीन॥
चेरे से हेरे सबै तेरे बिना कलाम।
गलै दाल नहिं सत्रु की तुव सनमुख गुनधाम॥
अमीमई कीरति छुई रहै अजी महाराज।
बेर बेर बरनत सबै ये कवि यातें आज॥
थापे थिर करि राज-गन अपने अपने ठौर।
तासों तुलसी नहिं भई महरानी जग और॥

ह ३ तुम पर सैन लै ८० कहत करि १०० ह।
पै बिनु ७ प्रताप-बल सधु मरोरे भोहँ ॥"१

इनके अतिरिक्त 'मूक प्रश्न' तथा 'मान लीला फूल बुझौअल' भी बड़े ही सुन्दर और मनोरंजक खेल हैं, जिनमें भारतेन्दु की बुद्धि चातुरी का परिचय मिलता है। समस्यापूर्तियों के तो अनेक उदाहरण हैं और उस समय सभी कवि समस्यापूर्ति करते थे।

भारतेन्दु-काव्य की चौथी धारा देश भक्ति की धारा है। इस धारा का प्रेरणा स्रोत तत्कालीन परिस्थितियों का तकाजा, बंगला साहित्य, अंग्रेजी साहित्य एवं देश में चल रहा जन जागरण का संघर्ष था। इसकी कोई प्राचीन परम्परा नहीं थी, केवल कुछ अर्थों में कबीर-काव्य को इसके प्राचीन प्रेरणा स्रोतों माना जा सकता है। यह धारा विषय तथा कला दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा नवीन थी और जिस प्रकार भारतेन्दु हिन्दी नाट्यकला के उन्नायक कलाकार थे, वैसे ही काव्य की इस नवीन धारा के भी प्रवर्तक थे। देश हित, समाज सुधार, मातृभाषा की उन्नति, गरीबी, मतमतान्तरों के पाखंड, अन्ध-विश्वासजन्य जीवन-विकृतियाँ आदि विषय काव्यालम्बन बन गए और देश प्रेम का स्वर काव्य सरगम में सबसे तेज सुनाई पड़ने लगा। हास्य रस और व्यंग के पुराने आलम्बनो के स्थान पर पुरानी लकीर के फकीर, नये फ़ैशन के गुलाम, रिश्वती अमले, शोषक वर्ग, ढोंगी, पाखण्डी, नाम या दाम के भूँखे देश भक्त आदि होगए। वीर रस के आलम्बन भी देश के लिए बलि जाने वाले वीर होने लगे। इस विषयगत परिवर्तन के साथ कला गत परिवर्तन भी हुआ और कला ने जनोन्मुखी स्वरूप अपनाया। उपरोक्त विषयों पर छोटे छोटे गीत, सरल, जन साधारण के लिए बोधगम्य भाषा और जनसाधारण में प्रचलित छन्दों में लिखे जाने लगे। ग्राम गीतों और रागरागनियों को काव्य में स्थान देने की रुचि बढ़ चली। कला का जनरूप संवरने लगा। विषय और कला को जनोन्मुखी रूप प्रदान करने का नेतृत्व भारतेन्दु ने किया था। उनके नाटकों में प्रयुक्त गीत, नए जमाने की

१— करि विचारि देख्यौ बहुत जग बिनु दोस न एक।
तुम बिनु हे विक्टोरिये नित नव सौ पथ टेक॥
हतीन तुम पर सैन लै असी कहत करि सौंह।
पै बिनसात प्रताप बल सत्रु मरोरे भौंह॥

मुकरियाँ, बकरी विलाप, भारत शिक्षा, हिन्दी-भाषा की उन्नति पर पद्य बद्ध व्याख्यान, भारत वीरत्व, विजयनी-विजय वैजन्ती आदि आदि कविताएँ इसके उदाहरण है। देश प्रेम की भावना तथा समाज को नयी चेतना प्रदान करने के विचार तो फुटकर रूप से अनेक कविताओं में बिखरे पड़े हैं। किन्तु यह सब उनके कृष्ण-काव्य की तुलना में बहुत कम है। यह कहना गलत न होगा कि भारतेन्दु अपने नाटकों में विषयगत तथा शिल्पगत जो नवीनता और चेतना दे सके वह कविता में नहीं दे सके। कविता में उन पर कृष्ण काव्य की परम्परा ही अधिक हावी रही प्रतीत होती है। फिर भी नवीन चेतना का जो काव्य उन्होंने रचा, वह उस काल नवीन काव्य धारा के नेतृत्व में निर्णायक और महत्वपूर्ण स्थान रखता है, इसमें सन्देह नहीं। उनके समकालीन कवि प्रतापनारायण मिश्र आदि नवीन चेतना की कविता के सृजन में अधिक सजग प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार हम भारतेन्दु के काव्य में प्राचीन और नवीन-भाव तथा कला का अपूर्व संगम पाते हैं। प्राचीन परम्परा पर चलते हुए भी उन्होंने काव्य में विषय गत, कलागत, छन्दो, भाषा, अलंकारों आदि में नवीन सामयिक आवश्यकताजन्य परिवर्तन कर काव्य को एक नयी मोड़ दी। उन्होंने कविता में प्रयुक्त होने वाले प्राचीन, पर जनता के लिए अपरिचित हो चले शब्दों का परित्याग कर जन परिचित शब्दों को ग्रहण किया, ब्रज भाषा के साथ साथ अन्य भाषाओं और बोलियों में भी काव्य-रचना करने पर जोर दिया और स्वयं खड़ी बोली, तथा पूर्वी बोली और अन्य भाषाओं—बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू, संस्कृत आदि में काव्य रचना की। शुद्ध हिन्दी को पर क्लिष्ट और बोझिल हिन्दी को नहीं; वरन् मुहाविरेदार, सरल शुद्ध हिन्दी को काव्य की भाषा बनाया। वैसे उन्होंने संस्कृत गर्भित और सरल हिन्दी दोनों में ही कविताएं की हैं। उर्दू के प्रचलित शब्दों को भी अपनाया है। आवश्यक प्रसंगों के साथ हम अन्यत्र ब्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू की कविता के उदाहरण दे आए हैं। प्राचीन काव्य-प्रयुक्त छन्दों के साथ साथ नये छन्दों—फ़ारसी, उर्दू—हिन्दी मिश्रित और ग्रामीण छन्दों आदि के उन्होंने प्रयोग किए है। जहाँ एक ओर उनके काव्य में भक्ति-भाव से प्लावित प्राचीन भाषा शैली का रूप है, वहाँ नवीन देश प्रेम से ओतप्रोत नवीन भाषा-शैली का भी रुप-संवार हुआ है। यही कारण है कि उनके गीत उनके जीवन काल में ही साधारण जनता के कंठहार बन गए थे। एक साथ ही उन्होंने जनता के

विभिन्न स्तरों, वर्गों तथा समाजों में गाए जाने वाले गीत प्रदान किए; भक्ति रस से ओतप्रोत भक्तों द्वारा गाए जाने वाले गीत, दरबारों में गाए जाने वाले गीत, वैश्याओं द्वारा गाए जाने योग्य गीत, रसिक समाज में गाए जाने योग्य गीत, काव्य कला में पारंगत समाज में गाए जाने योग्य गीत, और अपढ़ जनता द्वारा गाए जाने योग्य गीत उन्होंने लिखे हैं। विभिन्न पर्वों—दिवाली होली, दशहरा, सावन, झूला; बसन्त, कार्तिक स्नान, बैशाख महात्म्य आदि पर गाए जाने योग्य गीत भी उन्होंने लिखे हैं। धार्मिक पूजादि में प्रयुक्त होने वाले गीतों का भी उन्होंने सृजन किया था। उन्होंने अपनी कविता से जनजीवन के हर क्षेत्र को रसमय किया था। उन्होंने भक्ति से लेकर काम क्रीड़ा तक की मानव भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की, थी, जिससे मनुष्य की धर्मगत, समाजगत, देशगत, वासनागत कोई भी भावना अछूती नहीं बची। भारतेन्दु भावनाओं के विविध क्षेत्र के कवि थे।

किन्तु कविता में उन्होंने जितना नये विषयों की प्रतिष्ठा की और उसके क्षेत्र को व्यापकत्व प्रदान किया, उतना वे कला परिष्कार नहीं कर सके। उनमें काव्यकौशल तो था पर सम्भवतः कला निखार करने का उनके पास समय नहीं था, या कहा जाय, प्रतिभा नहीं थी। पर यह कहना तो गलत होगा कि उनमें कला-चातुरी नहीं थी। उनकी कुछ कविताएं तो अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की हैं। उनके शब्द चयन और गठन में प्रवाह है; पदावली में कोमलता, मधुरता, सहजता और सरलता है। किन्तु यह गुण उनकी भक्ति परक शृंगार की कविताओं में ही देखने को मिलता है। नवीनधारा की कविताओं में इसका अभाव है।

यहां उनके काव्य में रस, अलंकार और संगीतात्मकता पर विचार करना भी आवश्यक है।

'अथ कथमेत एवं रसा' कह कर पण्डित राज जगन्नाथ ने केवल नौ रस ही होने की बात कही है। किन्तु भारतेन्दु उनसे सहमत नहीं प्रतीत होते। रस के सम्बन्ध में उनका अपना स्वतन्त्र मत था और इतना सबल मत था कि पं० ताराचरण तर्करत्न ने काशीराज की आज्ञा से विनिर्मित अपने संस्कृत के 'शृङ्गार रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है—

"हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्य सख्य भक्त्यानन्दाख्यामधिकं रसचतुष्टयं मन्वते। उक्त ग्रन्थ के प्रकाशित होते समय भारतेन्दु की अवस्था बारह वर्ष की थी।"१

१—'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' बा० ब्रजरत्नदास पृ० २७३

भारतेन्दु ने अपने 'नाटक लेख में चौदह रस गिनाए हैं—"शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शान्त भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, और प्रमोद वा आनन्द।···वीर रस चार प्रकार का। यथा दानवीर सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योग वीर।"१

उनके काव्य में प्रायः सभी रसों का निर्वाह हुआ है। किन्तु जैसा हम पहले कह आए हैं कि शृंगार रस के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का जैसा सुन्दर और विशद् वर्णन हुआ है अन्य रसों का नहीं हो पाया है। उनकी शृंगाररस की कविताओं के विभिन्न पक्षों के अनेक उदाहरण हम पीछे विभिन्न प्रसंगों के साथ दे आए हैं।

भारतेन्दु के काव्य में अलङ्कार भार नहीं हैं, वे कविता के सहज सौन्दर्य-वर्धक हैं। अलङ्कार काव्य का सहज गुण हैं। मध्यकाल के कवियों की कविता में अलङ्कार कविता के सहज अङ्ग थे; किन्तु रीतिकाल में अलङ्कारों का कविताओं में प्रयोग अलङ्कारों के प्रदर्शन के लिए होने लगा था। कला में जब गहन भावों की अभिव्यक्ति होती है, तो अलङ्कार उसके सहायक का काम करते हैं और जब भाव गौण हो जाते हैं तो अलङ्कार अपने थोथे रूप में रह जाते हैं और चमत्कार की वस्तु रह जाते हैं और भार बन जाते हैं।

मध्य युग के कवियों के पास जीवन के प्रति एक सन्देश था और कविता उसका साधन थी। रीतिकाल के कवियों के पास जीवन के प्रति कोई सन्देश न था। अस्तु कविता प्राण विहीन वाह्य सौन्दर्य मात्र रह गई थी। यह परम्परा भारतेन्दु के समय तक चली आ रही थी। पर भारतेन्दु का काव्य इस दोष से मुक्त है। उसमें अलंकारों का प्रयोग केवल प्रयोग के लिए नहीं हुआ है, वरन् भावों की अभिव्यक्ति को सहज करने के साधन के रूप में हुआ है। भारतेन्दु इससे मुक्त क्यों हो सके? क्योंकि उनके पास एक सन्देश था और सन्देश की अभिव्यक्ति के लिए कविता और उसके कला-रूप साधन थे। पर पूरी तरह से भारतेन्दु इस दोष से मुक्त होगए थे, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कहीं कहीं अलंकार भार भी बन गए हैं। पर अधिकाँश में अलंकार भाव व्यंजना के सुन्दर साधन के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं।

उनकी कविता में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही प्रयुक्त हुए हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक, श्लेष, व्यतिरेक आदि उनके प्रिय अलंकार हैं।

१—'भारतेन्दु ग्रन्थावली' पहला भाग—पृ० ७३६

उपमाओं के द्वारा नायिका के नख-शिख सौन्दर्य का कैसा सजीव चित्र उपस्थित हुआ है—

"नागरी रूप-लता सी सोहै।
कमल सो बदन पल्लव से कर पद देखत ही मन मोहै ॥
अतसी कुसुम सी बनी नासिका जलज-पत्र से नयन।
बिम्ब से अधर कुन्द दन्तावलि मदन-बान सी सयन ॥
गाल गुलाब कान झुमका मनु करनफूल के फूल।
बेनी मानों फूल की माला लखि कै मन रह्यौ भूल ॥
बाहु सुढार मृनाल नाल सम फुल सरिस सब अङ्ग।
फूलन ओट लगे हैं द्वै फल बाढ़त देखि अनंग ॥
जानु बनी रम्भा की खम्भा सोभा होत अपार।
गूलरि फूल-सरिस कटि राजत कवि जन लेहु विचार ॥
नारंगी सी एँड़ी राजत पद-तन मनहुँ प्रवाल।
और आभरन विविध फूल बहु कर पहुँची उरमाल ॥
चम्पे सी देह दमक दवना सी चमक चमेली रंग।
मालति महक लपट अति आवत कोमल सब अँग अँग ॥
रसिक सिरोमनि नन्दलाल सोई भँवर भये हैं आइ।
देखि देखि छबि राधा जू की 'हरिचन्द' बलि जाई ॥"

नीचे के उद्धरण में उत्प्रेक्षा और श्लेष से पुष्ट साँगरूपक के द्वारा विरहिणी नायिका का कैसा सजीव चित्र उपस्थित हुआ है—

"पीरो तन परयौ फूली सरसों सरस सोई,
मन मुरझान्यौ पतझर मनो लाई है।
सीरी स्वास त्रिविध समीर सो बहत सदा,
अखियाँ बरसि मधुझरि सी लगाई है ॥
'हरीचन्द' फूले मन मैन के मसूसन सों,
ताही सों रसाल बढ़ि कै बौराई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कन्त कै हेमन्त अन्त,
तेरी प्रेम-जोगिनी बसन्त बनि आई है ॥"

उत्प्रेक्षा और उपमा पुष्ट व्यतिरेक का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

"साँचहि दीप सिखा सी प्यारी।
धूम केश तन जगमगाति द्युति दीपित भई दिवारी ॥

स्वयं प्रकाश अकुण्ठ सुहाई असार छबि छाई।
सदा एक रस नित्य अधिक यह वासों चाल लखाई॥
भरत सुगंधन व्रज कुंजन मग शीतल तन कर बारी।
प्रीतम तन को विरह मिटावत 'हरीचन्द' दुख जारी॥"

उपमा और मीलित अलंकार से पुष्ट राधा के सौन्दर्य का कैसा सचित्र वर्णन हुआ है—

"दीपन उलटी करी सहाय।
चली गई पिय पास प्रगट मग काहून परी लखाय॥
अंधियारी मैं तो भय भारी मुख ससि नहिं दुराय।
इत प्रकाश में मिलि अलबेली एक भई चमकाय॥
जगमगे बसन कनक-मनि-भूषन एक भए सब आय।
'हरीचन्द' मिलि कै वियोग में दीनों तुरत नसाय॥"

व्यतिरेक पुष्ट तुलना अलंकार से राधा के अतुलनीय सौन्दर्य का निम्न पंक्तियों में कवि ने अत्यन्त ही सजीव चित्र उपस्थित किया है—

"कविन सों साँचेहि चूक परी!
दीप शिखा की उपमा जिन तुलि प्यारी हेतु धरी।
वह दाहत यह अङ्ग जुड़ावति वह चंचल थिर येह।
वह निज प्रेमिन परम दुखद यह सदा सुखद पियदेह।
वा में धूम स्वच्छ अति ही यह रैन दिन इक रास।
वह परिछिन्न बात-बस यह निज-बस सर्वत्र प्रकास।
वह स्नेह आधीन और यह है सदेह भरपूर।
'हरीचन्द' दीपक प्यारी की नहिं कोउ सम तूर।

अनुप्रासों के द्वारा कवि ने घटा टोप छाए बादलों का और पानी बरसने का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। शब्दध्वनि का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है।

"घूम घूम आए बरसत घूम घूम पिय,
प्यारी रङ्ग भौन भोजन रस भीने।
फुह फुह फुह बूँद परैं छज्जन सों नीर झरै
बातन रङ्ग-भरे दोऊ अरस-परस कीने॥

श्लेष का एक उदाहरण देखिए—

"कुंभ-कुच परस दृग-मीन को दरस तजि,
तुच्छ सुख मिथुन को हिय विचारै।

छल मकर छाँड़ि सब तानि बैराग-धुनि,
सिंह ह्वै जगत के जाल जारै ॥"

भारतेन्दु की कविता में विरह वर्णन प्रचुर है, पर उसमें ऊहात्मकता अधिक नहीं आने पाई है। एक ही दो उसके उदाहरण काफ़ी हैं—

"गोपिन की बात कौं बखानौं कहा नन्दलाल;
तेरो रूप रोम रोम जिनके समाय गो।
× × ×
× × ×
आँसुन को प्रलय-पयोधि बूड़ि जैहै जबै,
डुबि डुबि सब ब्रहमंडहू बिलाय गो।
पौड़त फिरौगे आप नीर बिच होय जब,
बिरह उसासन तें बट जरि जाय गो॥"

अमूर्त से मूर्त की उपमा भी भारतेन्दु के काव्य में मिलती है—

"लोल लहर लहर लहि पवन इक पै इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

शब्द मैत्री और अलंकारों के द्वारा भाव-चित्र उपस्थित कर देने में भी भारतेन्दु पटु थे। चित्रात्मकता इनकी कविता का एक विशेष गुण था। भाव चित्र तथा वातावरण के चित्र दोनों ही उनके काव्य में मिलते हैं। नीचे के उदाहरण में दोनों का ही सुन्दर संयोग हुआ है—

"जमुना जल बढ़ी दीप छबि भारी।
प्रतिबिम्बित प्रतिबिब लहरि प्रति तहं राजत पिय प्यारो॥
तैसेहि नभतर तारावलि तरल वायु गुन होई।
तैसेहि उठत गगन गुब्बारे छूटत दारुगत जोई।
अवनि नीर आकास प्रकाशित दीपहि दीप लखाई।
मनु ब्रज मण्डल ज्योति रूपता अपनी प्रगट दिखाई॥
'हरीचन्द' राधे मन मोहन रहे त्यौहार मनाई॥"

भारतेन्दु के अलंकार प्रयोगों की एक विशेषता है, जो इन्हें रीतिकालीन परिपाटी के कवियों से प्रथक प्रतिष्ठित करती है और वह यह कि अलंकार काव्य के सहज-गुणवर्धक, भावाभिव्यक्ति के साधन और काव्यकला के निखार के रूप में ही अधिकाशतः प्रयुक्त हुए हैं।

छन्दों के विषय में हम पीछे कह आए हैं कि उन्होंने न केवल हिन्दी के परम्परागत छन्दों का प्रयोग किया, वरन् संस्कृत, उर्दू, फारसी. बंगला आदि आदि भाषाओं के छन्दों का भी उसी कौशल से प्रयोग किया है, जिस कौशल से हिन्दी के छन्दों का। इतनी विविध भाषाओं के छन्दों का एक साथ प्रयोग करने वाला कवि भारतेन्दु के अतिरिक्त दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने हिन्दी के प्रचलित छन्दों में दोहा, चौपाई, छप्पय, रोला, त्रोटक, सवैया, कुण्डलियाँ आदि छन्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित, शालिनी, वसन्ततिलिका आदि छन्दों का प्रयोग भी किया है। इनके अतिरिक्त जनता में प्रचलित छन्दों को अपना कर भारतेन्दु ने कविता को जनता तक पहुँचाया; साथ ही उन छन्दों को कलात्मक रूप प्रदान कर, उन्हें काव्य-भंडार का एक अङ्ग बना दिया। लावनी, कजली, ख्याल, विहाग, मलार, चैती, विरहा आदि ग्रामीण छन्दों को उन्होंने कलात्मकता प्रदान की है।

संगीतात्मकता भी भारतेन्दु के काव्य का एक विशेष गुण है। उनकी सारी कविता प्रायः गेय है। संगीत को जनोन्मुखी बनाने की उनकी प्रवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित होती है। उन्होंने प्रचलित शास्त्रीय रागनियों के साथ ग्राम-राग-रागनियों को अपनाने पर विशेष जोर दिया था। उन्हें संगीत का कितना ज्ञान था, यह इसी बात से स्पष्ट है कि उन्होंने अनगिनित राग-रागनियों का प्रयोग किया है। जिनमें से कुछ हैं—सारंग, केदारा, चौताला, विहागरा, ठुमरी, रामकली, सोरठा, देस, देव, आसावरी, परज, भैरवी, अहीरी, गौरीताल चर्चरी, सारंग चर्चरी, हमीर, ईमन, चौखड़ा, मलार, चौताला, हिंडोला, खेमटा, काफी झिंझोटी, दादरा, होली खेमटा, खेमटा साँझी का, टुमरी सहाना, पीलू, ठुमरी सोरठा, कलिंगड़ा, पूरवी, सिंदूरा, ख्याल, ईमनकल्यान, लावनी, रेखता, गरबो, मालव, बसन्त, मालकोस, झपताला, सहाना, इकताला, धमार, भीम पलासी, जोगिया, मधुमात, सारंग वा गौरी, बिलावल, टोडी, कजरी, गजल, ध्रुपद आदि आदि।

अस्तु भारतेन्दु की काव्यकला के विशेष गुण हैं।·अलङ्कारों का स्वाभाविक प्रयोग, चित्रोपमता, संगीतात्मकता, जनोन्मुखी-कला-प्रयोग, सरसता, मधुरिमा शब्द मैत्री, ध्वन्यात्मकता आदि।

——::०::——

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों के नाम

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १	बाबू ब्रजरत्नदास
२— ,, ,, ,, २	,,
३—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	,,
४—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
५—भारतेन्दु के विचार	,,
६—भारतेन्द युग	डा० रामविलास शर्मा
७—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डा० रामविलास शर्मा
८—भारतेन्दु नाटिकावली की भूमिका	डा० श्यामसुन्दरदास
९—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (अध्ययन)	डा० रामरतन भटनागर
१०—भारतेन्दु के निबन्ध	डा० केसरीनारायण शुक्ल
११—भारतेन्दु की नाट्यकला	श्री प्रेमनारायण शुक्ल
१२—भारतेन्दुयुगीन निबन्ध साहित्य	श्री शिवनाथ एम० ए०

१३—भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास तथा भारतवर्ष का इतिहास एवं भारतेन्दु तथा भारतेन्दु युग पर प्रकाशित अन्य अनेक फुटकर लेख।

—।*।*।—